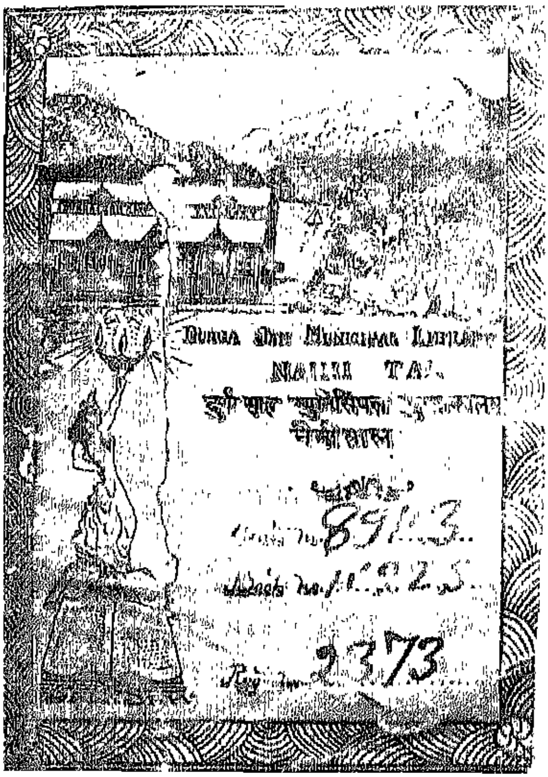


"वह सुख-शान्ति की गोद में जन्मी थी, संसार की निर्दयता उसे अभाव के गर्त में ले गई! सच्चा मानव उसे धूल से उठाकर लाया। वह भी संसार की हृदय-हीन निर्दयता से समझौता न कर सका, धन को ठुकरा कर संघर्ष का जीवन बिताने लगा। वह सहारा भी एक पुत्र उसकी गोद में छोड़कर चल बसा। माँ बन कर फिर उसने संसार से समझौता करना चाहा—पर कर न सकी। फिर अभावों को गले लगाया—पुत्र को मानव बनाने का संकल्प किया और इस संकल्प में पुत्र की भी बलि दी।

कंचनलता जी ने एक ऐसी मानव-मूर्ति इस उपन्यास में दी है जो अप्रतिम है।

हरिकृष्ण 'प्रेमी'

संकल्प

(राजनीतिक और सामाजिक उपन्यास)

—लेखिका—

कुमारी कंचनलता सब्बरवाल

प्रकाशक

अर्चना-मंदिर, लाहौर

प्रकाशक:—
हरिकृष्ण "प्रेमी"
अर्चना-मन्दिर
१० अस्पताल रोड, लाहौर ।

मुद्रक:—
ला० खुशहालचन्द 'आनन्द'
वीर मिलाप प्रेस, लाहौर ।

समर्पण

उन्हें जो हृदय में पैठ कर हँसाते भी हैं
और रुलाते भी—देते हैं क्रान्ति की
ज्वाला भी और शान्ति की
शीतलता भी—और फिर
भी जो सत्यं, शिवं,
सुन्दरम् हैं ।

प्रकाशक की ओर से

कंचनलताजी का तीसरा उपन्यास 'संकल्प' पाठकों को सौंपते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। यह उपन्यास केवल 'मनोरंजन देने वाला नहीं है—बल्कि भारतीय समाज की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति का चित्र खींचने वाला है। चित्र खींचने का कुशल लेखिका का अपना दृष्टि-कोण है—उससे सभी पाठक सहमत होंगे यह मैं नहीं कहता। मैं सिर्फ इतना कह सकता हूँ कि लेखिका ने जो लिखा है पूरी ईमानदारी से लिखा है।

एक युग था जब ललित साहित्य का उद्देश्य केवल 'मनोरंजन' करना था किंतु आज तो विचार-प्रधान साहित्य ही अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। घटनाओं के वैचित्र्य में पाठकों को उलझा लेना बहुत कठिन नहीं है—लेकिन उपन्यासों और कहानियों द्वारा गंभीर समस्याओं पर विचार देना वास्तव में अत्यन्त कुशल कलाकारों का कार्य है। मुझे यह कहते संकोच नहीं होता कि विचार-प्रधान उपन्यासों में 'संकल्प' का आदरणीय स्थान होगा।

आज के भारत को—भारत को ही क्या—संपूर्ण संसार को—

पाश्चात्य संसार का भौतिकवाद वास्तविक शांति देगा या भारतीय आध्यात्मवाद, यह प्रश्न है जिसका सही उत्तर मिलना चाहिये। रोग-का बाहर से इलाज होना चाहिए या भीतर से—यह साधारण सी बात संसार नहीं जान पा रहा—या जान पा रहा है तब भी ठीक रास्ते पर नहीं आ रहा। परिणाम में भयंकर युद्ध—समय समय पर दुष्काल आदि प्राप्त हो रहे हैं। मानव-बुद्धि का प्रयोग शांति का अमर फल प्राप्त करने में नहीं हो रहा बल्कि सर्व-संहारक 'अणु बम' के निर्माण में।

'संकल्प' जैसे उपन्यास समाज को सही दिशा की ओर जाने की प्रेरणा दे सकते हैं। ऐसे साहित्य का सभी को अभिनन्दन करना चाहिए।

हरिकृष्ण 'प्रेमी'

क्या कहूँ ?

हरिकृष्ण प्रेमी जी की आज्ञा हुई है कि मैं भी "संकल्प" के आरम्भ में कुछ दो चार शब्द कहूँ। क्या कहूँ सो जान नहीं पड़ता। "संकल्प" में आदि से अन्त तक पाठकों को दर्द मिलेगा, वेदना मिलेगी, किन्तु मनोरंजन मिलेगा अथवा नहीं सो मुझे ठीक ठीक ज्ञात नहीं। जिन पाठकों को इसमें मनोरंजन न मिल सके उनके निकट मैं क्षमा-प्रार्थी होऊँगी।

विचार-भेद से यदि किन्हीं पाठकों को कहीं कहीं मेरे विचार भले न लगें तो उनसे मेरी यह प्रार्थना होगी कि व्यक्तिगत विचारों की स्वतन्त्रता प्रत्येक व्यक्ति को होनी ही चाहिए और किसी भी दूसरे व्यक्ति में उसके स्वतन्त्र विचार सुन सकने भर की सहिष्णुता भी होनी चाहिए। उनकी इसी उदार सहन-शक्ति के बल पर मैं अपने स्वतन्त्र विचार व्यक्त करने का साहस कर रही हूँ।

मेरा तो सदा से ही यह विश्वास रहा है कि लेखक का कार्य प्रचारक अथवा सुधारक का कार्य नहीं है। सुधारक कार्य करता है दूसरे के लिए, जब कि लेखक करता है केवल अपने,

एक निजी आत्मानन्द के लिये। और मैं तो हिन्दी जगत में हिन्दी प्रेमियों के निकट उपन्यास लेखिका होने का दावा लेकर भी नहीं खड़ी हुई हूँ। मुझे तो जीवन में चलते फिरते जो कुछ मानव-चित्र मिल जाते हैं वही न जाने कब अनजाने में ही कल्पना में पल कर बढ़ते चले जाते हैं। आँखों में वह आँसू नहीं भर देते यह तो कैसे कहूँ, पर मुझे वह अत्यन्त ही प्रिय जान पड़ते हैं। मैं उन्हें सदा-सर्वदा ही हृदय में छिपाये रखना चाहती हूँ, बड़े प्रयत्न से, फिर भी जब वह मेरे छोटे से हृदय में आ सकने योग्य नहीं रहते—अधिक विशाल और घनीभूत हो जाते हैं—तो बरबस ही वह अपना मार्ग लेखनी की नोंक पर बना लेते हैं। कहीं कहीं तो मुझे उन्हें इतना अधिक अपना समझने की आदत पड़ जाती है कि उन्हें कागज़ पर लेखिनी द्वारा उतारते हुए मुझे दुःख सा होता है, ठीक वैसा ही दुःख जैसा कि माँ को अपनी बेटी को सुसराल की ओर बिदा करते हुए होता है। फिर भी जब वह मेरे भीतर रुकना चाहते ही नहीं हैं तो मुझे उन्हें पाठकों को सौंप देना ही पड़ता है। उपदेश देना मुझे नहीं आता और देश की समस्याओं पर विचार करना भी नहीं, फिर भी महात्मा गाँधी के अहिंसात्मक आदर्श और प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति अपूर्व श्रद्धा के कुछ कण यदि कहीं देवेन्द्र, शक्ति आदि के शब्दों में छिटक भी पड़े हों तो भी पाठक यह न समझें कि मैं उन्हें उपदेश देने का प्रयत्न कर रही हूँ। मुझे गौरी का सरल स्नेह, शक्ति की दृढ़ता और उमा की अतुल सहनशीलता बहुत ही प्रिय है। आज दिन भी मेरा पूरा विश्वास है कि मेरी इस प्यारी मातृभूमि में गौरी, शक्ति और उमा का सर्वथा ही अभाव नहीं

है। भगवान के निकट मेरी निशि दिन यही प्रार्थना है कि हमारा भारत ऐसी ही नारियों को युग-युगान्तर तक जन्म देता चला जाये। देश और विदेश के पुरुषों को हर कहीं ऐसी ही देवियाँ दीख पड़ें। "अक्षय" तो "संकल्प" का प्राण ही है। काश कि भारत के अधिकांश नवयुवक "अक्षय" की भाँति ही 'अहिंसा' का वास्तविक महत्व समझ पायें। सुभाष ने प्रतिज्ञा की थी आजादी देने की, यदि भारत का शुद्ध पवित्र रक्त आजादी के मूल्य-स्वरूप भेंट किया जाये। महात्मा जी की भी माँग 'खून' की ही है। भिन्नता केवल यही है कि एक चाहता है उत्तेजनापूर्ण एक बारगी दृढ़ता पूर्वक दान किया हुआ रक्त और दूसरा माँगता है तिलतिल करके, धीरे धीरे अपने अहंकार को नष्ट करके दिया हुआ रक्त-दान। दोनों की ही माँग सुन्दर है और है महत्वपूर्ण। मेरे देश के महा प्राण······देश के नव युवकों की ज्योति सुभाष जहाँ भी कहीं हों······मेरी कल्पना का यह अक्षय उनके चरणों के निकट बैठ कर ही तो महात्मा गाँधी की शिक्षा को पी जाना चाहता है। जिसका व्यक्तित्व हिंसा और अहिंसा दोनों को ही लाँघ कर, पीछे छोड़ कर 'आत्मवत सर्वभूत' के आदर्श में मिल जाता है वही तो सुभाष की भाँति, महात्मा जी की भाँति और मेरे 'अक्षय' की भाँति श्री कृष्ण के शब्दों में कह पाता है—

यस्य नाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकें न हन्ति न निबध्यते॥

यही तो आदर्श है संकल्प के "अक्षय" का, शक्ति के "अक्षय" का।

"मूक प्रश्न" और "भोली भूल" का पाठकों ने आदर किया, इस

के लिये उन्हें धन्यवाद दूँ क्या ? पर नहीं, धन्यवाद देने की इच्छा नहीं होती, एक तो धन्यवाद देकर मैं उनके आदर का मूल्य कम नहीं करना चाहती, दूसरे उनके प्रति अपनी कृतज्ञता भी जीवित रखना चाहती हूँ और तीसरे मन-प्राण से जिसे दूसरों को सौंप ही चुकी हूँ उसे झूठ-मूठ अपना समझ कर यह धन्यवाद का ढोंग क्यों ?

लाहौर—मई ७, १९४६,

—कंचनलता सब्बरवाल

संध्या

गोधूलि-बेला-सन्ध्या के धूमिल अन्धकार में गोरी पुरखिन तुलसी-चौरे पर सन्ध्या-दीप धरकर प्रणाम करके उठीं तो एक नारी-मूर्त्ति उनके तुरन्त के धोये हुए, दूध से श्वेत, महावर-रंजित, बिछुए-शोभित चरणों पर गिर पड़ी। अन्धकार की छाया गाढ़ी होती जारही थी। पुरखिन पहचान तो न सकीं, किन्तु कोमल स्वर से बोलीं—"कौन हो बहिन, बताओ तो सही क्या चाहती हो?" मालकिन के दोनों हाथ घिरे हुए थे। एक में जल का रिक्त लोटा था, जिसके जल से अभी हाल ही में तुलसी को सींच चुकी थीं और दूसरे में थोड़ी सी तुलसी की पत्तियाँ भोग के लिये ले जा रही थीं। मन ही मन वह कुछ झुँझलाईं भी कि न जाने कौन है वैधव्य की अकल्याणी मूर्त्ति। उसकी बिना किनारे की अधमैली साड़ी देखते ही वह समझ गई थीं कि प्रार्थिनी विधवा है। यह कोई उनके लिये नया अनुभव भी न था। आये दिन नगर-मुहल्ले की दीन-दुखी स्त्रियाँ उनकी शरण में आया करती थीं। पुरखिन घबरा उठीं। वह तो छू ही गईं, और न जाने कौन जाति की है, फिर नहाना पड़ेगा—इसी ठंडी माघ की रात में—वह सिहर उठीं। इसी समय उस अकल्याणी विधवा मूर्त्ति ने मुख

उठा कर पुरखिन की ओर देखा। वह दृष्टि समस्त विश्व की करुणा अपने में ही भरे हुए थी। उसके होंठ हिले, पर शब्द न निकले। पुरखिन चौंक पड़ीं, पर धीरे धीरे बोलीं—"छोटी बहू, उठो, उठो। हाय हाय विधाता ने तुम्हारे साथ बड़ा ही अनर्थ किया। और तुमने भी तो बहू हमें बिलकुल ही पराया कर दिया। क्या हमें बीमारी का समाचार भी नहीं देना था, बुलाना भी उचित न था।" पुरखिन की आँखों में खारा जल तो भर आया, किन्तु स्वर अभिमान में गूँज सा उठा।

"दीदी, जो तुम्हारे सब से अधिक अपने थे और जिन्होंने पराया भी छाती पर मन भर का पत्थर रख कर कर दिया था, वह आज विश्व भर में कहीं खोजे भी मिलेंगे नहीं......" वाक्य पूरा न करके असह्य वेदना से वह युवती सुन्दरी हाहाकार कर रो उठी। बड़ी बहू भी रो उठीं। एक दिन, पचीस वर्ष पूर्व इस घर में जब वह वधूवेश में पंद्रह वर्ष की बालिका आई थी, तो एक नन्हीं सी बाल-मूर्ति ने उसका स्वागत किया था। उसी चार वर्ष के सास के पुत्र की, विवाह के चार मास बाद ही, सास की मृत्यु पर, गोद में लेकर वह सब से पहले माँ बनी थी। मृत्यु-शैय्या पर पड़ी हुई सास ने इस पन्द्रह वर्ष की बहू के हाथ में अपने चार वर्ष के पुत्र को सौंपते हुए कहा था—"बड़ी बहू, मैंने तो केवल जन्म ही दिया था, अब इसे मनुष्य बनाना तुम्हारा ही काम है। मेरा सुरेन्द्र लाख वर्ष की आयु वाला हो, किन्तु देवेन्द्र को उसके हाथ में न सौंप कर तुम्हें ही सौंप रही हूँ बहू, इसे भूल न जाना।" सास तो दूसरे दिन ही चल बसीं, किन्तु बड़ी बहू उनके वाक्य किसी दिन भूल न सकीं। अभी दो वर्ष पूर्व ही, जिस दिन उनकी गोद का वही छोटा बच्चा, जिसे लेकर ही वह पन्द्रह वर्ष की आयु में माँ बन बैठी

थी, जब उनका समस्त स्नेह, वात्सल्य और ममता ठुकरा कर भाई से असहयोग ठान कर अपनी पत्नी-सहित कहीं चल दिया, तो उनके हृदय पर बड़ी भारी चोट लगी थी। साधारण स्त्रियों की भाँति पुरखिन यही समझती थीं कि बहू ने आते ही देवर को फोड़ लिया, अन्यथा वह तो निरा सीधा सादा सा बालक ही है। उसी बालक की इस सद्य विधवा को सम्मुख देखकर पुरखिन के संयम के बाँध टूट गये। वह भी रोने लगीं वहीं बैठकर, छोटी बहू को गोद में लेकर।

साधारणतया कुछ देर रो चुकने के पश्चात, दास-दासियों से घिरे हुए घर में आकर, पुरखिन आँगन में ही बैठ गईं, न जाने कब छोटी बहू के दो चार बक्स झोला आँगन के एक कोने में रख गया था। रोदन का प्रथम उफान शान्त हो जाने पर, दास-दासियों के सम्मुख ही, नितान्त अभिमानी छोटी बहू ने पुरखिन के चरणों पर सिर रख कर गोद के अबोध बालक को, जो अब भी सो ही रहा था, जिठानी के चरणों पर डाल कर, बड़े ही करुण स्वर में कहा—"दीदी, तुम्हारे सिवाय अब इस अनाथ का तीनों लोकों में है ही कौन ? तुम्हीं इसको शरण दो तो जी जाये।" पुरखिन को देवर से प्रेम था उतना ही अधिक जितना किसी माता को अपनी सन्तान से होता है, उसी देवर की मृत्यु पर भी उसे गोद में लेकर दो शब्द न कह पाई। उसकी रोग-शैय्या पर बैठ कर सेवा भी न कर पाई, सो सब क्यों ? इसी बहू के कारण तो। विवाह से पूर्व देवेन्द्र क्या कभी महाराजिन के हाथ का बनाया खाना खा पाता था। हारी-बीमारी में उनके सिवाय किसी के हाथ से जल भी लेकर न पीता था, सो ही देवेन्द्र कितने अनजाने चुपचाप इस दुष्टा के कारण, बिना उनकी गोद का स्पर्श किये ही, इस लोक से चल दिया।

बड़ी बहू का छोटी बहू पर बड़ा भारी अभिमान था। किन्तु यह तो मेरे देवेन्द्र का ही बच्चा है न ? जी चाहा कि इसे उठा कर छाती से लगा लें, किन्तु अभी क्रोध शेष था। फिर छोटी बहू की नम्र याचना ने उन्हें उसी भाव से भर दिया था जो दाता में याचक के प्रति होता है। याचक के प्रति दाता दया भले ही दिखा दे, किन्तु प्रेम तो दिखा सकता नहीं। उन्होंने धीरे धीरे मुख उठा कर स्थिर दृष्टि से छोटी बहू के नतमुख की ओर देख कर कहा—"सो छोटी बहू, एक बार उनसे भी पूछना होगा।" जेठ का निर्मम साम्राज्य-प्रधान कठोर स्वभाव कुछ छोटी बहू से छिपा न था। वह सहम गई, फिर भी साहस करके बोली—"दीदी, जब इसे एक बार गोद में उठा ही चुकी हो तो मैं निश्चिन्त हो गई। मुझे जी चाहे तो एक बेला रोटी दे देना, नहीं तो इसे ही अपना लो और बस।" तब तक पुरखिन बच्चे को गोद में उठा कर छाती से लगा चुकी थीं; "फिर भी मालिक तो घर के वही हैं। पाप या पुण्य से कमा कर तो वही लाते हैं, उनसे बिना पूछे तो चलेगा नहीं।" कह कर वह शून्य में ताकने लगी। व्यंग जाकर छोटी बहू की छाती में छिद गया। पर गम्भीर स्वभाव वाली छोटी बहू चुप ही रही। फिर उस दिन कोई और बात न हुई। छोटी बहू को रात के लिये आश्रय दे दिया गया। रात में ही पुरखिन ने मालिक से आज्ञा लेने का भरोसा दिलाया। एकान्त में छोटी बहू कह उठी—"यहीं तक बस न करना, नारायण। जब दुख का परिचय देने ही लगे हो तो पूरा देना।"

दो भाई

सुरेन्द्र और देवेन्द्र दो भाई थे। इनके पिता किसी समय में नगर के प्रसिद्ध वकील थे। सुरेन्द्र के जन्म से ही उन्हें सुरेन्द्र को बार-एट-ला बनाने की धुन लग गई थी। जब सुरेन्द्र के जन्म के अनेक वर्षों बाद देवेन्द्र का जन्म सुरेन्द्र की सौतेली माँ के गर्भ से हुआ, तो उनकी प्रसन्नता सीमातिरेक से भर गई। किन्तु वह हर्ष देखने वह अधिक दिन जिये नहीं। बड़ा पुत्र बार-एट-ला बन कर यूरोप से देश लौट ही रहा था कि वह एक दुर्घटना का शिकार हो गये। सुरेन्द्र को घर आते ही रोती हुई सौतेली माँ को सान्त्वना देनी पड़ी। सगाई सुरेन्द्र के यूरोप जाने से पूर्व ही हो चुकी थी। सुरेन्द्र के आते ही माँ ने पहला काम किया सुरेन्द्र का विवाह। हाल ही में यूरोप के स्वतन्त्र वातावरण में रहे हुए युवक को अनजानी, अनदेखी बालिका को वरण करते हुए कुछ भला तो नहीं लगा, किन्तु दुखिनी विधवा, सौतेली माँ के आँसू पोंछने का भी और कोई उपाय न था। जो भी हो सुरेन्द्र को किसी भिन्न भी इस बिन देखी लड़की को विवाह कर लाने का दुख न हुआ। गौरी अत्यन्त सुन्दर थी। कच्चे सोने का सा रंग, साँचे में गढ़े हुए से

अंग। साक्षात गौरी की ही प्रतिमा थी। पन्द्रह वर्ष की इस बालिका ने जिस दिन इस घर की गृहिणी होकर प्रवेश किया, तो न जाने क्यों विधवा पुरखिन ने समस्त मन-प्राण से उस पर विश्वास कर लिया। जन्म भर उन्होंने नवीन सभ्यता के उपासक पति के विश्वास और अपने अभ्यास तथा विचारों के बीच खड़े होकर दुख ही दुख पाया था। उस दिन उन्हें जान पड़ा कि साक्षात् उमा उन्हें उनके दुख के बदले वरदान देने आई है, किन्तु कुछ ही मास पश्चात उन्हें न्योमोनिया के कठिन रोग से, चार साल के देवेन्द्र को लक्ष्मी बहू की गोद में देकर, प्रस्थान करना पड़ा। तब ही से आज तक गौरी सुख और दुख दोनों में ही इस घर की मर्यादा निभाती आ रही है। साधारण स्त्रियों की तरह उसमें नारी मात्र के सारे ही गुण या दोष थे अथवा नहीं, सो तो मैं कैसे जानूँगी, पर यह सत्य है कि पन्द्रह वर्ष की बालिका ने इस घर के रीति-व्यवहार, हाल में ही विलायत से लौटे बैरिस्टर पति, अनाथ नन्हें देवर और घर के नौकर-चाकरों को अपनाने में अपूर्व चातुर्य का परिचय दिया था। अल्हड़ पुरजन, परिवार और आस-पास के व्यक्तियों से घिरे रहने पर भी जब सुरेन्द्र ने माँ की मृत्यु-शय्या के किनारे खड़ी हुई बड़ी बहू गौरी से कहा—"अब क्या होगा?" तो गौरी ने आँसू भरी आँखों से एक बार पति की ओर देख भर लिया। उस दृष्टि में बालपन का चांचल्य भी न था, युवावस्था का कौतूहल भी नहीं था, एक मात्र स्निग्ध शान्त सान्त्वना। फिर सुरेन्द्र को कुछ भी नहीं करना पड़ा। पिता को तो मुखाग्नि दे नहीं सका था। सौतेली माँ को मुखाग्नि देकर नदी में स्नान करके सुरेन्द्र जिस समय घर पहुँचा तो अन्धकार सा छागया था। लगभग आधा घंटा बाहर बैठक

में ही बैठ कर सुरेन्द्र जब घर के भीतरी भाग में पहुँचा तो उसे जान पड़ा कि वर्षों से चलते चलते थकान के कारण उसका बुरा हाल है। बड़ी बहू कमरे में दरी पर बैठी कटोरे में दूध ठंडा कर रही थी। देवेन्द्र उसके दाहिने घुटने पर सिर रखे लेटा हुआ सा कह रहा था, "भाभी माँ गई......माँ गई।" भाभी—छोटी सी बालिका भाभी—ने नन्हें देवर का मुख चूम कर कहा—"नन्हें दूध पीलो, यह ठंडा हो गया है।"

देवेन्द्र ने कुछ कहने को मुँह खोला ही था कि सुरेन्द्र घर में पहुँचा। कमरे में प्रवेश करते ही उसकी दृष्टि पड़ी गौरी के गोरे गालों पर पड़ी हुई ओस जल की दो बूँदों पर। सचमुच ही गौरी छः मास में ही सास को बहुत प्यार करने लगी थी। घर में माँ बचपन में ही मर गई थी। चाची ने गौरी के लालन-पालन में जिस शासन की गंध, प्रधानता और कठोरता से काम लिया था, उस शासन में जीवन के अमूल्य पन्द्रह वर्ष व्यतीत करके गौरी को सास का सहज प्रेम, सरल विश्वास और मधुर व्यवहार बहुत ही भला लगा। सुरेन्द्र पत्नी को थोड़े ही दिनों में प्यार करने लगा था। उसकी आँखें भी सूखी न रह सकी। गौरी ने बायें हाथ से धीरे से लाल किनारी से आँसू पोंछ कर कहा,—"आओ।"

सुरेन्द्र आकर गौरी के पास ही दरी पर बैठ गया। गौरी ने झटपट देवेन्द्र को दूध पिला कर गोद में लिटा लिया। सुरेन्द्र भी थकान के कारण बैठ न सका, तुरन्त ही दरी पर लेट गया।

"हूँ-हूँ यह क्या करते हो? उठो, उठो, कुछ थोड़ा बहुत जो हो सके मुख में डाल कर पलंग पर लेटो।" सुरेन्द्र के लिये यह गौरी की नई मूर्ति थी। सास के रहते हुए गौरी ने किसी दिन भी गृहिणी का काम नहीं किया।

था। वह सदा प्रेमिका ही बनी रहना चाहती थी। सुरेन्द्र को भी उसका वही वेष प्रिय था। किन्तु माँ की मृत्यु के कुछ ही घंटों में गौरी बालिका से परिपक्व गृहिणी बन उठेगी यह सुरेन्द्र नहीं जानता था। वह चुप ही रहा। गौरी ने ज्यों ही तनिक सा सिर ठेल कर सुरेन्द्र को उठाना चाहा तो वह चौंक पड़ा। "अरे सिर तो भीगा पड़ा है। पोंछ क्यों न न डाला। कहीं सर्दी-गर्दी न लग जाये।" कह कर, देवेन्द्र को गोद में लिये ही लिये जो शायद सो गया था, तनिक सरक कर गौरी ने अपने आँचल से ही सुरेन्द्र का सिर भली प्रकार पोंछ दिया। सुरेन्द्र, बार-एट-ला सुरेन्द्र, चुपचाप उसी प्रकार दरी पर लेटा रहा। गौरी ने उठ कर सोते हुए देवेन्द्र को पलंग पर लिटा दिया। फिर सुरेन्द्र को जबरन रसोई की ओर ले गई। डाइनिंग रूम तो पहले ही खाली कर दिया गया था, घर में वही तो बैठक को छोड़ कर सब से बड़ा कमरा था। लोगों को कहीं बिठाना भी तो था। इच्छा न होते हुए भी सुरेन्द्र को दो चार पूरियाँ खानी पड़ीं। दूसरे दिन सवेरे से ही संसार फिर वैसा ही चलने लगा, पर दो बातें अवश्य विशेष रूप से उल्लेखनीय थीं, एक तो यह कि गौरी पन्द्रह वर्ष की आयु में ही देवेन्द्र की भाभी से माँ तथा घर की बहू से गृहिणी बन बैठी और दूसरी यह कि अकाल में ही गृहिणी का आसन ठीक-ठीक सम्हालने वाली इस बालिका का मूल्य सुरेन्द्र की दृष्टि में बहुत कुछ बढ़ गया। उसी दिन से सुरेन्द्र ने निश्चिन्त मन से विद्या-बुद्धि से परिपक्व अपने आप को अनुभवहीन, अशिक्षित, अपरिचित पन्द्रह वर्षीया बालिका के हाथों सौंप दिया। पिता के जीवन-काल में ही शहर में कुछ जायदाद बन गई थी। गाँव में भी घर-जमीन और दो कुएँ थे। बँटाई पर खेती भी होती थी, अब तो

कमी तो थी ही नहीं और भी बहुत सी वस्तुएँ सहज ही घर में आ जाती थीं। माँ की मृत्यु के दिन से लेकर आज अनेकों वर्ष पश्चात तक भी सुरेन्द्र ने किसी दिन भी इस जायदाद या घर-जमीन के विषय में भी कुछ नहीं जाना। माँ की तेरहवीं के दो चार दिन बाद जब बूढ़े मुंशी जी चश्मा साफ करते हुए आराम कुर्सी पर सिगार मुख में दाबे हुए नवयुवक मालिक के सम्मुख बैठ कर कहने लगे—"भैया यूं तो काम चलेगा नहीं। अदालत तो देखोगे ही, कुछ जमीन जायदाद भी समझ रखते तो अच्छा था।" तो सुरेन्द्र ने सहज ही कह डाला—"मुंशी जी तुमने ही मुझे गोद में लेकर पाला है, यह सब क्या मेरे बस का काम है, यह तो तुम्हीं सम्हालो। न हो तो अपनी मालकिन की राय ले लिया करना।" अनुभवी मुंशी बालिका मालकिन की कल्पना करके कुछ मूँछों में ही मुसकरा उठे। पर उसके बाद मालिक से उन्हों ने फिर कुछ भी जमीन आदि के विषय में न कहा। शीघ्र ही बूढ़े मुंशी भी जान गये कि गौरी बहू बालिका होने पर भी अत्यन्त चतुर, कुशाग्र बुद्धि और दूरदर्शी है। गौरी ने सहज ही घर और बाहर दोनों ही सम्हाल लिये। सुरेन्द्र निश्चिन्त मन से मुकदमों के साथ मगजपची करते। इसी प्रकार इस घर के अनेकों वर्ष बीत गये। इसी बीच गौरी की गोद में ही पल कर न जाने कब देवेन्द्र चार वर्ष के बालक से बीस वर्ष का युवक हो गया। गौरी की बड़ी लड़की भी तेरह वर्ष की हो गई थी, छोटा लड़का आठ वर्ष का था। इन सब के बीच भी गौरी के हृदय में मातृ-स्नेह का सर्वप्रथम संस्थापक देवेन्द्र ही उसे सबसे अधिक प्रिय था। एम. ए. उसने अत्यन्त प्रशंसा पूर्वक लस्य ज्ञान विषय लेकर पास किया था—गौरी के आञ्चल की छाया में। एम. ए. का प्रथम से अन्तिम प्रश्न पत्र तक,

वह प्रातः गौरी के हाथ का बना हुआ जलपान उसके सामने बैठ कर ही सारी की सारी तश्तरी उड़ा जाने पर ही, करने यूनीवर्सिटी जाने पाता। सोने से पूर्व इस युवक के बिस्तर की चादर, सिरहाने पानी की सुराही और बत्ती का बेड-स्विच देखने को गौरी को उसी प्रकार नियमित रूप से आना पड़ता था, जिस प्रकार तेरह वर्ष पूर्व। बालक देवेन्द्र शिक्षा-दीक्षा में भी भाभी के आञ्चल के नीचे ही पला था। भाभी सदा से ही प्रसन्न मुख थी। बचपन से ही गृहस्थी का भार असह्य रूप में आ पड़ने से भी उसे कभी थकान नहीं हुई थी। वह आशावादी थी। देवेन्द्र सम्पूर्ण रूप से "ओपटीमिस्ट" था। भाभी को आत्मा, परमात्मा, लोक और परलोक सब किसी में विश्वास था, देवेन्द्र को भी "जड़वाद" नहीं भाता था। संक्षेप में हर प्रकार से देवेन्द्र भाभी की ही प्रतिमा था। किन्तु न जाने क्यों एक विषय में देवेन्द्र किसी दिन भी भाभी का मत प्राप्त न कर सका। गौरी सुरेन्द्र की देवता की तरह भक्ति करती थी, किन्तु देवेन्द्र किसी दिन भी भाई को उस स्तर पर खड़ा न कर पाया था जहाँ भाभी को सहज रूप में ही खड़ा पाता था। इसी बात पर कभी कभी देवर भाभी में कहा सुनी भी हो जाती थी। कभी कभी देवेन्द्र का इतना अधिक लाड़ सुरेन्द्र को भी खटक जाता था। देवेन्द्र एम. ए की परीक्षा दे रहा था। गौरी का लड़का चौथी क्लास में पढ़ता था। सुबह तीनों बच्चों को स्कूल जाना होता था। मुन्नी तो जल्दी जलपान करके स्कूल की लारी में चली गई थी। नन्हा साईकिल पर जाता था। नौकरानी को दूध ठंडा करने को कह कर गौरी स्वयं बेल का शरबत देवेन्द्र के लिये बनाने लगी। उसे बेल का शरबत अच्छा नहीं लगता था, पर वह होता बड़ा शीतल और लाभदायक है। गौरी परीक्षा के दिनों में यही

देगी ऐसा ही निश्चय था। स्वयं थोड़ा सा केवड़ा और गुलाब जल मिला कर चाहे थोड़ा बहुत पिला भी ले, पर किसी अन्य के हाथ का तो वह कभी भी पियेगा नहीं। नन्हें को शायद देर हो रही थी, ज्यों ही उसने नौकरानी से जबरन छीन कर दूध का गिलास मुँह से लगाया, मुँह जल गया। थोड़ा सा दूध छलक कर नौकर पर भी गिर गया। नन्हा चीख उठा। सुरेन्द्र उसी समय अन्दर आ रहे थे, कुछ झुँझला कर बोले पत्नी से—"कुछ अपने बच्चों को भी देखती हो। बस हो चुका बेल का कुनकुना, न हो गंगा ही कर देगी। बेचारे बच्चे का सारा मुँह जल गया।"

झटपट दासी को कुछ डाँटते हुए गौरी ने नन्हें को चुप तो करा लिया, पर हाथ का काम छोड़ा नहीं, वरन सीधे से कह दिया "क्या करूँ, वह और किसी से पियेगा जो नहीं।"

घर की पुरानी दासी मालिक को प्रसन्न करने के लिये कुछ स्नेह से भिड़क कर बोली—"ऐसा भी क्या लाड़ बहू। छोटे बाबू को तुमने बहुत सिर चढ़ा लिया है, तनिक अपने बालकों की ओर भी देखो न?"

सुरेन्द्र का मुख भारी हो उठा। देवेन्द्र से उन्हें प्यार बिलकुल ही न हो सो बात नहीं, किन्तु गौरी का उस पर भारी स्नेह उन्हें किसी प्रकार भी सुहाता नहीं था। फिर भी प्रकट न कर सकते थे। गौरी के तेजस्वी स्वर और शान्त मुख से उन्हें कुछ भय सा भी लगता था। धीरे से बोले,—"भाभी, ऐसा कहोगी तो तुम से भी अप्रसन्न हो उठेंगी। देवेन्द्र के सिवाय तो जानो विश्व भर में कोई है ही नहीं।"

गौरी मन ही मन खीझ उठी, पर मुख पर तनिक भी क्रोध का चिह्न न लाकर शान्त से कठोर स्वर में बोली—"भाभी, कुछ काम न

हो तो तनिक बड़ियाँ ही छत पर डाल आओ। क्षण भर में धूप निकलेगी, अन्दर तो पड़े पड़े खराब हो चली हैं।"

उसके बाद किसकी शक्ति थी जो कुछ भी और कह सके। बूढ़ी दासी उठ कर चली गई। सुरेन्द्र भी स्नान करने चले गये। पर मन ही मन गौरी दुसह्य खीझ से भर उठी। देवेन्द्र क्या मेरा ही है, इस घर का कोई भी नहीं। सारे घर की आँखों में वह क्यों खटकता रहता है। बेचारी गौरी का मातृ-स्नेह और भी तेजी के साथ देवेन्द्र की ओर बह चला। सचमुच ही गर्भ में धारण करके जिस बालक को माता दस मास पश्चात जन्म देती है, उसका सहज स्नेह उसकी नस नस में व्याप्त होता है, किन्तु उस सहज स्नेह से भी अधिक स्नेह होता है उस व्यक्ति के लिये जिसे सर्व प्रथम गोद में लेकर नारी रमणी के पद से अकस्मात ही माँ के पद पर जा पहुँचती है, भले ही वह व्यक्ति उसकी गर्भ की सन्तान न हो। ठीक यही हाल गौरी का भी था, किन्तु उसका स्नेह जाना ही कितने लोगों ने था। देवेन्द्र ने भी किसी दिन गर्भधारिणी माँ को पहचाना नहीं था, सृष्टि भर में यदि किसी को ठीक ठीक जानता था तो इसी अपनी भाभी को। प्राइमरी स्कूल की प्रथम परीक्षा से लेकर एम. ए. की अन्तिम परीक्षा तक भाभी के चरण छूकर जाना वह किसी दिन भी भूला नहीं था। एक दिन जब गौरी ने हँसी हँसी में ही कहा था—"देव भइया, अपने बड़े भइया के चरण छूकर जाओगे तो अवश्य परीक्षा परिणाम में इनाम पाओगे।" देवेन्द्र कुछ अप्रतिभ सा होकर तुरन्त ही बोल उठा—"भाभी, तुम और भइया कोई दो थोड़े ही हो। तुम्हारे चरण छूने से ही दोनों के चरण छू लिये जाते हैं, सो क्या मैं जानता नहीं।" उसके स्वर की अविचल श्रद्धा ने गौरी

को फिर कुछ कहने नहीं दिया।

किसी प्रकार भी देवेन्द्र का लाड़-प्यार कुछ कम हुआ नहीं। सुरेन्द्र अक्सर कह दिया करते थे—बड़ी बहू देव को तो तुम सत्यानाश करे डालती हो, पढ़ने के अतिरिक्त आत्म-निर्भरता भी तो उसमें आनी चाहिये। सदा तो तुम्हारे आञ्चल की छाया उसे ढक सकेगी नहीं, सुहायगी भी नहीं, तनिक उसे स्वयं अपने पैरों पर भी खड़ा होने दो।"

गौरी सरल प्रेमिका की भाँति मुस्करा कर कहती—"रहने भी दो एक तुम्हीं बड़े आत्म-निर्भरता के उदाहरण हो। और एक तुम्हारा भाई होगा। पहले की तो जानती नहीं, किन्तु आज बीस वर्ष से तो तुम्हें किसी दिन अपनी ऐनक उठाकर भी सोने से पूर्व रखते देखा नहीं। एक दिन न रखूँ तो चाहे करवट लेते समय तोड़ ही डालो। तुम्हारे मुकदमे के कागजात भी न सम्हाल कर रखूँ तो शायद मुन्शी जी को भी मुकदमे का पता-ठिकाना भी न लगे…………"

हँसते समय गौरी के गालों में बड़े ही मोहक ढंग से गढ़े पड़ते थे। चालीस वर्ष की हो जाने पर भी उन में कोई कमी नहीं आई थी। सुरेन्द्र गौरी के मुख की ओर ही देखता रहता। बीच में ही रोक कर कहता "अच्छा अच्छा, रहने दो। सचमुच गौरी तुम बैरिस्टर होतीं तो अभी ही सफल होतीं।"……गौरी मजाक सा करती हुई कहती—"पर मैं एक ही बैरिस्टर से सिर खपाई कर कर के थक जाती हूँ, अदालत में तो न जाने कितनों से करनी पड़ती।"

बात हँसी में ही उड़ जातीं। पर सचमुच ही देवेन्द्र भाभी के अतिरिक्त मानों अपना व्यक्तित्व बना पाया ही नहीं।

थोड़े ही दिन पश्चात् परीक्षा-परिणाम निकलने पर जब देवेन्द्र प्रथम श्रेणी में पास हो गया और उसे अपने ही कालेज में तत्वज्ञान के लेक्चरार की जगह भी दो सौ रुपये मासिक पर मिल गई, तो गौरी आनन्द से भर उठी, पर सुरेन्द्र ने साफ़ कह दिया कि उसकी तनिक सम्मति इस नौकरी के लिये नहीं है। वह देवेन्द्र को आई-सी-एस के लिये विदेश भेजना चाहता था। देवेन्द्र की तनिक भी रुचि शासन-कार्य की ओर न थी। अतः वह राजी न हुआ। गौरी ने भी विरोध किया।

"तुम गये होगे किसी दिन विदेश, पर मेरा देवर बड़ा ही सीधा लड़का है, वहाँ वह रहेगा कैसे? न, न, उसे यही ठीक है, और फिर तुम जो इतना छाती फाड़ कर कमाते हो, सो सब किस के काम आयगा, इन्हीं लोगों के तो। मेरी उमा हुई पराये घर की सम्पत्ति। शेष देव और मही को बहुत है। हाँ अब शीघ्र ही उसका विवाह करना होगा।"

"हाँ बस, अभी से विवाह करके उसका भी गला फँसा दो। अभी तो बहुत होगा चौबीस वर्ष का होगा।"

"जब मैं तुम्हारे घर आई थी तो तुम कितने वर्ष के थे?"

"छोटी उमर थी, तब ही तो तब से तुम्हारी ही दासता कर रहा हूँ।"

"तो अब और किसी की कर लो।"

"जान पड़ता है करनी ही पड़ेगी। अभी दो ही थे तो पलड़ा भारी रहता था, अब तो भला देवर के विवाह की भी तैयारी है। बहु संख्या और भी अधिक बढ़ जायेगी। फिर तो कोई सहारा ढूँढ़ना ही

पड़ेगा।"

"चलो यह भी अच्छा रहा। बीस वर्ष बाद छुट्टी तो मिलेगी।" गौरी की मुस्कराहट ने सुरेन्द्र को खिलखिला कर हँसने को विवश कर दिया, किंतु दूसरे दिन ही गौरी ने पंडित जी को बुला कर कहा "पुरोहित दादा, लड़की गुणवती हो सुन्दर हो और सुशील हो। तुम तो जानते हो देवेन्द्र को मैंने लड़के की तरह पाला है। मुझे तो बहू चाहिये, देवरानी नहीं। मेरे कुल में यह पहली ही शादी है, मेरे घर दस पाँच लड़के भी ब्याहने को हैं नहीं, अतः सब कुछ देख-भाल कर करना।"

"जरूर बहू, लड़कियों का भी क्या घाटा है इसी शहर में पच्चीसों लड़कियों वाले नाक न रगड़ें तो कोई बात है।"

"पर लड़की भली हो।"

"तुम आप देख-भाल लेना बहू।"

"तुम्हारी ओर से भी तो तसल्ली हो। वह तो कुछ देखते सुनते हैं ही नहीं।"

"सो क्या मैं जानता नहीं हूँ, तुम्हीं ने घर बना लिया बहू नहीं तो बड़े बाबू के क्या बस का था। लड़की लाखों में एक न हो तो कहना।" कह कर अनेकों आशीर्वाद देते हुए सीधे का भारी गट्ठर लेकर बूढ़े पुरोहित चले गये।

बूढ़े पुरोहित ने सचमुच ही बड़े परिश्रम से कई सुयोग्य लड़कियाँ गौरी को बतलाईं, पर यह विवाह न हो सका। आज से दो वर्ष पूर्व एक दिन देवेन्द्र गौरी के सामने आ खड़ा हुआ, अचानक और असमय। गौरी सामने सिंगर स्यूइंग मशीन रखे कुछ सी रही थी। मन ही मन

कल्पित देवरानी के सुन्दर मुख की ओर देख कर कह रही थी, "नहीं नहीं बहू, रहने दो, यह सब काम क्या तुम्हारे हैं। अभी नई ब्याहुली ही तो आई हो, दो चार दिन आराम कर लो, फिर तो यह घर-द्वार तुम्हें ही सम्भालना होगा। मैं क्या सदा बैठी रहूँगी।" फिर भी देखा कि देवेन्द्र की बहू उनके हाथ से कपड़ा छीन कर स्वयं सीने बैठ जाती है। वह हँस कर कहती है, "तो बहू मुझे क्या एकदम ठाली ही बिठा रखोगी ?" मातृ-स्नेह से उनकी छाती फूल उठी। इसी समय देवेन्द्र सामने आ खड़ा हुआ। बाल माथे पर कुछ बिखरे से थे, आँखें लाल और चढ़ी हुई थीं। मुख पर कुछ चिन्ता और घबराहट के चिह्न थे। गौरी ने मुख उठाया ही न था कि प्रोफ़ेसर देवेन्द्र कुमार एक साँस में ही बिना किसी भूमिका के कह उठे—"भाभी, यह विवाह न होगा।"

गौरी अप्रत्याशित वाक्य पर कुछ चौंक सी उठी, पर तुरन्त ही मुख उठा कर संयत स्वर में बोली—"कौन सा देव ?"

"यही सब जो तुम कर रही हो।"

"ओह !" कह कर गौरी ने देवेन्द्र को निकट आने का संकेत किया। गौरी पीढ़ी पर बैठी थी। देवेन्द्र उसके निकट स्वच्छ दरी पर आकर बैठ गया।

"आज इतनी जल्दी कैसे आ गया ?" भाभी ने प्रेम से पूछा।

"आज पढ़ाने में जी ही नहीं लगा। एक क्लास और थी, उसके लिये नोटिस लगवा कर चला आया।"

"क्यों जी तो ठीक है ?" कह कर सचमुच ही चिन्ता से गौरी का मुख सूख गया। पिछले वर्ष इन्हीं दिनों में देवेन्द्र बहुत बीमार हो गया था। गौरी स्वयं भी बीमार थी। यहाँ तक कि चारपाई से

लग गई। देवेन्द्र की परिचर्या के लिये नर्स का प्रबन्ध करना पड़ा था। कितना दुर्बल हो गया था देवेन्द्र तब। सारी छुट्टियाँ काश्मीर में बिता कर कहीं इस बार कुछ स्वास्थ सुधरा था। चिन्ता से भाभी ने देवेन्द्र के उन्नत गौर ललाट पर हाथ रखा। देवेन्द्र हँस पड़ा, "भाभी, तुम तो सदा ही मुझे बच्चा समझती रहोगी।" गौरी भी हँस पड़ी। "चार बरस का लेकर गोदी में खिलाती आ रही हूँ, अब आज बूढ़ा कैसे समझ लूँ, प्रोफेसर साहब?" स्वर में प्रश्नसूचक ध्वनि कम किन्तु हास्य-ध्वनि अधिक थी। हँसी की मीठी ध्वनि में भी गौरी देवेन्द्र का पहला वाक्य भूली न थी।

"क्या कह रहा था, पगले, बता तो सही?"

इस बार देवेन्द्र कुछ दुविधा सी में पड़ गया। झेंपते हुए स्वर को यथा सम्भव स्वाभाविक बना धीरे धीरे बोला—"भाभी, मैं विवाह नहीं करूँगा।"

गौरी ज़ोर से हँस पड़ी। फिर बोली—"पगले, ब्याह-शादी की बातों में लड़के बोल नहीं पड़ा करते। वह सब कुछ हमें करना होता है, तुम तो केवल चुपचाप बैठे रहो।"

"नहीं, भाभी; क्षमा करो, तुम्हारी बात किसी दिन टाली नहीं, आज भी टालूँगा नहीं, पर तुम मुझे ऐसी आज्ञा न दो।" देवेन्द्र के स्वर में विचित्र कम्पन था। गौरी इस बार हँस कर टाल न सकी।

"तुम्हारे भइया भी एक दिन ऐसा ही कहते थे। आज उनसे पूछो तो सही, किसी दिन दो दिन को भी मायके नहीं जाने देते। भइया सब का यही हाल होता है आरंभ में। जब फँस जाओगे तो राह ढूँढ़े भी न मिलेगी।"

"सो बात नहीं है, भाभी। तुम्हारी गोद में बालक होने पर भी अब मैं नासमझ नहीं हूँ। तुम बुरा न मानना, भाभी। मैं यहाँ विवाह न करूँगा।"

"क्यों लल्ला, विवाह क्यों न करोगे? लड़की अत्यन्त सुन्दर है। दसवीं पास है, सिलाई पिरोई में चतुर है, गाना बजाना जानती है, आज कल की पसंद के लड़कों को जो कुछ चाहिये सब ही कुछ तो है, तिस पर बड़े घराने की लड़की है, फिर विवाह क्यों न करोगे, सुनूँ तो सही लल्ला।" गौरी जब अप्रसन्न होती थी तो देवेन्द्र को लल्ला ही कहती थी। देवेन्द्र गौरी का भाव न समझा हो सो बात नहीं, कुछ देर चुप ही रहा, फिर बोला—"भाभी, सो सब गुण आज कल के लड़कों के अच्छे लगने लगे तो तुम्हारी गोद में खेल कर बड़े हुए देवेन्द्र का महत्व ही क्या रह जायगा।"

गौरी अन्य साधारण स्त्रियों के समान ही प्रशंसा-लोलुप थी। मन हलका हो गया। हँस कर बोली—"मेरे देवर का महत्व कितना है, सो मुझ से ज्यादा क्या तू जानता है? अच्छा न हो लड़की देख-भाल लेना। भला अब तो चाल ही यही चल गई है।"

"देखो भाभी" कहते हुए देवेन्द्र खड़ा हो गया। "तुम्हारी पसन्द की हुई लड़की को देखने भालने पसंद करने न करने की शक्ति तुम्हारे देवर में किसी दिन भी नहीं होगी, किंतु यदि किसी दिन मैं कोई काम तुम्हारी इच्छा के या आशा के विरुद्ध कर ही बैठूँ तो तुम्हें क्षमा करना ही होगा। यह कहे रखता हूँ।" बातें बिजली के वेग से कही गईं और बिना एक क्षण भी ठहरे देवेन्द्र बिजली के वेग से ही चला गया। गौरी स्तम्भित रह गई। उस दिन

और सिलाई न हो सकी। गौरी प्रसन्न मन से काम भी न कर सकी। पुरानी दासी के हाथ से गिर जाने पर एक रकाबी टूट गई, जिस पर गौरी बड़ी देर तक बकती रही। सन्ध्या समय रसोई में भी घंटा भर बक झक करके ही आ गई। बड़ी कठिनाई से देवेन्द्र के लिये कटहल छौंका और फिर मिश्रानी पर जैसे तैसे सब्जी को छोड़ कर अपने कमरे में चली गई। रात को ग्यारह बजे जब सुरेन्द्र कमरे में पहुँचा तो उगालदान में पान की अन्तिम पीक थूक कर चारपाई पर बैठ गया। गौरी अभी आराम कुर्सी पर बैठी पति के लिये मोजा बुन रही थी। सुरेन्द्र को देख कर बोली—"तुम कुछ देखते सुनते भी हो। घर में जवान लड़का है, न उससे बोलते हो न कभी डाँट में रखते हो। आदमी कभी भाड़ से मार तो करे। बच्चे हैं सो उनसे हफ्तों नहीं बोलते, कैसे आदमी हो?"

सुरेन्द्र बड़े ही प्रसन्न थे, आज ही उन्हों ने एक बड़ा ही कठिन मुकद्दमा जीता था। हजार रुपये आज ही बैंक में भेजे गये थे। मुसकराते हुए बोले,—"तुम जो सब कुछ देखती सुनती हो, रानी।"

गौरी की अवस्था कुछ वैसी हँसी करने योग्य न थी। कुछ चिढ़ कर बोली—"पर तुम्हें भी तो कुछ देखना सुनना चाहिये। मुझ से तो अब यह सब निभता नहीं।"

"कुछ कहोगी भी या भूमिका ही बाँधे जाओगी, बड़ी बहू।" सुरेन्द्र कभी कभी चिढ़ानेको अकेले में भी गौरी को बड़ी बहू कह दिया करते थे।

गौरी का मन उस बालक सा हो रहा था जो बड़े भाई द्वारा खिलौना छीने जाने पर दुविधा में पड़ जाता है। माँ से रो कर कहने पर शायद खिलौना तो मिल जाये, लेकिन मौका पड़ते ही भइया की

मार भी खानी पड़ेगी। मार की याद करके शिकायत करने की हिम्मत तो नहीं पड़ती, साथ ही लाल खिलौने का लोभ भी नहीं छोड़ा जाता। अतः वह हार कर अपने ऊपर ही खिजियाने झल्लाने लगता है। ठीक यही अवस्था गौरी की भी थी। इस घर में वधू रूप में प्रवेश करने के पश्चात आज तक उसे किसी भी विरोध का सामना नहीं करना पड़ा था। किसी ने भी उसकी इच्छा के विपरीत शब्द नहीं कहा था। आज अचानक अपने, सबसे अधिक अपने, देव के मुख से इस प्रकार का विरोध सुनकर वह विचलित हो उठी थी। बेचारी गौरी! अशान्त मन चाहता है सहारा। यदि इस समय सुरेन्द्र पेट भर कर देवेन्द्र पर अप्रसन्न होता उसे डाँटता तो गौरी सुखी होती, किन्तु यह कहा जा ही कैसे सकता है कि देव, गौरी का देव, उसका कहना नहीं मानता। पति की प्रसन्नता समझती हुई गौरी की झल्लाहट बढ़ती ही जा रही थी। स्थिर बुद्धि करती है तर्क, किन्तु झल्लाहट उलझती है स्वयं अपने आप से। गौरी स्थिर बुद्धि से तर्क करने को तत्पर न थी, अतः झल्ला उठी—"हाँ, मुझे और कोई काम थोड़े ही है, तुम्हारे सामने बैठ कर भूमिका ही तो बाँधती रहती हूँ। न हो तुम्हीं यह रोजगार कर लो।" चिढ़ कर गौरी बोली। सदा की गम्भीर, मितभाषिणी गौरी के मुख से यह सब कुछ सुन कर सुरेन्द्र चकित हो गये। मुकद्दमे की जीत का नशा जाता रहा। सम्हल गये। मामला कुछ संगीन सा जान पड़ता है। सहमे से बोले—"बात क्या है गौरी? कुछ कहो तो सही।" गौरी कुछेक मिनिट चुप ही रही, किन्तु छाती के भीतर की झल्लाहट भरी रुलाई छाती के भीतर ही भीतर उमड़-घुमड़ रही थी, किसी प्रकार रुकती ही न थी। जल्दी से कहती हुई गौरी कमरे से बाहर हो गई—"तुम्हारे लाड़ले भाई

विवाह न करेंगे सुन रखो।"

"अरे सुनो तो सही, गौरी, बड़ी बहू।" सुरेन्द्र कहते ही रहे, पर गौरी कमरे से बाहर जा चुकी थी। सुरेन्द्र जानते थे, अब वह फिर जल्दी ही न आयेगी। उनकी प्रसन्नता पर पानी फिर चुका था। थके हुए से मन से पलङ्ग पर तिरछे ही लेट रहे। सोचने लगे, "कैसी है यह नारी, यह गृहस्थ रमणी। संसार में जैसे रात दिन सौतेले देवर के अतिरिक्त और कुछ सोचने की बात है ही नहीं। उसी को लेकर माथा खपाया करती है। अभागा विवाह नहीं करता न करे। हमारी कितनी सुन्दर चाँदनी रात खराब कर दी। वह विवाह नहीं करता, तो यह ही क्यों पागल हुई जा रही है। अपना लड़का है, लड़की है, उनकी चिन्ता नहीं, यदि चिन्ता है तो बस एक लाड़ले देवर की ही·······" सोचते सोचते तिरछे ही लेटे कब सुरेन्द्र सो गये सो उन्हें जान भी न पड़ा। हाँ रात को एक बजे रसोई आदि उठवा कर गौरी ने आकर उनकी ऐनक उतार कर उन्हें पलङ्ग पर सीधा करके बत्ती बुझा दी। उस दिन और कुछ न हुआ।

शक्ति

"वह शिव की शक्ति नहीं है, महामाया भी नहीं है । और तो क्या, कोई लम्बी-चौड़ी देवनी भी नहीं है । न जाने किस अनजानी घड़ी में, किसी ने किस चाव से, किस भाव से, उसका नाम रखा था 'शक्ति'। किन्तु उसे कहना तो चाहिये श्यामला। सचमुच ही वह भरे श्यामल मेघ सी सजल है। मुझमें नारी जाति के प्रति विशेष आकर्षण कभी भी नहीं हुआ है, शायद कभी होगा भी नहीं, किन्तु शक्ति की ओर देखते ही मुझे वर्षा ऋतु के सुन्दर जल भरे गम्भीर जलद याद आ जाते हैं और मैं उसे देखता ही रह जाता हूँ। वह सुन्दरी नहीं है, यहाँ तक कि साधारण भाषा में उसे कोई देखने सुनने में भली भी नहीं कहेगा, फिर भी उसके नेत्रों में एक विचित्र गम्भीरता, सजलता या कौन जाने वेदना की झलक है । वह कभी किसी की ओर दृष्टि भर कर नहीं देखती। यदि कभी अपनी कापी पर से दृष्टि उठाती भी है तो, ब्लैक बोर्ड को छोड़ कर, एक, केवल एक दृश्य उसकी दृष्टि खींच पाता है और वह है कक्षा के दक्षिण भाग में स्थित खिड़की से दीखने वाला विस्तृत नील आकाश-मण्डल। कभी कभी तो वह उधर

देखते हुए लेक्चर सुनना भी भूल जाती है।"

प्रोफेसर कुमार का पेन अचानक डायरी पर रुक गया विचारधारा भी कुछ टूट सी गई। सोचने लगे—"पर यह लड़की मेरी कौन है। मेरी डायरी में इसका नाम क्यों आया? मैं इसके विषय में इतना सोचता ही क्यों हूँ? नहीं, नहीं, यह असुन्दर लड़की मेरी कोई भी नहीं है, बरबस विचार-धारा को पलट कर प्रोफेसर देवेन्द्र कुमार बड़े ध्यान से कॉन्ट के "क्रिटिक आफ जजमेण्ट" के नये एडीशन पर झुक गये। "सौन्दर्य……"आगे पढ़ न सके। अक्षरों के स्थान पर एक श्यामल चेहरा उभर उठा। प्रोफेसर साहब फिर बह गये विचारों में, "मेरी छात्राओं में अनेक सौन्दर्यमयी देवियाँ हैं। मिस मित्र, सुशीला विनायक, करुणा साहनी, गीता आचार्य एक से एक भद्र विनयी और सुशील छात्रायें हैं, किन्तु उनमें से किसी के विषय में तो कभी मैं सोचता नहीं। यह सदा विरोध करने वाली सदा ही मेरे विचारों, मेरे सिद्धान्तों पर व्यंगात्मक कटु कटाक्ष करने वाली, यह उद्दण्ड छात्रा ही मेरे विचारों का केन्द्र क्यों रहती है? यह रहस्यमयी है। उसकी दृष्टि में तीव्रता है। उसके पतले साँवले मुख पर दो बड़ी बड़ी आँखें सम्पूर्ण रूप से वेदना से ही भरी हुई हैं। वह उन्हें कभी पूरी पूरी नहीं खोलती, शायद इस डर से कि उनसे बहने वाली वेदना कहीं सृष्टि भर को डुबा न दे। जान पड़ता है यह बड़ी ही दुखी है।

"उस दिन जब मैं पढ़ रहा था 'शोपनहम संसार का अर्थ समझता है केवलमात्र जीवित रहने की इच्छा और यह इच्छा ही दुख का कारण है। मानव सदा ही जीवित रहने की इच्छा करता है

और जब तक उसकी यह इच्छा जीवित रहती है वह दुखी रहता है।' तब शायद वह अपने भावों का वेग सम्हाल न सकी, लगभग चिल्ला सी उठी—'पर मिस्टर कुमार, जो उस इच्छा से परे चला जाता है, वह भी दुखी नहीं होता। और फिर जीवित रहने का इच्छा से तो कोई सम्बन्ध है ही नहीं। जीवित रहना तो एक जबरदस्ती है। हम जीवित हैं इसी लिये हैं, कुछ इस लिये नहीं कि जीवन की इच्छा करते हैं, अतः दुख का कारण जीवित रहने की इच्छा नहीं है।' मैंने उसे समझाना चाहा कि महात्मा ईसा और महात्मा बुद्ध के काल से भी बहुत पहले से बहुत सारे महापुरुष यही मानते आये हैं कि इच्छा ही दुख का कारण है, बहुत प्रकार के उदाहरण देकर भी मैंने समझाना चाहा पर उसकी युक्तियाँ अकाट्य थीं। उसने सरलता से कह डाला—'प्रोफेसर साहब भूख लगने पर भोजन न मिलने से दुख होता है, पर दुख का कारण है भोजन का न मिलना, न कि शरीर के स्वस्थ होने से भूख लगना—भूख न लगने पर भी तो मानव सन्तुष्ट नहीं होता, सुखी नहीं होता, सिवाय उस व्यक्ति के जिसके लिये भोजन का एकत्रित कर पाना ही एक महान समस्या बन चुकी है।' अन्तिम वाक्य कहते कहते उसका साँवला मुख एक दम धूमिल हो उठा। उसकी गहरी काली आँखें कुछ भर सी उठीं। मुझे वर्षा कालीन बादल की सी सरस छवि उसकी काली आँखों में दीख पड़ी। मैं उत्तर देना भूल गया। सचमुच ही कितनी अकाट्य थीं उसकी युक्तियाँ! कितना सजीव था उसका तर्क! लॉजिक का विद्यार्थी होकर भी मैं उस तर्क को समझ पाया नहीं। मुझे उसके तर्क पर विश्वास नहीं, उसके सिद्धान्तों पर भी रत्ती भर विश्वास भी मैं किसी दिन नहीं

कर सका, पर फिर भी उन्हें असत्य कह सकूँ सो साहस भी नहीं होता।

"मैं उसे जानना चाहता हूँ कि वह क्या है, पर जान पाता नहीं। वह शायद छिपी ही रहना चाहती है। उस दिन अन्य तीनों छात्र अनुपस्थित थे। मैंने उससे पूछा—"जान पड़ता है तुम्हारे मन में गहरी वेदना छिपी हुई है शक्ति। क्या मैं किसी प्रकार तुम्हारी सहायता कर सकता हूँ।" वह एक दम चौंक उठी। थोड़ी देर तक दक्षिण खिड़की से शुभ्र नीलाकाश की ओर स्थिर दृष्टि से देखते रहने के पश्चात बहुत ही धीरे—जैसे किसी कुएँ में से आ रहा हो—ऐसे स्वर से उसने कहा—'मैं किसी की सहानुभूति नहीं चाहती' मिस्टर कुमार। पर उसके स्वर में मानो गहरी सहानुभूति की याचना थी। उसकी बुद्धि प्रखर है, अत्यन्त प्रखर है। कक्षा में वह कभी किसी भी पत्र में द्वितीय नहीं आई; फिर भी वह अत्यन्त उग्र है, अत्यन्त कठोर है और है अत्यन्त दुखी। उसके विचारों में कठोरता है पर है मौलिकता। जितना ही वह मुझ से कम बोलती है, उतनी ही उसे जानने की इच्छा मेरे भीतर ही भीतर बलवती होती जाती है। मैं उसे जानूँगा, अवश्य जानूँगा।

"सुना है, वह अपने परिवार में तीन ही व्यक्ति हैं। एक वह और दो उसके छोटे भाई। उसकी माता पिछले वर्ष मर गई। जब मैंने उससे माता की मृत्यु पर सहानुभूति प्रकट की तो उसकी आँखों में एक बूँद भी आँसू की न थी। सहज ही हँस कर बोली—"तत्व-ज्ञानी दार्शनिक भी मनुष्य की मृत्यु पर खेद प्रकट करते हैं? व्यङ्ग से मैं सकपका उठा, पर आश्चर्य हुआ उस बालिका पर जो संसार में अकेली रह

आने पर भी इस प्रकार माँ की मृत्यु के आँठवें दिन ही व्यङ्गात्मक हँसी हँस सकती है। मैं चुप हो रहा पर तुरन्त ही वह बड़े गहरे स्वर में काँपती हुई सी बोली—'कुमार साहब, जिस व्यक्ति का जीवन मृत्यु की विभीषिका से कहीं अधिक कठोर हो, कहीं अधिक कठिन हो, कहीं अधिक भयङ्कर हो, उसकी मृत्यु पर आनन्दोत्सव करना चाहिये, खेद नहीं।'

"माँ की मृत्यु पर पुत्री के मुख से ये भयङ्कर वाक्य कितनी बड़ी वेदना को भीतर ही भीतर छिपाये हुए निकले थे, सो मैं जान कर उस समय भी काँप उठा था और आज भी काँप जाता हूँ। पर वेदना कितनी भी गम्भीर क्यों न हो, शक्ति उसे बँटाना नहीं चाहती, किसी का सहारा भी नहीं चाहती, किसी को जानने देना भी नहीं चाहती; कितनी विचित्र है वह। ओह, मुझे उसे जानना ही पड़ेगा, बिना जाने मैं रह सकूँगा ही नहीं। न जाने क्यों उसे देखते ही मेरी आँखों में स्वयं ही आँसू उमड़ उठते हैं! कौन है वह लड़की?"

घड़ी ने टन टन करके दस बजा दिये। विचार-धारा भङ्ग हुई। सवा ग्यारह बजे प्रोफेसर कुमार को एम० ए० की कक्षा में लेक्चर देना था। उठ खड़े हुए। कॉन्ट की पुस्तक वैसी ही अछूती पड़ी रह गई। एक अँगड़ाई लेकर कुमार साहब स्नानगृह की ओर चल दिये। भाभी पहले ही कपड़े आदि रख गई थी, किन्तु कल के अभिमान के कारण न तो स्वयं ही दस बजने की याद दिलाई और न नौकर से ही कहलवाया। पर देवेन्द्र के मन की स्थिति इस समय यह सब कुछ सोचने योग्य न थी। वह शक्ति के विषय में सोचता हुआ ही स्नान-गृह में चला गया।

शक्ति एम० ए० की छात्रा थी । उसने पिछले वर्ष ही सम्मान सहित बी० ए० की परीक्षा पास की थी । और एम० ए० के प्रथम वर्ष में मनोविज्ञान विषय लेकर प्रविष्ट हो गई थी । प्रोफेसर कुमार थे तो जूनियर प्रोफेसर ही, किन्तु एक प्रोफेसर के रिटायर्ड हो जाने पर मनोविज्ञान एम० ए० के छात्रों को समाज-मनोविज्ञान पर लेकचर दिया करते थे ।

नये लेकचरार थे-उत्साह से भरे हुए । अपने विषय से उन्हें प्रेम भी था और छात्रों में प्रसिद्धि की इच्छा भी; अतः कभी कभी विषय की सीमाओं से मुक्त होकर अन्य स्वतन्त्र विषयों पर भी अपने विचार प्रकट किया करते थे । प्रायः बी० ए० और एम० ए० के सब ही छात्र उनकी अद्भुत सूझ, उनकी परिष्कृत विचार-धारा और उनकी सामयिक विवेचना पर मुग्ध थे । ईश्वर पर उनका गम्भीर विश्वास था । मानव की सहनशीलता की शक्ति के वह कायल थे । वेदान्त तथा विश्वप्रेम उनकी विचार-धारा के मुख्य विषय थे । नारी की विभिन्न रूप-किरणों से उनका परिचय था ही नहीं, नारी के रूप में उन्होंने केवल मात्र गौरी को ही जाना था । नारी उनके लिये गौरी भाभी जैसी स्नेहमयी, सरल, त्यागमयी और सेवामयी थी, इसके अतिरिक्त और कुछ भी न थी । देवेन्द्र ने अपनी जननि को अपने जनक सहित बहुत छोटी सी ही आयु में खो दिया था, किन्तु उसका परिचय वेदना से, दर्द से कभी भी नहीं हुआ था, गौरी ने उसे गोद में लेकर, स्नेह से उसका मुख चूम कर माता और पिता दोनों का ही अभाव पूरा कर दिया था । दुख से परिचय न होने के कारण ही उसे विश्व भर का सौन्दर्य, शुभ, कल्याणकर और शिव ही दीख पड़ता था । इसी

को वह जब तब अपने शब्दों में व्यक्त करता था। मनुष्य जीवन दुख और सुख दोनों का ही एक विचित्र सम्मिश्रण है। जीवन-सागर की लहरों में दुःख और सुख, वेदना और आनन्द, करुणा और हर्ष दोनों ही निरन्तर बहते रहते हैं। मानव कभी वेदना के साथ बह चलता है और कभी आनन्द के साथ। यह तो हुआ स्वाभाविक, सत्य। किन्तु सुनने में मनुष्य सदा सुन्दर, शिव ही पसन्द करता है। वह आनन्द-प्रिय जीव है न? करुणा की कहानियाँ भी उसे भाती लगती हैं, दुखान्त उसे भाता है, ट्रेजडी उसे प्रिय है, किन्तु तब ही तक जब तक वह कथा रूप में उसके सम्मुख आती है। नाट्य रूप में वह पर्दे पर देखता है या कोई चतुर व्यक्ति किसी निराले रूप में उसे व्यक्त करता है, सुन्दर भावपूर्ण भाषा में—मन की गहराई तक उतर कर। स्वयं अपने जीवन में आया हुआ दुखान्त उसे भला नहीं जान पड़ता। यही मानव-मनोविज्ञान है। और यही कारण था कि प्रोफ़ेसर देवेन्द्रकुमार के सजीव भाषणों ने उनको शीघ्र ही छात्र वर्ग में प्रसिद्ध कर दिया। इन सब प्रशंसकों के बीच एक विरोधी देवेन्द्रकुमार को असह्य रूप से खटकता था और वह थी शक्ति।

शक्ति का किसी दिन भी सुख से शान्ति से परिचय नहीं हुआ था। उसके श्यामल मुख पर ठीक बीच में खड़ी हुई नासिका मानो विश्व भर से विद्रोह करती थी। उसकी आँखें काली बड़ी और दुख से भरी थीं। बाईं आँख में पुतली के पास ही दाहिनी ओर एक छोटा सा तिरछा धब्बा सा था, जो कि कभी कभी दर्शकों की आँखों में चुभने सा लगता था। कभी कभी वह अपने होठों के किनारे एक कम मुस्कान कर छोड़ देती थी, तो जान पड़ता था कि अखिल ब्रह्माण्ड की घृणा,

कठोरता और उद्दण्डता उसके हृदय में ही पल रही है । किसी भी अध्यापक या छात्र को उससे न सहानुभूति थी और न प्रेम ही । सब ही उसके कठोर स्वभाव से डरते थे तथा उसके व्यक्तित्व से परे ही रहने का यत्न करते थे, फिर भी कोई उसकी उपेक्षा नहीं कर पाता था । वह बुद्धिशालिनी थी न ! कालिज भर में उसके समान कुशाग्र छात्र और थे ही कितने ? उस विचित्र छात्रा को देवेन्द्र के आशापूर्ण विचार थोथे और रुके हुए से जान पड़ते थे । उसे वह नग्न सत्य का रूप प्रकट करते नहीं दीखते थे । वह उनसे ऊब उठती थी । मन के भावों को मन ही में दबा जाना, सह लेना उसने सीखा ही न था । वह करती थी विरोध, सीधा और कड़वा विरोध छात्र-प्रिय प्रोफ़ेसर देवेन्द्र कुमार का । और शायद दोनों के बीच का यह विरोध ही दोनों के लिये एक दूसरे के आकर्षण की वस्तु बन रहा था । जो व्यक्ति हमारे जीवन के अत्यन्त निकट होते हैं, उन्हें हम अपनी छाया मान लेते हैं, वह हम में ही समा जाते हैं । जो व्यक्ति हमारे व्यक्तित्व के दायरे से बाहर उदासीन से होते हैं और न जिन्हें हमसे कोई अनलग्न होता है, वह हमारे जीवन को दूर से ही नदी के दो किनारों की तरह छूकर निकल जाते हैं, किन्तु जो व्यक्ति उस प्रकार के गुण, कर्म, स्वभाव को व्यक्त करते हैं जिसका कि हम में सर्वथा अभाव है, जो हमारे लिये नवीन, आश्चर्य की, अपरिचित रूपधारी वस्तु हैं, उनके प्रति हम स्वभावत: ही आकर्षित हो उठते हैं और विशेषतया उन व्यक्तियों के प्रति जो हमारे विचारों से सहमत नहीं होते । जिनका स्वयं अपना ही व्यक्तित्व होता है, हमारे व्यक्तित्व से भिन्न, हमारे व्यक्तित्व का विरोधी । भावुक व्यक्तियों के जीवन में तो यह

और भी सत्य और भी सजीव हो उठता है। देवेन्द्र अत्यन्त भावुक प्रकृति का व्यक्ति था। गौरी भाभी की गोद में मुँह छिपाकर सारे जीवन में वह भावों का प्राधान्य मानना ही तो सीखा था, यही कारण था कि वह शक्ति की ओर आकर्षित होता गया।

शक्ति बिलकुल भी भावुक न थी। वह थी कठोर बुद्धिवादिनी। किसी भी सिद्धान्त को बिना किसी तर्क के स्वीकार कर लेना उसका स्वभाव न था। किन्तु वह भी शायद इस विरोधाकर्षण शक्ति-द्वारा अथवा केवल मात्र प्रियदर्शन और मृदुभाषी होने के कारण अथवा विद्वत्ता की धाक से कुमार की ओर आकर्षित हो उठी। भिन्नता केवल इतनी ही थी कि प्रोफेसर साहब अपने ढेर सारे कामों के बीच लेटे या बैठे हुए शक्ति के विषय में सोचते रहते थे। ऐसा करने से उन्हें आनन्द मिलता था, ठीक वैसा ही आनन्द जैसा कि चाय पीने की आदत जिसे हो उस मनुष्य को समय पर चाय पीने से होता है, किन्तु शक्ति को इतना समय नहीं मिलता था। किसी दिन आधी रात को बिस्तर पर लेट कर वह चुपचाप कह पाती थी—"कैसा अशुभ था वह दिन, जिस दिन ढेर सारा रूप, ढेर सी विद्या और बुद्धि लेकर तुम मेरे जीवन में आये थे, कुमार! किसी दिन तो जीवन में मैंने सुख पाया नहीं, शान्ति भी नहीं पाई······आज नीरस जीवन में अचानक अशान्ति उत्पन्न करने तुम क्यों आ गये? यदि आये ही थे तो इतना विशाल भाव भरा हृदय तुम्हें विश्व-नियन्ता ने दिया ही क्यों था?············" बहुत कुछ सोचते सोचते शक्ति की छाती में शूल सा उठने लगता। चाँदनी रात में दूध सी फैली चाँदनी को मानो पैरों से राँदती हुई शक्ति उठ खड़ी होती और छत के—ओदी सी

छत के—एक सिरे से दूसरे सिरे तक दौड़ती हुई सी घूमने लगती। उसका नन्हा सा भइया पिछले तीन वर्षों से रोगी है। उसका रोग तो न जाने क्या है, किन्तु आठ वर्ष का यह बालक दिन दिन पीला ही पड़ता जाता है, ज्वर भी प्रायः आ ही जाता है । पिछले वर्ष माँ की मृत्यु हो जाने पर जब वह बहुत रोने लगा तो शक्ति चिल्ला उठी थी—"तू भी मर जा, तेरा भी तभी कल्याण होगा।" बहिन—एकमात्र अभिभावक—का कठोर स्वर सुनकर शक्ति का दूसरा भाई—बारह वर्ष का बालक फूट फूट कर रो न सका था, केवल बरबस आने वाली हिचकियों को रोकने का यत्न करने लगा था । शक्ति इतनी कठोर क्यों हो गई ? नारी होते हुए भी उसके हृदय की समस्त ममता, समस्त वात्सल्य क्यों असमय में ही सूख गया ? इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिये असंख्य मानव-हृदयों का इतिहास पढ़ना पड़ेगा। न होगा तो हम फिर किसी समय फुरसत से करेंगे। हाँ, तो घूमते घूमते शक्ति की दृष्टि जब कभी अपने रोगी भाई के पीले मुख की ओर पड़ जाती तो उसे चाँदनी रात भयंकर सी लगने लगती । उसकी इच्छा होती कि वह चाँदनी किसी घोर अमावस्या की काली निशा के अन्धकार में डूब जाये। वह पीला सूखा हुआ मुख, उसे दिखाई न दे। वह जोर से अपनी आँखें मींच कर जलती हुई सी बिस्तर पर आ पड़ती, यद्यपि बिस्तर पर बिछी एकमात्र फटी दरी में से मानो निकलने वाली ज्वालाएँ उसके शरीर को झुलसाने लगतीं । वह कह उठती—"ओर कुमार देखो......वेदना......देखोगे ?...... ओह!"

फिर भी वह अपने आपको बुद्धिवादी कहती है। उसे गर्व है कि

वह भावुक नहीं है। कौन जानता है, घनीभूत वेदना ही मानव को भावुक बना देती है और वही तर्क-प्रिय भी। शक्ति की रातें अकसर बिना सोये ही बीत जाती थीं, जब कि कुमार की रातें सदा ही सुख-स्वप्न में व्यतीत होती थीं, जब कि वह अपने छात्रों को कभी पढ़ाता होता था और कभी शक्ति के साथ वाद-विवाद करता।

उस दिन जब कुमार कक्षा में पहुँचा तो केवल शक्ति ही बैठी हुई थी। एम० ए० की कक्षा में मनोविज्ञान लेने वाले कुल चार ही तो विद्यार्थी थे। तीन लड़के और एक शक्ति। आज अन्य तीनों ही विद्यार्थी छुट्टी पर थे। एक बीमार था और शेष दो हाकी के फाइनल की तैयारी में लगे रहने के कारण प्रोफेसर कुमार से छुट्टी ले गये थे। जब कभी कोई ऐसा अवसर आता था तो प्रोफेसर देवेन्द्र कुमार घबरा जाते थे; यद्यपि वह ऐसे अवसरों की सदा ही उत्सुकता से प्रतीक्षा किया करते थे। शक्ति आज कुछ अनावश्यक रूप से उदास थी। कालेज भी वह प्रायः आज तीन चार दिन पश्चात आई थी। प्रोफेसर देवेन्द्र कुमार ने कुछ हिचकिचाहट के साथ पूछा—"शक्ति, आज तो कुछ विशेष बात जान पड़ती है। तुम पिछले चार पाँच दिन कालेज भी नहीं आई। तबीयत तो अच्छी है न?"

शक्ति की बड़ी बड़ी काली आँखों में आँसू भर आये। जान पड़ा कि वह मन ही मन घने अन्तर्द्वन्द्व में फँसी हुई है। होठों की मरोड़ दो बार हुई और फिर कुछ बिखरे से स्वर में शक्ति ने कहा—"तबीयत ठीक ही है प्रोफेसर कुमार।" स्वर में भारीपन था।

"कालिज क्यों नहीं आई इतने दिन तक?" कुमार ने स्नेहमय स्वर से पूछा।

शक्ति कुछ देर तक प्रोफ़ेसर देवेन्द्रकुमार की उज्वल नीले रंग की टाई की ओर स्थिर दृष्टि से देखती रही, फिर एक दम उचटते से तीव्र स्वर में धीरे धीरे बोली—"मेरा भाई मर गया।" इस बार शक्ति की आँखों में आँसू न थे, वरन थीं अग्नि-ज्वालाएँ। देवेन्द्र-कुमार आश्चर्य्य-चकित हो गये। उन्हें विश्वास ही नहीं होता था कि कोई बहिन, अनाथ बहिन, इतने सहज में ही सूखी आँखों भाई की मृत्यु के तीसरे चौथे दिन ही उस की मृत्यु का समाचार कह सकती है। उनकी आँखें—भावुक आँखें—भर उठीं।

अत्यन्त कष्ट में उन्होंने भीगे स्वर में पूछा—"उसे हुआ क्या था शक्ति?"

शक्ति कुमार के स्वर की वेदनापूर्ण ध्वनि पर हँस पड़ी—"मृत्यु के लिये कुछ होना भी होता है क्या, प्रोफ़ेसर साहब? वह बहुत दिनों से रोगी था। उसे जीवन का रोग था। जीवन उसके लिये भयानक हो उठा था। ठीक ही हुआ वह मर गया।" स्वर सहज होते हुए भी मृत्यु की भाँति शीतल था। इतने समीप मृत्यु की सी भयंकर शीतलता देख कर प्रोफ़ेसर देवेन्द्रकुमार काँप उठे पर उन्हें शक्ति से और भी अधिक सहानुभूति हो उठी। "कैसी दुखी, पर कितनी आकर्षक है यह लड़की। बेचारी के भाई की मृत्यु······"कुमार मन ही मन कह रहे थे।

"कुमार साहब कई बार पूछ चुके हैं, आज सुनेंगे मेरी कहानी?" वाक्य कानों द्वारा प्रविष्ट होकर कुमार के हृदय में जा टकराया।

"सुनाओ शक्ति" उन्होंने अत्यन्त आग्रह के स्वर में कहा।

"बहुत दिनों से हृदय के भीतर एक भाव जमता जा रहा है।

लाइए आज इसे निकाल बाहर ही करूँ।" कुछ देर शून्य की ओर ताकती रह कर एक से स्वर में शशि कहने लगी—"मैं और मेरी कहानी ? अच्छा हाँ, तो हमारा एक घर था—सुन्दर, दूर देहात में—रेलवे स्टेशन से कोई दस बारह मील परे हमारा कसबा था। उस में हम एक अधकच्चे-पक्के घर में रहा करते थे। अभी आठ वर्ष की ही तो बात है तब मैं लगभग दस वर्ष की थी। मेरे पिता दो भाई थे। बड़े भाई कुछ विशेष पढ़े-लिखे न थे। आसामियों पर खूब रोब था। गाँव वालों पर अच्छा-खासा दबदबा था। नाम तो न बताऊँगी। किन्तु गाँव भर में कोई भी उस नाम से अपरिचित न था, यहाँ तक कि कई लोग तो दबी जुबान से यहाँ तक भी कह जाते थे कि उनका रसूक बड़े बड़े डाकुओं और बदमाशों से है। छोटे भाई—मेरे पिता—खूब-पढ़े लिखे थे, शहर में रह कर उन्होंने कृषि कालेज से बी० ए० पास किया था। बुद्धि कुशाग्र और धर्म-ज्ञान भी उन्हें विशेष था। कभी कभी तो गाँव की दुर्दशा, फूट और देहाती मनोवृत्ति पर वह बहुत ही खीझ उठते थे। सब कुछ तो याद पड़ता नहीं, मैं तब बालिका ही तो थी, पर वह न सिर्फ मुझे और मेरे दो वर्ष के भाई को जो मुझ से आठ वर्ष पश्चात हुआ था, वरन मुहल्ले भर के सब ही बच्चों को बड़ा प्यार करते थे। मेरे जन्म के छै सात साल बाद भी जब माँ को कोई पुत्र न हुआ तो वह कभी कभी बड़ा ही खीझ उठती थी, पर पिता सदा ही हँस कर कहते थे "और किस का लड़का है ? वह क्या अपना लड़का नहीं है ?" जगदीश मेरे ताये का पुत्र था। माँ उतनी उदार न थी। वैसे भी जगदीश पर उनका कुछ विशेष स्नेह न था। गाँव

भर पिता की सज्जनता और उनके शील-स्वभाव पर मुग्ध था। किसी घर में कोई बीमार पड़ जाता तो निस्संकोच भाव से पिता की पुकार होती थी। मरने, परिणय और सारे ही कामों में पिता की सलाह आवश्यक मानी जाती थी। सब कुछ होने पर भी दोनों भाइयों में विशेष न बनती थी। पूर्वजों के समय का पुराना मकान था, बहुत बड़ा न होने पर भी हम दो परिवारों के लिये पर्याप्त था। मेरे जन्म के कुछेक वर्ष पश्चात तक तो दोनों भाई सम्मिलित रूप से ही रहते थे। यहाँ तक कि हर प्रकार की सम्पत्ति भी सम्मिलित ही थी, किन्तु न जाने क्यों मेरे जन्म से कुछ वर्ष बाद एक घर में ही दो घर बन गये। नीचे के हिस्से में बीच में आँगन छोड़ कर तीन ओर कमरे थे। एक ओर रसोई घर, गाय की तूड़ी रखने का कमरा और एक बरोठा था, द्वार के ठीक सामने आँगन लाँघ कर एक बरामदे के पीछे तीन छोटे छोटे कमरे थे और तीसरी ओर केवल दो कमरे और एक कोने में नल लगा हुआ था। आँगन में एक दीवार खींच कर यह भाग ही हमें मिला था। ताया जी ने अपने भाग में आँगन में नया नल लगवा लिया था। ऊपर के भाग में भी दो छतें थीं, तीसरी छत शौचादि गृह के काम आती, वह दोनों परिवारों की सम्मिलित थी। प्रत्येक छत पर एक एक कच्चा कमरा था। एक एक छत, एक एक परिवार को मिली थी। नीचे के भाग में थोड़ी सी जगह घेर कर माँ ने रसोई बना ली थी। ताया के परिवार में उनकी पत्नी के अतिरिक्त एक विधवा साली और चार बच्चे भी थे, यही सोच कर पिता ने इस बटवारे को मान लिया था। बटवारे के समय हमारे परिवार में हम तीन ही व्यक्ति

थे। मेरे छोटे भाई के जन्म लेने पर भी पिता ने अधिक जगह नहीं चाही। वह थे ही बड़े शान्त प्रकृति के। जगदीश ताया का सब से बड़ा लड़का था। पिता के पास ही सारे दिन रहता था। बड़ी कठिनाई से रात को भी वह अपने घर जाता था। खाना-पीना सब हमारे पास ही होता था। यहाँ तक कि कभी कभी तो ताई कहा करती थी कि यह लड़का तो रामचन्द्र ने ही गोद ले लिया है।

हमारे चार कुएँ थे और काफी जमीन थी। गेहूँ मकी दालें आदि घर की आवश्यकता के लिये रख कर भी साल में दो चार हजार बारह सौ की बिक्री हो जाती थी।

सब कुछ होते हुए भी गाँव में पिता के शत्रुओं की कमी न थी। और शत्रुता की गाँठें भी दिनों दिन बढ़ती जाती थी। माँ की सुनाई हुई कुछ बातें मुझे आज भी याद हैं। मैं उस समय शायद पाँच वर्ष की थी। मेरी माता का मायका भी गाँव में ही था। उनके चचेरे भाई की लड़की का विवाह था, हमारी ताई के चचेरे भाई के लड़के के साथ। लड़का पास के गाँव का ही था, दिये जले पीछे बरात आई, किन्तु न जाने कहाँ से लड़के वालों ने एक नया ही झगड़ा खड़ा कर दिया। मेरा मामा चरित्रवान नहीं था, अपने गाँव की बहू-बेटियों को तो नहीं छेड़ता था, पर मौका लगते ही बाहर की लड़कियों को छोड़ता न था। चार पाँच वर्ष पूर्व वर की मौसी की ननद हमारे गाँव में किसी अपने रिश्तेदार के घर आई थी और वहाँ कहीं मेरा चरित्रहीन मामा उसे छेड़ बैठा था। तब तो मामला ज्यों त्यों ही रफा दफा कर दिया गया था, किन्तु अब जब उस ने वधु के पिता को पहचाना तो अकड़ गई कि इसका बदला जरूर लूँगी, नहीं तो विवाह

नहीं होने दूंगी। फिर क्या था झगड़ा उठ खड़ा हुआ। कन्या के पिता मेरे ताया जी के पक्के मित्र थे। ताया जी सारी घटना ग़लत सिद्ध करने का यत्न कर रहे थे। पिता जी चुप ही थे, बोलने से किसी न किसी पक्ष के अप्रसन्न हो जाने का डर था। अन्त में फ़ैसला हुआ कि यदि पंच यह मान लें कि घटना वास्तव में सच्ची है तो कन्या का पिता विवाह के समय उपस्थित न हो, कन्या-दान भी माँ ही करे। दण्ड कठोर था, किन्तु और उपाय ही क्या था। पंच चुने गये। पिता की इच्छा के विरुद्ध वह भी एक पंच बना दिये गये। पिता के अतिरिक्त तीन व्यक्ति और थे, एक ताया जी और दो और वयोवृद्ध। मामा को पिता और ताया जी दोनों पर ही पूरा विश्वास था, पर ताया जी की इच्छा और शक्ति के विरुद्ध भी फ़ैसला उनके विरुद्ध हुआ। किसी को कुछ कहने का साहस तो न हुआ, पर तीसरे दिन रात को माँ ने पिता से कहा—"सब से वैर तो बिसा बैठे हो, अब कोई और जगह ढूँढो। "क्यों ?" आश्चर्य से पिता ने कहा। "भइया को तुम जानते ही हो, कुछ ऐसे-वैसे आदमी नहीं हैं; उनकी तो तुमने साले होकर अच्छी पत रखी। पगड़ी धूल में ही मिलवा दी। मुझे भी कहीं मुँह दिखाने योग्य न रखा। उधर जेठ जी अलग बिगड़ रहे हैं, जिठानी के ताने तो सुने नहीं जाते। कुछ होकर रहेगा। मुझे तो बड़ा डर लगता है।" पिता सरल भाव में हँस पड़े—"शक्ति की माँ, यही साहस लेकर बेटी का नाम शक्ति रखने चली थीं। अरी पगली, मैं तो पंच था, न्याय करना मेरा काम था। उस समय मैं किसी का रिश्तेदार मित्र थोड़े ही था, फिर दूसरे दिन ही मैं खुद उन से क्षमा माँग कर आया और फिर उनकी इज्ज़त गई तो मेरी पहले

गई, पर किसी भी डर से न्याय छोड़ना मेरे बस का नहीं। तुझे डर ही क्या है ? रहा भाभी का कहना, वह तेरे कोई चिपट तो गया ही नहीं।" माँ फिर कुछ बोली नहीं, किन्तु उस दिन से रहती बड़ी ही चौकन्नी थी। तीन वर्ष और इसी प्रकार बीत गये, वैर-विरोध भी बढ़ता ही गया। बात बात में रगड़े-झगड़े—चुगली-चोरी तो गाँव में साधारण सी बात थी। आज दिन भी जब हमारे देश के आदर्श गाँवों की बांग लगाते हैं, तो सच मानिये अपने गाँव का, उसके वासियों की घृणित, बीभत्स मनोवृत्तियों का चित्र मेरे सम्मुख खिंच जाता है। इसी बीच मेरा एक और भाई भी हो गया।

"मेरी माँ बड़े ही कठोर स्वभाव की थी, सहनशीलता तो उनमें नाममात्र को भी न थी, साधारण स्त्रियों की भाँति प्रेम के बदले प्रेम और घृणा के बदले घृणा ही देना जानती थीं, पिता के यश का भी उन्हें अभिमान था। शायद उसमें अपना कुछ भाग भी समझती हों। सरल तो इतनी थीं कि कोई भी उन्हें चार मीठे शब्द कह कर उनका सर्वस्व हरण कर सकता था, पर कठिन इतनी थीं कि अपने भाग का एक तिनका भी जेठ की ओर रह जाने नहीं देना चाहती थीं। उसके विरुद्ध पिता सदा ही कहते थे, बड़े भइया को दो तिहाई मिलना चाहिये, न्याय से उनका परिवार जो बड़ा है। पर माँ जोर-जबरदस्ती किसी न किसी प्रकार अपना भाग ले ही लेती थीं, यही कारण था कि देवर पर सहज स्नेह होते हुए भी ताई की माँ पर तनिक भी कृपादृष्टि न थी। माँ में आत्म-सम्मान की भी कमी न थी। किन्तु जितना उसका भाव था, उतनी उसकी रक्षा करने की क्षमता तो थी नहीं, अतः प्रायः सदा ही झगड़े हुआ करते थे। पिता न होते तो शायद झगड़ों का रूप

अत्यन्त कठोर हो उठता ।

शक्ति एकाएक चुप हो कर कुमार के मुख की ओर एक टक देखने लगी ।

"कहो, कहो शक्ति चुप क्यों हो गई !"

"मैं तो अपने सड़े घाव की पीप निकाल रही हूँ, किन्तु आप कहीं ऊब तो नहीं उठे ?"

"नहीं, नहीं, तुम कहे जाओ, कहे जाओ शक्ति, मैं सुन रहा हूँ !" भावुक देवेन्द्र कुमार गहरी भावुकता से कह उठे ।

"तब ठीक है !" कह कर शक्ति ने एक गहरी साँस ली । उसका सहज श्यामल मुख और भी काला हो उठा था । "झगड़े बढ़ते ही गये । एक दिन पिता को शहर जाना था रात को दस बजे के बाद गाड़ी स्टेशन से चलती थी । घर से तो ९ बजे से कहीं पहले चल देना पड़ता था । माँ न जाने क्यों उस दिन घबरा सी गई, बार बार पिता को कहती रही कि आज न जाओ । पिता ने गाँव में नई लाइब्रेरी स्थापित की थी । पुस्तकें कुछ खरीदने, और कुछ किसी ने दान दी थीं उन्हें लेने, उस दिन ही जाना था । दिन भर में काम समाप्त करके दूसरे दिन लौटना भी तो था । पिता नहीं माने । उलटे माँ की हँसी करने लगे । माँ किसी प्रकार भी हँसी नहीं सह सकती थीं, किन्तु उस दिन उन्होंने बड़ी दीनता से मिन्नत की, पर पिता अपना काम किसी प्रकार भी नहीं छोड़ सकते थे । समझा-बुझा कर चले गये । दूसरे दिन अच्छी प्रकार दिन निकलने से पूर्व ही समाचार मिला कि पिता गिरफ्तार हो गये हैं । स्टेशन जाते हुए उन्होंने मार्ग में किसी का खून कर दिया है । उन पर हत्या का मुकद्दमा चलेगा । माँ गर्भवती थीं । समाचार सुन कर अचेत हो कर

गिर पड़ीं। चेत आने पर भी बड़ी देर तक रोती रहीं। रोने के अतिरिक्त और कर भी क्या सकती थीं। हमारी ताई भी आकर बड़ी देर तक सेवा करती रही, पर प्रायः बोली एक शब्द भी नहीं। सन्ध्या से कुछ पहले गाँव के नाते की एक चाची माँ के पास आई। उसने ग्रामीण अलंकारिक भाषा में जो कुछ सुनाया, वह आज आठ वर्ष बीत जाने पर भी मैं एक क्षण के लिये भी नहीं भूल पाई हूँ। बात यूं थी कि उसकी युवती सुन्दरी लड़की अपने ससुराल से किसी बात पर लड़ झगड़ कर सड़े साँझ ही घर से अपने मायके की ओर चल पड़ी थी। उसका पतिगृह हमारे गाँव से दूसरे गाँव में कोई चार मील की दूरी पर था। साथ में उसकी पड़ोसिन थी, जिसे अपनी बहिन के घर हमारे गाँव में आना था। दोनों ही युवती थीं, और थीं सुन्दर। गँवई गाँव में रात-बिरात भी कोई डर नहीं होता। दोनों हँसती बोलती चली आ रहीं थीं। अभी गाँव से कोई दो मील की दूरी पर होंगी कि दो गुण्डे पीछे लग गये। दबी जुबान से चाची तो यहाँ तक कह गई कि वह गाँव के ही जाने-बूझे लोग थे। पहले तो ये दोनों गाँव की ओर तेजी से चलीं, किन्तु शीघ्र ही उनका अत्याचार बढ़ गया। इसी समय मेरे पिता मार्ग में जाते दीख पड़े। चाची की लड़की उन्हें पहचान तो न पाई, दूर से ही चीख उठी—"भइया, बचाओ।" पिता जोर से एक दम जोर से चिल्लाए—"कौन हो, बिटिया, किधर हो?" साथ ही उनकी दृष्टि भी उन चारों व्यक्तियों पर पड़ी। पिता लड़कियों के समीप पहुँच कर बोले—"अच्छा शोभा बिटिया है, चल गाँव जा रही है, पहुँचा दूँ।"

इतने में ही एक गुण्डा बोल उठा—"रामचन्द्र बाबू अपनी राह

जाओ, बिन्नू को हम ही पहुँचा देंगे।"

"ऐसे ही होते कल्ला तो बिटिया को चिल्लाना ही क्यों पड़ता ? चलो बिटिया।" कह कर पिता गाँव की ओर लौट पड़े। लड़कियाँ भी आगे आगे चलीं। शिकार निकल जाने पर कल्ला खिसिया उठे।

"गाली देते हो राम चन्द्र तो दो दो हाथ लो कर लो।"

"मैंने गाली कब दी कल्ला ?"

"अच्छा तो लो अब दे देना" कह कर अपनी तेल दी हुई भोज पुरिया लाठी का एक पूरा हाथ उसने पिता की खोपड़ी पर जमाना चाहा। हाथ उचट गया। लाठी पड़ी कन्धे पर। पिता भी अच्छे कसरती जवान थे। हाथ में कुछ न था, स्वरक्षा के लिये दौड़ने लगे। लड़कियों को भी साथ ही दौड़ना था, इसलिये तेज दौड़ भी न सकते थे, केवल चिल्ला चिल्ला कर उत्साहित करते थे, "शोभा बिटिया, गाँव में दौड़ जा दौड़ जा।" मील एक पार करके लड़कियाँ हाँफ गईं, पिता भी ठहर गये। सामने ही एक हरवाहे की लाठी पड़ी थी। अपनी रक्षा के लिये वही उठा कर पिता बोले—"कल्ला, माफ करो, इन बातों में क्या रक्खा है ? बहू-बेटी सब की बराबर।"

वह उत्तर में गाली देते हुए बोला—"तेरी लड़की न भगाई तो बात क्या ? और यह शोभा छोकरी मुझ से बच कर जायेगी कहाँ ?" डर से शोभा पीली पड़ रही थी। पिता कुछ कहने ही वाले थे कि भोजपुरी लाठी फिर अपनी ओर आती दिखाई दी। अपनी रक्षा के लिये पिता ने भी लाठी का एक हाथ जमाया। दुर्भाग्य से लाठी का पूरा हाथ कल्ला की कनपटी पर पड़ा, कल्ला वहीं ढेर हो गया। उसका साथी पिता से लड़ता रहा। दोनों ने चोटें खाईं फिर एकाएक न जाने

क्या सोच कर गाँव के थाने की ओर भाग गया खून से लथपथ। शोभा तब तक अचेत सी खड़ी थी। अब सचेत होकर पिता के पैर पकड़ लिये।

"चाचा, मेरे पास दस रुपये हैं और ये जेवर ले लो और तुरन्त भाग जाओ। एक तो यह मर ही गया है, दूसरा तुम्हें अदालत में खड़ा किये बिना मानेगा नहीं।"

पिता की इच्छा कल्ला की हत्या करने की कभी न थी। वह स्वयं निर्दोष थे। शोभा को उठा कर बोले जैसे कुछ हुआ ही न हो। "शोभा बिटिया, गाँव मील भर और है, चलो तुम्हें घर पहुँचा दूँ। गाँव वालों को खबर देकर कल्ला की अन्त्येष्टि क्रिया भी तो करनी है।"

"चाचा, तुम भाग जाओ। कैसे चचा हो मेरे। तुम भाग जाओ।" शोभा रो पड़ी।

"पगली न बन शोभा, मैंने कौन-सा पाप किया है जो भाग जाऊँ, बिटिया ?"

"तो भी कौन जानता है क्या हो, वे बड़े बुरे लोग हैं।"

बिटिया मैंने तो कुछ बुराई की नहीं। ऊपर भगवान है और नीचे न्याय। मुझे किसी का भी डर नहीं है और यदि न्यायालय निर्दोष को ही दण्ड दे देगा, तो भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि ऐसे व्यक्ति की हत्या करके दण्ड पाना भी कोई पुण्य ही है पाप नहीं। अगर मुझे दण्ड मिले भी तो तुम मेरी शक्ति से कह देना बिटिया कि नारी की लाज बचाने के कारण उसके पिता को संसार के न्यायालय में दण्ड मिला है। अब चलो तुम्हें पहुँचा दूँ, बारह बजने में अधिक देर नहीं है। शायद जल्दी ही मैं गिरफ्तार कर लिया जाऊँ।" शोभा

ने चुपचाप एक बार और चाचा के चरण छू लिये। तीनों चले ही थे कि थोड़ी दूर पर ही पिता गिरफ्तार कर लिये गये। वह व्यक्ति, जो भाग गया था, पुलिस बुला कर लाया था।

सुन कर माँ केवल एक बार काँप कर ही रह गई थी, किन्तु छोटी होने पर भी मैं बोल उठी—"माँ मत रो, पिता बहादुर हैं।" उसके बाद की हमारे भाग्य जीवन की कथा थोड़ी सी ही और है। मुक़दमे का स्वांग किया गया। विपक्ष में सैकड़ों गवाह थे जो प्रमाणित कर रहे थे कि मेरे पिता से मृत व्यक्ति की शत्रुता थी। पक्ष में हमें शोभा के अतिरिक्त कोई भी अन्य साक्षी नहीं मिला। सारा गाँव सच्ची घटना जानता था, पर कोई भी पक्ष में कहने को तैयार न हुआ, यहाँ तक कि मेरे ताया जी भी तैयार नहीं हुए। ताई ने जब बहुत रोआ पाई मचाई तो ताया झल्ला कर कह उठे "एक तो रांड होने को बैठी ही है, तुझे भी देवर का बड़ा दर्द है कि तू भी रांड होना चाहती है। जा बैठ चुप करके, आई बड़ी कहीं से चल कर न्याय वाली।" शोभा के घर वाले भी नहीं मानते थे, पर शोभा मानने वाली न थी। लड़ झगड़ कर गवाही देने पहुँच ही गई। पर धन्य रे न्याय का स्वांग, सत्य वहाँ आश्रित है केवल मात्र गवाहों पर ही, साक्षियों पर ही। बलिहारी है न्याय की। पिता को साक्षियों के अभाव में जन्म-कैद हो गई। अन्तिम बार जब माँ उनसे मिलने जेल गई। तो वह मुस्करा रहे थे। प्रोफेसर साहब कितने साहसी, कितने धैर्यवान थे वह! जिससे स्वतन्त्रता की सांस छीन ली गई हो अन्याय पूर्वक, वह स्वागत करता है जन्म भर के वियोग से पूर्व अपनी जीवन-सहचरी का मुस्कान से। उन्हों ने दृढ़ता से कहा—"शक्ति की माँ, रोना मत—तुम शक्ति की

माँ हो न ! और क्या कहूँ समझ लेना तुम विधवा हो गई। वैसा हो जाने पर भी तो कोई उपाय निकालती ही न, वही करो और क्या कहूँ ? भइया पर विश्वास करना और हाँ बड़ी होने पर शक्ति से कह देना कि उसका पिता न्याय की हत्या का शिकार हो गया। गाँव में उस दिन शायद किसी भी भद्र गृह में चूल्हा नहीं सुलगा। पर कितने डरपोक, कितने भीरू थे ग्राम वासी।"

सचमुच ही भावहीन, कठोर शक्ति की दोनों आँखें बह चलीं। प्रोफेसर देवेन्द्र कुमार में तो हिलने की शक्ति न थी। इसी बीच कई बार वह आँखें पोंछ चुके थे। शक्ति सम्हल गई। आँसू पोंछ कर फिर कहने लगी—"दो वर्ष बाद जब कारागार की कठिन दीवारों के भीतर वह महान आत्मा हैजे के आक्रमण से बिना किसी दवा या देख-भाल के ही विश्वात्मा में मिल गई, तो सृष्टि के किसी व्यक्ति ने भी जाना-समझा नहीं कि कितनी महान आत्मा इस विश्व से चली गई। आज भी उनकी सौम्य मूर्त्ति मैं भुला नहीं पाती, कितने महान थे वह। पिता के पक्ष में गवाही देने के दो मास पश्चात ही शोभा का चार वर्ष का बालक गली में खेलता हुआ ही उड़ा लिया गया और दूसरे दिन शहर से बाहर अधमरा पड़ा पाया गया। लोग जानते थे, समझते थे, पर मुख से एक शब्द भी नहीं निकाल सकते थे। सब के घर धन था, जन थे, बाल बच्चे थे, लड़की वाली थीं। शोभा तब रोई, बहुत रोई पर धन्य है वह लड़की। गाँव भर में वही एक मनुष्यात्मा थी। अधमरे लड़के की पट्टियाँ करके गोद में लेकर कह ही तो बैठी—"एक लड़का ही तो है मार डालो, मारना चाहो तो, पर जो सत्य मैं चाचा के निकट पा सकी हूँ उसे

तो कोई छीन लेगा नहीं। न्याय भले ही उन्हें जन्म-क़ैद दे डाले पर जो न्याय से भी ऊँचे हैं—न्याय से भी सत्य है, वह उस न्याय के स्वांग को कभी भी क्षमा नहीं कर सकेंगे।" चाची, शोभा, की माँ झट पट बोल उठी—"बिटिया चुप रहो—बड़े पतले दिन हैं आपने, किसी तरह काट लो। अधिक वैर बढ़ाए कहीं गुज़र होता है।" पर शोभा चुप न रह सकी, "अम्मा, जब डरती थी, तब डरती थी अब देख देख चुकी हूँ मनुष्य प्राण कैसे देते हैं—प्राण देने वालों के मुख पर भगवान का तेज होता है, आत्मा में ज्योति। चाचा का किसी ने क्या बिगड़वा लिया जन्म-क़ैद करवा कर। काला मुँह तो हुआ करवाने वालों का ही।" चाची चुप हो रही। शोभा का लड़का अच्छा न हुआ। मर गया।

हमारी भी बुरी दशा थी। साल में जहाँ गुज़र-बसर करके हज़ार बारह सौ हाथ में आ जाते थे वहाँ अब अन्न की भी कमी होने लगी। मेरी माँ औरत जात, मैं दस साल की बच्ची। एक भाई दो वर्ष का और दूसरा पिता के दण्ड के तीन मास बाद जन्मा। माँ के सगा तो कोई भाई था ही नहीं, चचेरे भाई से पहले ही बिगड़ चुकी थी। ताया पर ही सब प्रकार से आश्रित रहना पड़ता था। और कहीं ठौर-ठिकाना भी तो न था। माँ के पास दो हज़ार रुपये नक़द और हज़ार दो हज़ार के ज़ेवर थे। भारी ज़ेवर ताया के पास ही रहा करते थे। फ़सल खड़ी खड़ी ही खेत में बिक जाती थी। कभी कभी बहुत कहने सुनने पर बोरी दो बोरी गेहूँ और दस पाँच सेर मूँग आ जाते थे। माँगने पर भी न रुपया ही बिके हुए अन्न का मिलता था और न अन्न ही। माँ यह सब कुछ सह ही न पाती थी। पहले जेठ से पर्दा करती

धीरे धीरे पेट की अग्नि और मन की ज्वाला ने कोसने और गालियाँ देने को विवश कर दिया। यहाँ तक कि नौबत खुलमखुल्ला लड़ने की भी आ गई। अब तो हर तीसरे चौथे दिन ही महाभारत मचता था। ताई न्यायप्रिय स्त्री थीं। किसी अन्य के मुख का ग्रास अपनी कोठार में भरना नहीं चाहती थीं, इसीलिये कभी कभी पति से झगड़ भी पड़ती थीं, किन्तु उनकी ताया सुनते ही न थे। अधिक से अधिक जगदीश के हाथ कभी कभी आवश्यक चीजें हमारे घर भेजतीं रहती थीं। उन्हें मेरे पिता के लिये भी हार्दिक दुख था। मैं दस वर्ष की ही थी, किन्तु कोई सम्बन्धी आश्रय ढूँढने के लिये माँ ने मेरा विवाह करना चाहा। बेचारी मेरी माँ, मेरी अभागिनी जननि गाँव भर के लड़के वालों के द्वार पर सिर पटक आई, किन्तु ताया जी के डर से किसी ने भी उसे अभयदान नहीं दिया। हर जगह से लाञ्छित अपमानित होकर लौटने पर माँ मेरे प्रति अधिकाधिक कठोर होती गई।

इसी बीच एक दिन ताया ने साफ कह दिया, "जमीन जायदाद मेरी है, रामचन्द्र का उस पर कोई अधिकार था ही नहीं। दो रोटी खानी हो तो पड़ी रहो। जमीन जायदाद का स्वप्न देखना हो तो यहाँ जगह नहीं है। यह घर तक खाली करवा लूँगा।

ताई रोने लगीं। पर माँ ने घूंघट की ओट से दर्प से कहा—"सो सब देख लूँगी। औरत समझ कर जुल्म न करना। औरत हूँ तो क्या, अदालत चढ़ कर पाई पाई धरवा लूँगी।" पर सो सब कुछ न हो सका। माँ को विश्वस्त सूत्र से पता लग गया कि उनके जेठ ने जमीन सब अपने नाम करवा ली है। अब उन्हें जेठ की कृपा के बिना

अन्न का दाना भी नहीं मिलेगा। मेरी माँ कोई साधारण स्त्री न थी। दूसरे दिन ही उसने हाकिम के पास जाकर रोने की स्कीम तैयार कर ली। पर रात को ही शोभा ने आकर समाचार दिया कि अब की मेरे दोनों भाइयों की बारी है। माँ के अदालत की ओर पैर धरते ही हम तीनों भाई बहिनों को समाप्त कर दिया जायेगा। खबर पक्की थी। मेरी साहसी माँ सब कुछ सहती और दृढ़ता से सामना करती रही थी, किन्तु अब सह न सकी। घबरा कर उसने उसी रात बच्चों सहित गाँव छोड़ने का निश्चय कर लिया। रातों रात शोभा का भाई उसे स्टेशन तक छोड़ आ कर रात में घर सोयेगा, यही निश्चय हुआ। बेचारी अभागी सधवा, केवल मात्र चार हजार की पूँजी लेकर, एक छोटी सी गठरी लिये, एक बच्चे को गोद में लिये, और मेरा हाथ पकड़े, सड़क पर आ खड़ी हुई, जब सृष्टि भर सुख-निद्रा सो रही थी। एक भाई शोभा के बड़े भइया की गोद में था।

स्टेशन दूर से ही दीख पड़ने पर शोभा के भाई माँ के चरण छू कर बोले—"चाची, क्षमा करना, स्टेशन पर कोई गाँव वाला पहचान न ले। अब जाता हूँ।"

"जाओ भइया, भगवान भला करे।" कहते कहते माँ का कण्ठ रूँध गया। शोभा के भाई के जाते ही माँ रोने लगी। मैं भी रोने लगी। पर डर के मारे हम अधिक देर तक रो भी तो न सकते थे। स्टेशन पर पहुँचते ही गाड़ी ने सीटी दी। बिना टिकट आदि लिये ही माँ जबरन हमें ढकेल कर एक कम्पार्टमेण्ट में जा बैठी। वही गाड़ी हमें अपने आप इधर ले आई। रात भर हम गाड़ी में चुपचाप बैठ रहे। प्रातः काल गाड़ी इसी स्टेशन पर आ कर खड़ी हो गई।

सब यात्री उतर गये। गाड़ी फिर भी चली नहीं। एक मेहतर ने आकर कहा—"माई उतर जाओ। शहर जाना नहीं है ?"

"गाड़ी अब चलेगी नहीं क्या ?" माँ ने फटी फटी आँखों से देखते हुए पूछा।

मेहतर हँस पड़ा। माँ हमें लेकर उतर आई। बड़ी देर तक हम स्टेशन के एक बेञ्च पर ही बैठे रहे। दिन भर के भूखे-प्यासे। सन्ध्या को नन्हा माँ को रोटी के लिये तंग करने लगा, पर माँ शायद सुनती ही न थीं, एक वृद्ध कुली यह तमाशा देख कर हमारे निकट आ गया।

"घर न जाओगी माँ ?" उसने सहानुभूतिमय कण्ठ से पूछा।

"घर कहाँ है ?" माँ ने पागलों के से स्वर में पूछा।

"तब मेरे घर ही चलो।" कुछ सोच कर उसने कहा।

"चलो।" हम सब चल पड़े। कुली का घर पास ही था। घर क्या था नरक का नमूना था। एक छोटी सी कोठरी थी कुली लाइन में, सब मिला कर कोई दस वर्ग फीट की। बाहर एक आँगन था, शायद बारह वर्ग फीट क्षेत्रफल हो। और बस। ताला खोल कर कुली बाहर खड़ा हो गया, उसका मन शायद कुछ कहने को कर रहा था, पर संकोच से कह नहीं पाता था। कुछ ठहर कर बोला—"माँ, विपत्ति में पड़ी हुई जान पड़ती हो, सफ़र से थकी हुई हो, कपड़े भी गन्दे हैं, सामान भी कुछ साथ नहीं है, फिर भी किसी बड़े घर की जान पड़ती हो। दीन दरिद्र की कुटी में रहने को तो कैसे कहूँ, पर यह तुम्हारा घर है और मैं तुम्हारा लड़का। सेवा में कमी न होगी, तुम्हारी बहू मजदूरी करके आती ही होगी। उसका बनाया खाओ तो खा लेना, नहीं आप बना लेना, सामान सब यहीं धरा है। जात का माली हूँ मैया, पर समय के फेर

से बोझा ढो रहा हूँ सो भी दो जीव हम हैं। लड़के वाले सब भगवान ने समेट ही लिये। कहता हूँ बुढ़िया से, किसके लिये हाड़ तोड़ती है, पर अभागी मानती ही नहीं; कहती है जब मैं मरूँ तो डेढ़ सौ का दुशाला उढ़ा देना। अच्छा उठो माँ, नल से बालटी पानी ला देता हूँ, नहा कर कुछ राँध-रूँध लो।"

अभी तक माँ अचानक विपत्ति का दर्शन करके हतज्ञान सी हो रही थी, पर इस अकस्मात की सहायता और अप्रत्याशित सहानुभूति ने माँ को परिस्थिति का ज्ञान करा दिया। कठोरता मनुष्य को विपत्ति में दृढ़ करती है; क्रोध, झुँझलाहट और झगड़े की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है, किन्तु सहानुभूति आँसू उमड़ा देती है। माँ रो पड़ीं। बेचारा मूर्ख कुली समझ भी न सका कि उससे क्या अपराध बन पड़ा। तरह तरह से माँ से क्षमा माँग कर उन्हें शान्त करने का यत्न करने लगा। कुछ देर तक रो चुकने के पश्चात माँ कुछ शान्त हो गईं। चेतना भी पूर्ण रूप से आ गई। धीरे धीरे बोलीं—"तुम माली हो चाहे चमार, मेरे उस जन्म के पुत्र अवश्य हो। आज यदि तुम आश्रय नहीं देते तो भला मैं कहाँ बैठती। नारायण तुम्हारा कल्याण करें।"

बेचारे मिलखू की जीवन भर किसी सफेदपोश ने इतनी प्रशंसा-चिरौरी नहीं की थी। भार सम्हालना उसे असह्य हो गया। इसी समय कहीं से एक काली-कलूटी धोती कसे—धोती भी सतरह जगह से फटी हुई—कमर झुकी, मुँह पर अवस्था से अधिक झुर्रियाँ लिये—रमिया-मिलखू की स्त्री—भी आ पहुँची। मनोविज्ञान की पंडिता तो मैं उस समय न थी, किन्तु उस पर दृष्टि पड़ते ही बुढ़िया के मुख पर जो अप्रसन्न भाव छा गया सो मुझ से भी छुपा न रहा। माँ आँगन में नंगी भूमि

पर बैठी थी और मैं अभी खड़ी ही थी। दोनों छोटे बालक भी सहमे हुए से थे। बुढ़िया ने घुसते ही कटु स्वर में कहा—"कुछ कमा कर भी लाये हो या जमाने भर के मेहमान ही जुटाते फिरते हो।" भिलखू उत्तर देने की तैय्यारी कर ही रहा था कि उत्तर दिया मेरी अभिमानिनी माँ ने—जान पड़ता है विपत्ति ने उसका स्वभाव ही बदल दिया था। इसी समय छोटा बालक भी रो पड़ा था। बालक के रुदन के स्वर में डूबती हुई सी माँ बोली—"मेहमान कहाँ के हैं बहिन? दुर्भाग्य के मारे हैं। जेठ के अत्याचारों और भगवान के विधान के अनुसार तुम्हारे द्वार आ पड़े हैं। शरण दोगी तो पड़ रहेंगे, नहीं चले जायेंगे जिधर मुँह उठेगा।"

"डूब मर, अभागी, आदमी की सूरत-शकल भी नहीं देखती। लक्ष्मी सी मालकिन घर आ बैठीं, भाग्य को नहीं सराहती, उलटी बकने लगती है; अब सुन लिया, डूब मर कहीं कुए खाई में।" भिलखू ने क्रोध से कहा।

"सो न होगा, समय आने पर मैं ही मर लूँगी। बेटा, बहू को कुछ न कह। भगवान जब दिखाने लगा है तो सब कुछ ही दिखायेगा।" माँ ने कहा।

शिक्षित तथा धनी वर्ग के लोग अपने घर किसी दरिद्र के पहुँच जाने से दरिद्र को दुत्कार देते हैं। मध्य वर्ग का व्यक्ति पहुँच जाये तो मीठे शब्दों से सत्कार करते हैं और किसी धनी-मानी व्यक्ति के अतिथि बनकर आ उपस्थित होने पर शब्द और धन दोनों से ही सत्कार तो खूब करते हैं, किन्तु प्रसन्न नहीं होते। उनके सत्कार में उपेक्षा, अभिमान और बड़प्पन का भाव भरा ही रहता है। अशिक्षित और

दरिद्र लोग बराबर वालों के आने पर स्नेह का दान करते हैं और बड़े आदमी के अतिथि बन उठने पर आदर करते हैं, अपने भाग्य को सराह कर, किन्तु किसी भी अवस्था में भावों को छिपा नहीं पाते।

मनुष्य किसी को गाली देता है जब वह क्रोध करे चिढ़े या दुत्कारे, किन्तु जब दूसरा पक्ष स्वयं ही आश्रय लेने को दौड़े तो गाली लौट कर अपने पर ही आ पड़ती है। पुत्रहीन रमिया दुखी थी, चिड़चिड़ी भी, पति के खर्चीले स्वभाव तथा मेहमानदारी से तंग भी थी, पर दिल की बुरी न थी। शरीर से काम करने से भी जी नहीं चुराती थी। दिन भर की थकी-टूटी आकर मेहमान देख कर तथा मन ही मन इस कठिन समय में खर्च का टोटल लगा कर चिढ़ भी गई थी, किन्तु इतने बड़े घर की लक्ष्मी की दीन बात सुनकर स्वयं ही लज्जा से कटी जा रही थी। तुरन्त बालटी उठा कर बोली—"चल, चल, आगा बड़ा बन के कहीं से। पहर भर की बहू जी बैठी हैं, दो लोटा पानी सिर पर छुड़वा कर सरबत-पानी तो पिलाया नहीं गया, अब आया बातें बनाने। बहू जी, आप: करना बुढ़ापा आ गया, दो दो जवान अपने हाथों अग्नि पर धर चुकी, मेरा तो दिमाग बिगड़ गया है। खोटी खरी निकल जाये तो माफ करना, घर तुम्हारा है, मैं तो तुम्हारी बाँदी टहलुई हूँ। हाथ उठा कर दे देगी तो खालूँगी। तुम्हारे दर्शन हम जैसे मानसों को कब बदे थे।"

बड़बड़ाती हुई थकी-टूटी बुढ़िया पानी लेने चल दी। बड़े घर की बहू जी चटनी से रोटी कैसे खायेंगी, सोच कर मिलखू बाजार से घी और सब्जी लेने चला गया। माँ जी आँखें दुर्दिन के भरे बादलों की तरह बरबस बरसने लगीं। इतनी देर पश्चात मैं भी रोने लगी सिसक

सिसक कर। भइया पूछ रहा था "माँ, घर कब चलोगी?" माँ ने सिसकते हुए कहा—"यही हमारा घर है।" बालक को बात शायद पसन्द नहीं आई; तुरन्त ठिनक कर बोला—"उहुँक।" रमिया पानी ले आई। "लो बहू जी मैं बाहर बैठ जाती हूँ, तुम नहा लो तो अन्दर आकर चूल्हा सुलगाऊँ, फिर बिटिया बच्चों को नहला देंगी।" माँ तुरन्त ही द्वार बन्द करके नहाने लगी। उन्हें भी ध्यान आ गया था कि शीघ्र ही कुछ खाना बना कर बच्चों को खिलाना होगा। रमिया तब तक गली में ही बैठी रही, पैर फैला कर सुस्ताती हुई। माँ के आँसू थमते ही न थे। जैसे तैसे उन्होंने पानी और आँसू मिलाकर स्नान किया। रमिया एक बाल्टी पानी और लाकर चूल्हे में अग्नि करने लगी। मिलखू तब तक थोड़ा सा सस्ता घी और थोड़े से घिया की सब्जी ले आया था। माँ बिना कुछ बोले-चाले चुपचाप खाना बनाने लगी। इस दरिद्र परिवार की बिना माँगी हुई सहानुभूति उनके अन्तर तक को कचोटे डाल रही थी। सच मुच ही कुमार साहब, मैंने अपने जीवन के अठारह वर्षों में बहुत कुछ देखा है, किन्तु जो प्रेम, जो सहानुभूति जो सच्चा अपनापन उन दरिद्र दम्पति के साथ चार मास रह कर पा सकी हूँ सो शायद [illegible] भर में फिर कहीं मिलेगा नहीं। खाना बना कर माँ उन लोगों को खाने को बहुतेरा बुलाती रही, पर हम लोगों के खाने से पूर्व खाने को वे आये ही नहीं। माँ से तो उस रात कुछ खाया गया ही नहीं, पर हम लोग बड़े ही भूखे थे, हमने पेट भर कर खाया। हमारे घर तो दो जानवर थे, घर का घी था। यह रद्दी घी की बनी हुई सब्जी गले से उतरती ही नहीं थी, पर भूख में यह सब कुछ सोचने का समय ही न था। अतः चुप चाप खा लिया। माँ खाना सामने रख कर भी रोने लगी। रमिया भाँति भाँति

से समझाने लगी। दो चार कौर से अधिक खा न सकी। हम लोगों के पश्चात पति-पत्नी खाने बैठे। घर में एक ही टूटी खटोली थी वह, बच्चों के लिये डाल दी गई। नन्हा निरन्तर ही रो रहा था। माँ दूध कहाँ से पिलाती, दिन भर कुछ खाया तो था ही नहीं, दूध होता कहाँ से ? मिलखू चार पैसे का दूध कहीं से गाय का कहकर लाया। वही देकर ज्यों त्यों उसे सुलाया गया। मिलखू बाहर चला गया सोने के लिये, रमिया ने घर का सर्वोत्तम बिस्तर—एक फटी सी पुरानी दरी—माँ के लिये बिछा कर, उस पर माँ की गठरी में से एक धोती निकाल कर बिछा दी, स्वयं को एक टाट का टुकड़ा ही डाल लिया। मैं टूटी खटोली पर बच्चों के पास ही लिटा दी गई। मुझे इस तरह सोने की आदत न थी, पर परिस्थिति बच्चों को भी सयाना बना देती है। कुछ कह सकने योग्य शक्ति भी मुझ में न थी। पड़ते ही मैंने आँखें बन्द करलीं। माँ कब सोई, नहीं जानती; किन्तु उस समय भी रमिया बरबस माँ के पैर दबाने के लिये पकड़ बैठी थी। माँ अब शान्त सी ही थीं।"

घंटा न जाने कब का बज चुका था, पर देवेन्द्र कुमार और शक्ति किसी को भी उसका ज्ञान न था। दोनों ही दूसरी दुनियाँ में थे। प्रोफेसर साहब के अगले दो घंटे खाली थे। शक्ति कहती ही रही—"आधी रात को यकायक मेरी नींद खुल गई। चौंक कर उठ बैठी तो मानों झुग्गी भर में भूकम्प आरहा था। एक स्त्रियों की सी आवाज ज़ोर ज़ोर से गालियाँ दे देकर रो रही थी और एक पुरुष ज़ोर ज़ोर से डाँट डाँट कर मार रहा था। उससे पूर्व मैंने वैसी गालियाँ नहीं सुनी थी। माँ भी उठ कर बैठी हुई थी।

"रमिया, यह क्या हो रहा है ? कौन रो रही है ?" माँ ने करुण

स्वर से पूछा।

"वही है चुड़ैल, इसकी इतनी सेवा करती है और मार खाती है, जैसे कहीं खसम ही नहीं जुड़ेगा। भला बताओ, सुन्दर है, जवान है, हजारों मिलेंगे। कोई ब्राह्मण-कायस्थ तो है नहीं, जो जो पल्ले बँध गया बँध गया। तू चमार की जात, तेरा जाता ही क्या है? आज यहाँ बैठी है, कल दूसरे घर जा बैठे। वही कल्लू महीनों से मिन्नतें करता है, अच्छी चवन्नी-अठन्नी रोज बचा लेता है, यहाँ छाती फाड़ के काम करती है, वहाँ राज करेगी।"

रमिया बड़बड़ा रही थी। माँ आश्चर्यचकित हो रही थी।

"यह है कौन, रमिया?"

"वह राक्षस है न गुला मिस्त्री, उसकी घर वाली है। कौन ब्याहता है? न जाने कहाँ से पकड़ लाया था, अब सत्य-धर्मी बनी बैठी है। सारे दिन छाती फाड़ कर काम करती है। तब कहीं पहली सौत के लड़कों को खिला कर अपने पेट की रोटी मिस्त्री की जूठन में से निकाल पाती है आँख की सच्ची है, किसी की तरफ आँख उठा कर नहीं देखती। मैं तो, तुम जानो, बहू-बेटी समझ कर समझा देती हूँ कि इसका साथ छोड़ दे, कहीं शान्ति से बैठ, पर क्या मैं जानती नहीं हूँ, वह है औरत लाख दो लाख में एक। वही है जो निभा रही है, कभी एक पैसा तक तो देता नहीं। अपनी कमाई तो सराब में फूँक देवे है, उसकी पर भी नजर लगी ही रहती है। पहली तो चार बरस में ही दो लड़के एक लड़की छोड़ कर धनी के साथ निकल भागी। इस दाढ़ीजार के साथ किसी का निभा है क्या? यूँ तो मर्द मानस औरत राह-कुराह चले, घर धन बिगाड़े तो कौन नहीं मारता, पर यह तो रोज रात पहर सराब पी कर

इसे मारता है। क्या कहूँ ऐसी ऐसी बातें कहता है जो कहते भी पाप लगे। यह तो अभी तक लड़की को बेच कर भी सराब पी गया होता। यह तो लच्छी है जो लड़की की पत भी बचाए बैठी है, तब ही तो मार खाती है, पर बन्दी सवेरे आह भी जो कर जाये। कितना ही पूछो यही कहेगी—मर्द मानस है जो दो हाथ मार ही लिया तो क्या घट गया मेरा। हूँ तो औरत की जात ही न ?"

माँ काँप उठीं। उन्होंने पिता से कभी झिड़की भी नहीं खाई थी। सतीत्व के विचार भी उनके बड़े ऊँचे थे। यहाँ के वातावरण में मानों उनकी साँस घुटने लगी।

"तो यहाँ लोग शराब भी पीते हैं ?"

"ऐ लो बहू जी की बातें, कौन इस मुहल्ले में सराब नहीं पीता। अपने इस कुली को ही जब तक सराब न मिले रोटी न हजम हो। आज तो आपके लिहाज से नहीं पी। साम को कह रहा था बहू जी के सामने सराब क्या पियूँगा। पर आज तक तो कभी रुका न था, मेरे लड़ने पर भी पीता ही था।" रमिया सन्तुष्ट थी। स्वर में कुछ भी लज्जा न थी, अरुता भी न थी। दुविधा भी न थी, मानों शराब पीना कोई अधर्म, कोई पाप ही न हो।

"पी कर इस प्रकार ऊधम भी करता है, तुम्हें मारता भी है ?"

"सो तो बहू जी कभी कभी हो जाता है, पर इस राच्छस की तरह कोई नहीं करता। मनुआ भी अपनी लुगाई को पीटता है, पर सो तो कुराह चलती है तो पिटती है, और कौन मर्द अपनी औरत पर हाथ नहीं छोड़ता ?"

माँ घबरा गईं। सचमुच ही जब स्त्री स्वयं ही स्त्री पर किये जाने

वाले किसी भी अत्याचार को अत्याचार न समझ कर एक साधारण सी बात ही समझने लगती है तो उस जाति के पतन की पराकाष्ठा हो जाती है। आदत—स्वभाव—के जोर से स्वीकार की गई परतन्त्रता दुःख-दायी तो नहीं होती, किन्तु पशुत्व की वृद्धि अवश्य करती है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कोकीन के इन्जेक्शन से दर्द तो नहीं होता, पर स्थान चेतनाशून्य हो जाता है। सन्ध्या को हमने मजदूरों का जो देवत्व का अंश अब भी शेष रह गया है वह देखा था, किन्तु नगर के ऊँचे भवनों, प्रासादों में स्थित कल-कारखानों ने देवत्व के अधिकांश को नष्ट करके उसके स्थान पर जो पशुत्व का अंश, न केवल भर दिया है, वरन उसे इन मनुष्यों का स्वभाव बना डाला है, उसका दर्शन हमें रात को हुआ। गाँवों की मनोवृत्तियाँ गिर चुकी थीं। गाँव के जीवन में मैंने परस्पर द्वेष, जलन, जन्मजन्मान्तर के वैर-विरोध तो देखे थे, किन्तु उनका जीवन सब कुछ होते हुए भी मनुष्य का जीवन था, पर एक रात के परिचय ने ही बता दिया कि मजदूरों का जीवन बन्द वायु में बरबस रखे जाकर मन को कुचल कुचल कर मानव-रक्त की अन्तिम बूँद तक चूस डालने का यन्त्र मात्र ही है। इसे मानव-जीवन कहते भी घृणा हो आती है। रमिया तुरन्त सो गई। मैं भी शीघ्र ही सो गई, पर माँ शायद रात भर न सो सकीं। प्रातः उनकी दोनों आँखें गुड़हल के फूल की भाँति लाल थीं, न जाने रोने से अथवा न सोने से।

हमें उसी नरक-कुण्ड में स्वर्गिक हृदयों के साथ चार मास व्यतीत करने पड़े। इन्हीं चार मास में मैंने मानव-जीवन के दोनों श्वेत और श्याम पहलुओं के दर्शन कर लिये। माँ इस प्रकार यहाँ बैठना नहीं चाहती थीं। उनकी मुख्य इच्छा शहर के सुरक्षित कोने में

बैठ कर जेठ पर मुक़दमा करने की थी। माँ अपनी सन्तान का न्याय-सिद्ध अधिकार खोना नहीं चाहती थीं। माँ ने जब मिलखू पर यही विचार प्रकट किये तो बेचारा अपनी जन्म भर की कमाई सौ रुपये हमारी सहायता के लिये ले आया, जो उन दोनों ने पेट काट कर पिछले चालीस वर्षों में जोड़े थे। भरे दुःख में भी मैं हँस पड़ी। माँ हँस न सकीं। बड़ी कठिनाई से बोलीं—"मिलखू, नहीं जानती तुम, मेरी किस जन्म की सन्तान हो, किन्तु तुम्हारा यह अज्ञात दान बड़े बड़े धनी-मानियों के हज़ारों-लाखों के दान से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। यह किसी दिन भी भूलूँगी नहीं। मैंने आज वह शिक्षा ग्रहण की है जो मेरे पति अनेक यत्नों से भी मेरे कण्ठ से नीचे उतार न सके थे। अब यदि जेठ मेरा समस्त धन भी खा ले, तो मैं अपनी सन्तान को यही वसीयत कर जाऊँगी कि धन का महत्व क्या है सो किसी दिन मिलखू कुली से आकर सीख लेना।" साँस लेकर फिर माँ कहने लगी—"पर अभी यह रख लो, मेरे पास अभी उसी परिवार का धन वर्तमान है जिस परिवार के ये बच्चे हैं। इनके अधिकारों के संघर्ष में उसी परिवार का धन लगना उचित है। मूर्ख मिलखू कुछ भी न समझा, पर रुपये उसने उठा लिये। मुक़दमे में क्या हुआ सो नहीं जानती, पर माँ के सारे रुपये तथा ज़ेवर लग गये। एक दिन किसी बैरिस्टर के घर जा कर जो मेरे ताया की ओर से पैरवी कर रहा था रो भी भी आईं, पर एक दिन फ़ैसला—न्याय का फ़ैसला—हमारे विपक्ष में, भगवान जाने किस तरह, हो गया। हम अपनी जायदाद, न्यायसिद्ध जायदाद, से वंचित करके पथ के भिखारी बना दिये गये। मिलखू रो पड़ा, रमिया भी, पर माँ सुन कर हँस पड़ीं। कितनी निराशापूर्ण थी वह हँसी, सो कौन जान

सकेगा ? हमें मिलखू के घर में रहते चार मास हो गये थे। माँ के बहुत ज़िद करने पर भी वह उनसे एक पैसा भी नहीं लेता था। स्वयं ही हमारे सुख-भोज का प्रबन्ध करने में भरसक प्रयत्न-शील रहता था।

"माँ को अब तक भी गाँव लौट सकने की आशा थी, उस पर आज चार मास बाद तुषारपात हो गया। कुली लाईन का वातावरण अत्यन्त गन्दा था। गालियों की तो कोई सीमा ही न थी। छोटी छोटी लड़कियाँ भी गालियाँ देती थीं। मुहल्ले भर के आवारा मजदूर कुली अवकाश पाते ही लड़कियों को घूरने लगते थे। आर्थिक अवस्था तो उनकी उन्हें पशु-जीवन व्यतीत करने को मजबूर करती ही थी। छोटी गन्दी कोठरियाँ, पास ही स्टेशन का धुआँ, कोयले की बौछार, साथ ही कारखानों का धुआँ, दूसरी ओर बूचड़खाने की गन्दगी, सब कुछ मिलाकर नरक तो बना ही देती थी, उस पर रही सही कसर अर्थाभाव से जो सस्ता और गन्दा खाना मिलता था उसने पूरी कर दी थी। शराब ने किसी के शरीर पर साबुत कपड़ा तक भी नहीं रहने दिया था। पर वह भी क्या करें कहा जाता है कि उतना काम जितना उन्हें करना पड़ता था कोई भी मनुष्य बिना शराब पिये कर ही नहीं सकता। कई मजदूर और मिस्त्री तो मुँह अँधेरे घर से निकल कर, रात अँधेरे घर में आते थे। बिना शराब पिये वह एक दिन भी जीवित रह नहीं सकते थे। और शराब उनके स्वास्थ्य, अर्थ और धर्म-ज्ञान सब को ही सोख जाती थी। निराशामय जीवन में आनन्द-दायिनी थी शराब और झल्लाहट उतारने का उपाय था अपने बच्चों और उनकी जननी को मारना-पीटना, गालियाँ देना। बच्चों को

हर समय गन्दी गन्दी गालियाँ देना तो साधारण सी बात थी। जरा जरा सी बात पर आपस में सिर-फुटौवल भी हो जाती थी, पर इन सब से अधिक भयंकर थी उनकी नीच मनोवृत्तियाँ। जान पड़ता था कल-कारखानों का, रेलवे का, काला धुआँ देखते देखते उनकी देह और मन दोनों ही कलुषित हो गये थे। धन्य है वह यन्त्र जो मानव-आत्मा को पशु-आत्मा बना कर ही छोड़ते हैं। अर्थ के अभाव में भी मनुष्य मनुष्य रह सकता है, किन्तु जिस समय उसका मनुष्यत्व ही नष्ट कर डाला जाये तो उसमें रह जायेगा ही क्या? और उन्हें यह दण्ड दिया गया था इसलिये कि वह श्रमजीवी थे और उनके मालिक बुद्धिजीवी। मानव रहने, मानव कहलाने का अधिकार केवल मात्र बुद्धिजीवी ही को है, श्रमजीवी को नहीं। यही शायद उनके मालिकों का सिद्धान्त था। अस्तु यह सब समस्याएँ तो मेरी हैं ही नहीं। फिर भी यह कह सकती हूँ कि अर्थाभाव का उन्हें दुःख न था, उन्हें यदि कोई दुःख था तो मानवोचित मनोवृत्तियों के अभाव का। मार्क्सवादी चाहें तो भले ही कह दें कि पहला ही दूसरे अभाव की जननी है, किन्तु सत्य क्या है सो केवल नारायण ही जानते हैं। जी चाहता है वहाँ का वर्णन करती ही जाऊँ और सचमुच यदि करने लगूँ तो कई पुस्तकें बन जायें, पर अवसर नहीं है। हाँ, तो माँ वहाँ के वातावरण में हमें क्षण भर भी रहने देना नहीं चाहती थीं। मेरा ढाई वर्ष का भाई तो गालियाँ भी देने लगा था। मुझे तो घर में ही क़ैद रहना पड़ता था, अतः बाहर के वातावरण का मुझ पर कम ही असर पड़ा, किन्तु उस वातावरण से मुझे भी एक तीव्र घृणा सी हो गई। माँ के पास इस समय भी सात सौ रुपये के जेवर आदि बेचकर बच रहे थे।

जीविका का प्रश्न हल करना था। माँ मिलखू से बहुत जिद करके भद्र मुहल्ले में एक छोटा सा मकान, मकान क्या दो कोठरियाँ और एक आँगन तथा ऊपर एक बरसाती, नौ रुपये मासिक पर लेकर रहने लगी। मिलखू और रमिया प्रायः प्रति दिन घर आकर माँ के काम-काज में सहायता देते थे। मिलखू तो कहता था "आजकल मैं तो तुम्हारा गुलाम हूँ, बच्चों की सेवा-टहल में कमी न हो, अमीरी में पले हैं न ?"

"माँ किसी न किसी तरह, दौड़-धूप करने पर अस्पताल में नर्स का काम सीखने के लिये भर्ती करली गई थीं। पहले छः महीने तो केवल सीखना ही था, फिर पास कर लेने पर प्राईवेट प्रेक्टिस कर सकती थीं। बच्चे साथ न होते तो हस्पताल में नौकरी भी मिल सकती थी। अस्तु, माँ किसी तरह गुजर करने लगी। सब कुछ होते हुए भी मैं स्कूल में प्रविष्ट करा दी गई। कुशाग्र बुद्धि तो मैं थी ही, मैंने पहले दो वर्षों में ही चौथी कक्षा तक छलाँग लगा ली, अब तो मुझे चार रुपये मासिक सरकारी और चार रुपये एक धनी सज्जन की ओर से वजीफा भी मिलने लगा था।

"माँ ने आरंभ में बड़े ही धैर्य्य से काम लिया था, किन्तु मनुष्य में जब तक पिछला सञ्चित बल होता है वह साहस भी दिखा पाता है, किन्तु उस बल के चुक जाते ही शरीर और मन दोनों ही दुर्बल हो उठते हैं। वेदना का इतिहास बड़ा ही सरल है। यह भिन्न मनुष्यों पर उनके चरित्र के अनुसार प्रभाव डालती है। कुछ मनुष्य तो दुख की गोद में पड़ कर ही चरित्र उभार पाते हैं, मानवत्व का भी निर्माण कर लेते हैं, परन्तु कुछ व्यक्ति दुख में पड़ कर स्वयं अपना व्यक्तित्व ही खो देते हैं,

भूल जाते हैं। यही तो मानव-इतिहास है। मेरी माँ का जीवन सदा ही सुख और आनन्द में व्यतीत हुआ था, दुख से उसका किसी दिन का भी परिचय न था। जेठ-जिठानी को लेकर कभी कभी उस रस में कुछ विष भी घुल जाता था, किन्तु रस इतना अधिक था कि विष प्रायः नहीं के बराबर था। मेरी माँ का स्वभाव तो किसी दिन भी बहुत कोमल न था, किसी दिन भी वह असाधारण मिष्ट-भाषिणी न थी, किन्तु इस नवीन दुख ने तो उसकी कमर ही तोड़ दी। आरम्भ में उसने भगवान का नाम लेकर साहसपूर्वक विपत्ति सहने पर कमर बाँध ली, पर टूटी कमर चलती कितने दिन? धीरे धीरे माँ का स्वभाव बिगड़ने लगा। बेचारी जाड़े गर्मी सुबह चार बजे उठती थी, हमारे घर में म्यूनिसि-पैलटी का नल नहीं लगा हुआ था। थोड़े किराये के मकानों में अकसर पानी का सुख नहीं हुआ करता। माँ को कोई दो फर्लांग की दूरी से पानी लाना पड़ता था। कहार या नौकर रखने की तो सामर्थ्य ही न थी। सन्ध्या समय तो मिलखू आकर पानी भर जाता था, प्रातः माँ स्वयं लोगों के उठने से पूर्व चार या पाँच बजे अँधेरे में ही दिन भर के लिये पानी भर लाती थी। धन की कमी थी। उन सात सौ में से भी कंजूसी करते करते भी सौ रुपये बर्तन आदि लेने में निकल गये थे। इसी छः सौ की पूँजी से न जाने कितने दिन बिताने होंगे, यही माँ की चिन्ता थी। पानी लाने के पश्चात माँ को खाना आदि बनाकर आठ बजे हस्पताल पहुँच जाना पड़ता था। वहाँ से एक बजे घर लौट आती थी, हस्पताल दूर था, इसी से आते आते किसी दिन भी सवा या डेढ़ से पूर्व नहीं आ पाती थी। खाना खाकर फिर बर्तन आदि माँज कर तीन बजे हस्पताल पहुँचना होता था, घर से तो ढाई बजे निकल जाती थी।

फिर छः या सात बजे आती थी। तब तक मैं चूल्हा सुलगा कर सब्जी आदि चढ़ाने का प्रयत्न करती थी। मैंने आज तक कभी रसोई को हाथ भी नहीं लगाया था, पर अब बिना माँ की सहायता किये जी नहीं मानता था। माँ आकर नहा कर रसोई का काम शेष करती तो नौ बज जाते। हमें खिला-पिलाकर रसोई आदि ठीक करते दस साढ़े दस बज जाते, तो बेचारी टूटी खाट पर बिना बिस्तर के ही पड़ रहती, केवल जाड़ों में एक रद्दी सा सूती कम्बल ओढ़ लेती थी। कितना कठिन था उसका जीवन! बेचारी कहाँ तक अपना स्वभाव सम्हाल पाती। अतः उसका स्वभाव बिगड़ता ही चला गया। यहाँ तक कि तीन मास पश्चात तो स्वयं उसे अपने बच्चों से भी चिढ़ होने लगी, हम पर हर समय झल्लाती, क्रोध करती और लड़ती रहती। कभी कभी आधी रात तक चुपचाप चारपाई पर बैठे हुए मैंने उसे रोते हुए भी देखा था। अब वह एक सुशील सद्गृहिणी से लड़ाकू- कर्कशा और कठोर बन गई थी।

सुख में मनुष्य शान्ति से भगवान-भजन करता है, किन्तु दुख में चोटी से ऐड़ी तक डूब जाने के पश्चात या तो मानव देवता बन जाता है और या राक्षस। या तो वह अपनी शान्ति का एक मात्र अन्तिम अवलम्ब ढूँढ़ लेता है नारायण में और या भूल जाता है नारायण को एकदम। मेरी माँ दुख की कठिनता में भगवान को भी भूल गई। मन की स्थिरता न होने पर भक्ति भी नहीं हो पाती। माँ—चारी अभागी माँ—का एकमात्र आश्रय, एकमात्र अवलम्ब, नारायण भी छूट गया। अथाह दुखसागर में अकेली डूबने-उतराने को छोड़ दी गई। वह एकदम सिर से पैर तक डूब गई। मैं सब प्रकार के मानव-स्वभाव बचपन से ही देखती आरही हूँ, उससे मेरा अच्छा-खासा परिचय है। मेरी माँ अपने बच्चों से

की घृणा करने लगी। प्रोफेसर साहब, आप मनोविज्ञान के पंडित हैं। आप मनोविज्ञान पढ़ाते हैं विद्यार्थियों को, किन्तु आपने थाह ली है उस दुःख की गम्भीरता की जो माँ को अपनी सन्तान से भी घृणा करने को विवश कर देती है। माँ की घृणा दिनों दिन बढ़ती ही गई। माँ का ट्रेनिङ्ग समाप्त हो गया था, अब वह प्रेक्टिस करने वाली नर्स थी। हस्पताल में काम नहीं कर सकती थी। केस आते तो बहुत थे, पर शीघ्र माँ अत्यन्त प्रसिद्ध हो गई अपने कर्कश स्वभाव के लिये। अत्यन्त संयम से काम लेती हुई भी जरा जरा सी बात में वह चिढ़ उठती थी, क्रोधित हो उठती थी और झल्ला उठती थी। अपने आपको भूल जाती थी। रोगी और रोगी के परिवार के व्यक्ति नर्स को पाँच से लेकर दस रुपये तक समय समय पर देते हैं, अतः उन्हें नर्स के न केवल शरीर, वरन व्यवहार-स्वभाव पर भी स्वत्व प्राप्त हो जाता है। उन्हें नर्स के सुस्वभाव और मृदुल व्यवहार की इच्छा होती है और आकांक्षा भी। उसके हृदय में कौनसा दुख उमड़ रहा है और उस दुख का उसके चरित्र पर क्या प्रभाव पड़ रहा है ये सब प्रश्न उनके लिये नहीं होते। उन्हें यह सब जानने की न अभिलाषा होती है और न समय ही। वह मनोविज्ञान के विद्यार्थी तो होते ही नहीं। जो परिचारिका कोमल स्वभाव की होगी उसे ही ये रुपये मिल सकेंगे। माँ को इस प्रकार के रुपये आरम्भ में तो मिल जाते थे, किन्तु धीरे धीरे उसकी आमदनी बीस पचीस रुपये से अधिक रही नहीं। हम चार प्राणी थे मँहगी के दिन थे। रूखी रोटी का गुजार भी बीस पचीस रुपये में होना असम्भव था। रुपये भी धीरे धीरे चुक गये थे। खाने का भी ठिकाना न था। एक दिन घर में एक दाना भी न था। माँ किसी काम पर गई हुई थी। उसे आशा थी कि

कुछ न कुछ पेशगी अवश्य ले आवेगी। माँ को घर आठ बजे आना था, मिलखू पिछले चार दिन से रोगी था, अतः उसके आने की भी कोई आशा नहीं थी। रमिया छः बजे आकर पानी भर गई थी। लाख कहने पर भी हमने चूल्हा जलाने नहीं दिया था। विपत्ति होने पर भी हम मिलखू और रमिया तक से एक पाई भी लेना नहीं चाहते थे। फिर भी जबरदस्ती रमिया चार पैसे के पेड़े रख गई थी, वह छोटे भइया को खिला दिये थे। भूख तो मुझे भी लग रही थी, किन्तु मैं अब समझदार हो गई थी। भूख का समय जानना भी मैं सीख चुकी थी। घर से निकले भी दो वर्ष हो चुके थे। इसी बीच कई बार भूखे भी सोये थे और कई बार मिलखू का अन्न खाकर भी। आठ बज गये, माँ घर नहीं आई। आज तक माँ कभी भी नव बजे के बाद बाहर नहीं रही थी। रात की ड्यूटी होने पर पहले ही कह देती थी। दोनों बालक सो गये पर मैं बैठी ही रही। कोई साढ़े ग्यारह के लगभग माँ लड़खड़ाती हुई सी घर में आई। हाथ में एक मिठाई और पूरी का दौना था उसे मेरी चारपाई पर पटक कर, बिना कपड़े बदले ही अपनी चारपाई पर पड़ रही। उनकी सूरत भयानक हो रही थी। माँ मुझ से एक शब्द भी नहीं बोली, यों तो पिछले एक वर्ष में वह कभी भी मुझ से कोई प्रेम भरा वाक्य न कह पाई थी, किन्तु साधारण बात-चीत होती थी, आज वह भी बन्द थी। डर के मारे मैं भी नहीं बोल सकी। भूख से मैं तड़फ रही थी। मैंने चुपचाप दौने मेंसे दो चार पूरियाँ निकाल कर खाईं। दौने को सावधानी से छीके पर रख कर सो गई। सुबह माँ की सूरत देख कर मैं अचरज से दंग रह गई। वह तो मेरी माँ की सूरत ही न थी। एक दम पीली किसी जन्म की सर्पिणी की शकल थी। आँखें लाल

सूजी हुई तथा होंठ फूल रहे थे।

"माँ, तुम्हें क्या हो गया है ? तबीयत कैसी है ?" मैंने डरते हुए पूछा। तब मैं छठी कक्षा में पढ़ती थी।

माँ थोड़ी देर चुप ही रही, फिर बड़ी जोर से चिल्ला कर बोली—"तुम सब मर क्यों नहीं जाते अभागे, खाने को नहीं पाते फिर भी जिये ही चले जा रहे हैं।" और रोने लगी। माँ का बच्चों को–हम लोगों को–कोसना मुझे तनिक भी अच्छा नहीं लगा। यद्यपि उस दिन तो नहीं समझ पाई किन्तु आज भली प्रकार समझ रही हूँ कि माँ पतिव्रता स्त्री थी। अपने बड़े ही प्यार की सन्तान को कोसने का क्या अर्थ होता है ? कितनी बड़ी वेदना से, कितने गहरे दुख को हृदय में छिपा कर जननी राक्षसी बन पाई थी ! प्रोफेसर साहब, मनोविज्ञान के पंडित होकर भी क्या तुम समझ पाओगे। उस दिन से फिर मैंने माँ से कोई विशेष बात नहीं की।" कह कर शक्ति कुछ क्षण चुप ही हो रही। उसकी आँखें आँसुओं की सीमा से भी परे पहुँच चुकी थीं।

"कितनी करुण कहानी है तुम्हारी माँ की शक्ति।" प्रोफेसर देवेन्द्र कुमार ने करुणा से भर कर कहा।

"चुप रहो, कुमार साहब, तुम्हें मेरी माँ की कहानी को करुण कहने का अधिकार ही क्या है ? उसे दयनीय बनाया किसने था ? तुम्हारे भाई जैसे किसी बैरिस्टर के अत्याचार ने—तुम्हारे धन जैसे मेरे ताया के अतुल धन बल ने और तुम पुरुषों के से विपक्षी के पशु-बल ने। तुम लोगों को सृष्टि भर में किसी से भी मेरी माँ को दुखिनी कहने का अधिकार ही क्या है ?"

शक्ति उत्तेजित हो उठी थी। प्रोफेसर सहम कर चुप हो गया।

शक्ति पाँच मिनट चुप रहकर फिर बोली—"चुप ही रहो प्रोफेसर कुमार, सुने जाओ। कहानी थोड़ी सी ही और रही है। उसे करुण न कहना उसे दर्द भरी न कहना। वह मानव की चिर सञ्चित पीड़ा का एक साधारण सा इतिहास है—केवल इतिहास। उसे एक इतिहासज्ञ की दृष्टि से देखो, मनोविज्ञान के पंडित। मेरे लिये भले ही उसमें कुछ अपना पन हो पर तुम्हारे लिये तो केवल मात्र इतिहास ही है न। अच्छा तो, इसी प्रकार दिन बीतने लगे। मेरी माँ की अवस्था उस समय भी अट्ठा-इस वर्ष की थी। मैं ही तो उनकी पहली संतान थी। माँ किसी समय गाँव की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरियों में से समझी जाती थी। विपत्ति ने स्वभाव बदल दिया था, किन्तु मुख-छवि तो वही थी। गोरा रंग अब भी पीला सा तो हो गया, पर चमकता अवश्य था; आँखें सरस थीं, दृष्टि कठोर अवश्य हो गई थी, पर आँखों में सरसता की झलक अवश्य थी। इच्छा करने पर ही माँ एक बार फिर सुन्दर बन सकती थी। बड़े परिश्रम से सीखी हुई नर्सिंग में से चार आदमियों का रूखा-सूखा भोजन भी नहीं निकाल पाई; थोड़ा बहुत जो कुछ मिल जाता था वह पर्याप्त नहीं था, फिर भी माँ नर्स का काम करती ही थी। शायद तीन वर्ष हुए आप भी बीमार हुए थे, नर्स की आवश्यकता थी, आपके घर भी एक सप्ताह काम करने के विचार से गई थी, किन्तु न जाने किसने तीसरे दिन ही उन्हें बिना पैसा-टका दिये निकाल बाहर किया?"

देवेन्द्र के सम्मुख सचमुच ही वह दृश्य घूम गया जब वह टाईफाइड में पड़ा था, भाभी भी रोगिणी थी। सेवा के लिये नर्स बुलाई गई थी, दो दिन काम भी करती रही थी, किन्तु तीसरे दिन प्रातः से ही कुछ अन्यमनस्क सी थी। ठीक समय पर पथ्य-पानी देना भी भूल

जाती थी, दवा भी विलम्ब से ही दे रही थी। अचानक जब भाई साहब मुझे देखने चार बजे कोर्ट से लौट कर आये तो वह चौंक पड़ी। फीडिंगकप हाथ से छूट कर गिर पड़ा। भइया के कहने पर कुछ कहा-सुनी हो गई और नर्स उसी समय निकाल दी गई। फिर दूसरी नर्स सन्ध्या को ही आ गई। लज्जा से देवेन्द्र अपने को धिक्कारने लगा।

शशि कहती ही जा रही थी। "इसी प्रकार सब कहीं होता था, फिर भी माँ कभी कभी सजधज कर कहीं जाती थी और दस बीस रुपये ले आती थी, पर इस प्रकार भी कभी अधिक रुपये नहीं आते थे। सिर पर गाल धर रोती अलग थी। मैं अब बच्ची नहीं थी। माँ से मुझे घृणा होने लगी थी, मैं उससे बोलती भी न थी। कई वर्ष की पढ़ाई एक साथ करके, मैंने चौदह वर्ष की आयु में मैट्रिक की परीक्षा दे दी। अब माँ विशेष रूप से घर ही रहती थीं, कभी कोई केस मिलता तो चली जाती थीं। मैं दो तीन ट्यूशन करके घर का खर्च चलाती थी और माँ एक कोने में बैठ कर रोती भी रहती थीं। इसी बीच माँ को कोई रोग भी हो गया। वह पीली ही पड़ती जा रही थीं। छोटा भइया भी जन्म-रोगी सा हो बन गया था। कहाँ तक कहूँ, मैं तो थक भी गई, कहानी दुख की बड़ी लम्बी है।

"दुख की गहनता में, एक और आशा की किरण चमकी। सुना कि किसी लड़कियों के कालिज होस्टल में एक नर्स की जगह खाली है। माँ मुझ से कभी बोलती तो थी नहीं, किन्तु मेरा इतना परिश्रम उन्हें अच्छा नहीं लगता था। उनका अपना शरीर तो चलता नहीं था, किन्तु फिर भी उन्हें अपने शरीर से ही काम लेने की इच्छा थी। माँ ने किसी पड़ौसी से सुन कर दौड़-धूप आरम्भ कर दी। बड़े यत्न,

सिफारिश और भाग-दौड़ के पश्चात नौकरी मिल गई। मैं तो राजी नहीं थी कि माँ अपना रोगी शरीर ले कर परिश्रम करें, किन्तु माँ किसी प्रकार भी काम न करने को राजी नहीं हुईं। वेतन साठ रुपये था। खाना और रहने का प्रबन्ध भी था। घर प्रतिदिन तो नहीं आ सकती थीं, किन्तु मैं उसी कालिज में पढ़ती थी, प्रतिदिन मिल सकती थी, यद्यपि माँ हम लोगों से दूर ही भागना चाहती थी। न जाने क्यों उन्हें हम लोगों से मुँह छिपाने की ही इच्छा रहती थी। भागी भागी सी रहती थीं। घर पर भी रहती तो मुँह छिपाये कोठरी में ही पड़ी रहती थीं। मैंने भी सोचा कुछ दिन बाहर रह कर जी ही लग जायेगा।

"माँ होस्टल में चली गईं। कुछ वहाँ प्रसन्न भी रहने लगी थीं, एक मास तक वहीं रहीं। लड़कियाँ भी प्रसन्न थीं, उनका व्यवहार भी साधारणतया इस बार अच्छा ही था। पर बेचारी मेरी, दुखिया माँ दूसरे मास की पहली तारीख को अपने सामान सहित घर आ गईं। फिर मालूम हुआ कि किसी ने प्रिन्सीपल से शिकायत की थी कि यह नर्स चरित्रहीन तथा रोगिणी है। प्रिन्सीपल ने उसी समय माँ को निकाल दिया। माँ का दिल टूट गया। यह चोट वह सम्भाल न सकीं। मिलखू खून थूक थूक कर अचानक एक वर्ष पूर्व ही मर गया था। रमिया हमारे घर ही रहने लगी थी। मजदूरी अब भी करती थी, किन्तु रहती उदास ही थी। माँ घर आते ही चारपाई से लग गईं। बुखार की तेजी में अकसर चिल्ला उठती थीं—"सुनो, मैंने तुम्हारे प्रति विश्वासघात किया, किन्तु करती क्या, बच्चों को भूखे मरते देख नहीं पाती थी······मुझे क्षमा करो······" आदि आदि। पिछले ही वर्ष की तो बात है, मैं बी० ए० की परीक्षा दे चुकी थी। अट्ठारह वर्ष

की आयु तक संसार का बहुत कुछ अनुभव करके माँ की वेदना—मानसिक कष्ट—समझ सकने योग्य बुद्धि मुझ में हो गई थी। रमिया हाड़ तोड़ कर निरन्तर सेवा करती थी। एक मास तक टूटे फूटे जैसे तैसे इलाज के पश्चात माँ का बुखार रात को एक बजे टूटने लगा। माँ ने मुझे पास बुला कर कहा—"शक्ति, मैंने संसार में बहुत सा दुख पाया, बहुत से पाप किये। तुम्हारे पिता के पास जाऊँगी ऐसा कहने योग्य तो मेरा मुँह नहीं है, वे सौभाग्यवती और ही कोई होती हैं, किन्तु यदि मैंने कोई पुण्य किया हो, तो जितना दुख मैंने जीवन में पाया है उतना ही सुख तुम पाओ।" कह कर माँ हाँपने लगीं। खाँसी भी आई और खून भी।

"चुप करो माँ, कमजोरी बहुत है।" मैंने कहा।

"अब बोल लेने दो। यह अनुभव फिर कौन सुनायेगा मेरी बच्ची।" माँ फिर हाँपने लगी। रमिया ने पानी का घूँट देकर कहा—"चली चला का मेला है, मन की कह लेने दो, बिटिया।"

माँ ने फिर कहा—"बेटा, पाप भयंकर है, किन्तु उसकी स्मृति उससे भी अधिक भयंकर है। अगर प्रायश्चित्त पश्चाताप जैसी कोई वस्तु हो तो आँखों का ढेर सारा पानी देकर मैंने वह प्रायश्चित्त किया है—बड़ा ही भयानक, बड़ा ही कष्ट कर प्रायश्चित्त किया है, तुम मुझे अपनी माँ को क्षमा कर देना······बेटा और चाहे जो करना पाप कभी न करना, वह न केवल समाज और परमेश्वर द्वारा वर्जित है, वरन पाप स्वयं ही बड़ा ही कष्टकर है।" मेरी आँखें सावन-भादों की झड़ी लगा रही थीं। आँखों के जल से पवित्र हुई हुई मेरी माँ मुझे माँ दुर्गा के समान ही पवित्र दीख पड़ी। माँ ने छोटे बच्चों को प्यार

किया। लगभग चार बजे से माँ को कँपकँपी चढ़ने लगी। दो घंटे कष्ट भोग कर गंगा-जल मुख में लेकर तुलसी-दल दाँतों तले दबाये, पृथ्वी पर छः बजे के लगभग उस दुखिनी नारी ने प्राण छोड़ दिये। मुझे चेतनता तो बिलकुल भी न थी। रसिया के आदेशानुसार सब कुछ करती जा रही थी। मृतक के लिये घर में कफन को भी पैसा न था। रसिया अपने पास से किसी प्रकार बीस रुपये में कफन का प्रबन्ध करके आई। सन्ध्या के चार बजे के लगभग उस बत्तीस तैंतीस वर्ष की पूर्ण युवती, किन्तु महान दुखिनी, का शव उठाया गया। साथ जाने वाले पाँच छः आदमी थे, उनमें से भी किसी की भी दृष्टि में स्नेह नहीं था, थी तो केवल सहानुभूति। मैं पछाड़ खाकर गिर पड़ी। कुलियों के कन्धों पर चढ़ कर माँ चल दी श्मशान की ओर। बेचारी मेरी माँ! सत्य ही उसका मरना ही उचित था, ठीक था। जिसका जीवन मृत्यु की विभीषिका से भी अधिक भयानक हो उठा हो उसका मरना ही उचित है।

उसके पश्चात हमारे दिन कैसे बीते सो नहीं कहूँगी। अब तो एक वर्ष हो गया है। रसिया और मेरे परिश्रम से दो समय रूखी-सूखी रोटी जुड़ जाती है। चार दिन हुए मेरा छोटा भाई भी खून थूकने लगा था। उसकी मृत्यु का कारण मुझे जानना भी नहीं है। और जानने की इच्छा भी नहीं। पर यह सत्य है कि वह कलिका भी अकाल में ही मुरझा गई। सबने दो साथ को मेरा हृदय अब तो पत्थर हो गया है, उसमें रस रहने का कोई स्थान रहा ही नहीं है। माँ का अन्तिम उपदेश यदि मेरे सम्मुख न होता तो शायद मैं भी आज पाप में सिर से पैर तक डूब जाती। पुण्य में मेरे लिये

आकर्षण ही क्या रह गया है। पाप में कम-अज-कम नशा तो है ही। सच ही जान पड़ता है, मैं पागल हो जाऊँगी। दूसरा भाई भी बीमार रहने लगा है, इस वर्ष मैट्रिक की परीक्षा देगा, यदि जीता रहा तो, पर उसे भी छः मास से धीमा धीमा ज्वर रहता है। जैसे तैसे डाक्टर का इलाज हो रहा है, पर बड़े डाक्टर के लिये पैसे कहाँ से लाऊँ और साधारण डाक्टर रोग पहचान पाते ही नहीं। उहुँक, अब तो मैंने सोचना ही छोड़ दिया है। रगिया अभागी भी हमारे दुर्भाग्य में हिस्सा बटाने आ गई है। और मैं, मुझे तो कुछ होता ही नहीं, शायद सारी विपत्ति देखने के लिये मैं ही रह गई हूँ।" शक्ति ने सिर उठाया, तो प्रोफेसर देवेन्द्र कुमार की आँखों से आँसू टपक रहे थे। शक्ति हँस पड़ी, "रोते हो प्रोफेसर; अच्छा रो लो, शायद तुम्हारे आँसुओं से समाज के अत्याचारों का कुछ प्रायश्चित्त हो सके, शायद तुम्हारी आँखों का खारा पानी किसी मानव-हृदय की ज्वाला शान्त कर सके। रो, खूब रो।" शक्ति फिर बेमतलब की हँसी हँस पड़ी।

तीसरा घण्टा भी बज चुका था। प्रोफेसर देवेन्द्र कुमार में कुछ भी कहने-सुनने की शक्ति न थी, चुपचाप अगामी घण्टे के विद्यार्थियों के लिये नोटिस लगवा कर घर चले आये। बड़ी देर तक सोच-विचार कर भाभी के पास जाकर कह आये कि वह विवाह नहीं करेंगे। उन्हें प्रायश्चित्त जो करना था। शक्ति का एक एक शब्द उनकी अन्तरात्मा को सम्पूर्ण रूप से मथे डाल रहा था। वह विक्षिप्त से हो रहे थे। मन बड़ा ही अशान्त था। रहस्यमयी शक्ति उनके निकट आज नग्न रूप में आकर और भी मानों उनसे दूर हुई जा रही थी, उसे दौड़ कर पकड़ना ही होगा। यही उनकी विचार-धारा का केन्द्र था। शायद

उस रात वह सोये ही नहीं। शक्ति भी उस रात नहीं सोई, पर वह न सोना दूसरे ही ढंग का था। उसके सिर में दर्द जो हो रहा था। उसके एकमात्र भाई का शरीर ज्वर से जल जो रहा था। रमिया कमर के दर्द से तड़प जो रही थी। शक्ति की रात खुली आँखों से ही व्यतीत हो गई। सबेरे भाई की दवा लेने डाक्टर की ओर चली तो घर में एक पाई भी न थी।

अंतिम पग

"किसी जन्म में बदला दूँगी, प्रोफ़ेसर साहब ?"

"बदले की चिन्ता न करो, बदला भी हो जायेगा, शक्ति। इस समय तो भगवान इसे स्वस्थ कर दे।"

"हूँ" कह कर शक्ति ने आँखों के कोनों में से दो बूँद जल झटपट पोंछ डाला।

धीरे धीरे प्रोफ़ेसर देवेन्द्र कुमार और शक्ति के बीच की दूरी कम होती गई, घनिष्ठता बढ़ती ही गई। यहाँ तक कि एक दिन कुमार साहब शक्ति के घर भी आये। अँधेरा, सीला, बदबूदार घर था। प्रकाश और हवा का प्रवेश मानो निषिद्ध सा ही था। वहीं एम० ए० की छात्रा रहस्यमयी शक्ति रहती थी। कुमार साहब जाते समय शक्ति के भाई को पाँच रुपये देने लगे पर शक्ति चटपट बोल उठी—"कुमार साहब, हम भिखारी नहीं हैं और न यह रेस्टराँ है।" रमिया ने कुमार साहब की खातिर जलपान से की थी, यद्यपि वह जलपान परिवार के सान्ध्य-भोजन के खर्च पर हुआ था। कुमार लज्जित हो गये पर तुरन्त ही झेंप ढक कर बोले—"सो कह कर क्यों लजाती हो, शक्ति ? यह

क्या मेरा भाई नहीं है ?" स्वर में अभिमान भी नहीं था दर्प भी नहीं था और नहीं था दान का गौरव। केवल मात्र एक दीन याचना थी। अस्वीकृति होते ही मानो रो देंगे। कुमार का ऐसा मुख देख कर शक्ति न नहीं कर सकी। फिर तो कुमार अकस्मर ही कुछ न कुछ देने का यत्न करते थे। और शक्ति सदा ही किसी न किसी भाँति टाल देती थी। उसके पास दो ट्यूशनें थीं, एक आठवीं कक्षा में पढ़ने वाली लड़की थी, उसे दो मील की दूरी चल कर पढ़ाने जाना पड़ता था, वह प्रायः सारे ही विषय पढ़ती थी, समय भी अपनी इच्छा का ही रखती थी और परीक्षा के पास करवाने का उत्तरदायित्व भी था। बुद्धि तो कुशाग्र थी पर पढ़ने में जी नहीं लगाती थी, अधिकतर अपने स्कूल की कहानियाँ ही सुनाने लगती थी, जिन्हें न सुन कर भी गुजर नहीं होता था, उसकी माता जी जो अप्रसन्न हो उठतीं। एक मास पश्चात पन्द्रह रुपये देकर वह समझतीं थीं कि शक्ति पर कोई बड़ा भारी एहसान कर दिया है। रुपये देते हुए कहती—"हाँ, भाई, मैं तो तुम्हारी माँ का मुँह याद करके कहती हूँ, लिहाज भी तो कोई चीज है, बेचारी कितना रोती थी अपने पुराने दिन याद करके और फिर तुम अपनी लड़की ही तो हो, कोई पराई तो हो नहीं। मुझे तो तुम पर दया आती है। वकील साहिब तो कहते थे, मुँशी सालिग राम को रख लो। बिटिया को पढ़ाने, रुपये भी दस लेते हैं और हैं भी पुराने तजुर्बेकार आदमी, उनकी भई होड़ कहीं हो सकती है। पर ऐसा करना अपना तो धर्म नहीं भाई। जिसे लड़की कह कर एक बार बाँह पकड़ी है उसे बीच में छोड़ना कहाँ का न्याय है। रही देर-सवेर आने जाने की, सो चलो दस मिनिट कम ही पढ़ा लिया तो क्या हो गया ? न हो बिटिया, तुम्हीं तनिक

ज़्यादा पढ़ा दिया करो। अरे भई घर के मालिक तो वही हैं न उनका भी मन रह जाये और मेरा तो कुछ नहीं, मैं तो तुम्हें अपनी लड़की ही समझती हूँ।" यह समझने और समझाने का क्रम हर मास रहता ही था, यद्यपि शक्ति एक घण्टे के स्थान पर सदा ही डेढ़ घण्टा पढ़ाती थी। आरम्भ में तो वह इस पर कुछ ध्यान भी देती थी, अब तो यह एक दैनिक कर्म बन गया था। वकीलनी कह जाती और शक्ति सुन जाती। इन्हीं वकील साहब ने शक्ति की माँ की दुख-कथा सुनने पर उसका असफल मुक़दमा सैकड़ों रुपये लेकर किया था।

दूसरी छात्रा एक एफ० ए० की लड़की थी, फिलोसफी और इंग्लिश पढ़ती थी। फ़ीस भी पचीस रुपया मिलती थी, एक घण्टे पढ़ाने की, घर भी विशेष दूर न था पर छात्रा सदा ही शक्ति को यह याद दिलाती रहती थी कि शक्ति में उसकी एम० ए० पास की हुई कालिज की लेक्चरर जितनी योग्यता नहीं है। कठोर शक्ति रुपये लेने के लिये सब कुछ सह लेती थी, उसे रुपये की आवश्यकता जो थी। इन्हीं पैंतीस रुपयों में परिवार का व्यय होता था। शक्ति की कालिज फ़ीस माफ़ थी। दस रुपये का एक स्कालरशिप भी मिलता था, जो पुस्तकों आदि में ही उड़ जाता था। रूखी रोटी तो किसी प्रकार मिल जाती थी, पर रोगी भाई के लिये दवा और पथ्य का प्रबन्ध नहीं हो पाता था। प्रोफ़ेसर देवेन्द्र कुमार को अपनी नई पुस्तक के लिये एक सहायक की आवश्यकता थी। सहज ही शक्ति को पचास रुपये मासिक का काम मिल गया। काम भी अच्छा ही था। दो घण्टे पुस्तकालय में बैठ कर प्रोफ़ेसर कुमार के लिये लेखन-सामग्री एकत्रित करनी पड़ती थी। अपनी योग्यता भी बढ़ती थी और अनुभव भी। भाई की परीक्षा

करवाई गई। डाक्टर ने राज्यक्ष्मा के लक्षण बतलाये। कुमार साहब के परिश्रम से वह भुवाली सेनीटोरियम में भेज दिया गया। शक्ति, बेचारी शक्ति, आठ वर्ष की आयु से दुख को चिर साथी बना कर आज भी कुछेक दिनों को भी शान्ति की साँस न ले सकी।

दुख जब थोड़ा सा आता है, तो मनुष्य घबरा जाता है, अधिक होने पर मस्तिष्क विकृत हो उठता है, किन्तु जब दुख सीमा से बाहर चला जाता है तो दुखी व्यक्ति की सहन-शक्ति भी सीमा रहित हो उठती है। हृदय पके फोड़े के समान ही निर्जीव हो जाता है, कोई भी दुख, कोई भी कष्ट, फिर उस पर प्रभाव डाल कर उसे पीड़ित कर पाता ही नहीं। शक्ति की वही हालत हो गई थी। डाक्टर की परीक्षा का परिणाम लेकर जब कुमार शक्ति के घर पहुँचा तो सन्ध्या हो गई थी। कुमार सोच ही न सकता था कि किस प्रकार इस चिर दुखिनी के एक मात्र रक्तमाँस-सम्बन्धित व्यक्ति को राजयक्ष्मा हो गया है, एक फेफड़ा बिलकुल नाकाम हो चुका है, यह सुनाये।

लम्बी चौड़ी भूमिका से उकता कर शक्ति ने कहा—"प्रोफेसर साहब, आप कहना क्या चाहते हैं? डरिये नहीं, कह ही डालिये, संसार भर का कोई दुख मेरा हृदय विदीर्ण नहीं कर सकता, यह निश्चय है।"

बहुत देर की हिचकिचाहट के पश्चात जब कुमार साहब समाचार दे सके तो शक्ति सदा की सी कठोर मुस्कराहट होठों पर लाकर बोली—"सो मैं जानती थी, कुमार साहब।"

कुमार साहब के पैरों तले से धरती खिसक गई। कैसी अद्भुत है यह रमणी। कितनी कठिन, कितनी दृढ़ और कितनी निराश।

रात को चाँदनी की उज्वल चिटक में कुमार ने कहा—मुझे एक संगिनी की आवश्यकता है। मैं स्वयं कोमल, दूसरों का मुख ताकने वाला कमजोर व्यक्ति हूँ। सदा ही भाभी की गोद में मुँह ही छिपाता रहा, किसी दिन भी आत्म-निर्भरता का पाठ पढ़ पाया नहीं, मुझे शक्ति सरीखी दृढ़, कठोर, कठिन नारी की आवश्यकता है······" अचानक ही कुमार मन ही मन कह उठे—"मेरी··शक्ति··मेरी·· रानी········" चन्द्रमा उस समय भी हँस रहा था। विधाता भी किसी अज्ञात कोने में बैठा मुस्करा रहा था··तेरी शक्ति··तेरी रानी।

देवेन्द्र ने पूरी सहायता की, किन्तु जिसे स्वयं काल का निमन्त्रण मिल चुका है उसे बचा सकता ही कौन है। और एक वर्ष कठिन यन्त्रणा पाकर और अपनी प्यारी दीदी के अत्यन्त परिश्रम से एकत्रित किये हुए धन का सदुपयोग करके शक्ति का अन्तिम पारिवारिक व्यक्ति, भाई भी चल बसा। शक्ति उसके अन्तिम दिनों में उसके पास भुवाली ही थी। रमिया घर पर ही रह गई थी। भाई की मृत्यु के तीसरे दिन प्रोफेसर देवेन्द्रकुमार को शक्ति का पत्र मिला—बहुत कुछ लिख कर शक्ति ने लिखा था "वह मर गया··सोचती हूँ मरना क्या हुआ, कुछ शून्य सा ही तो था, जो शून्य विराट शून्य में बिन्दु रूप से मिल गया, अच्छा ही हुआ। पिता गये, माँ गई, दोनों भाई गये फिर भी मैं अभी जीवित हूँ, सो क्या विश्व-नियन्ता की किसी विशेष, इच्छा की पूर्ति के लिये, अथवा केवल मात्र विनोद में पिता का रखा हुआ शक्ति नाम सार्थक करने के लिये·····। अरे क्या लिख गई, हाँ तो मरने से पूर्व उसने कहा था—दीदी, प्रोफेसर साहब देवता हैं, यह किसी दिन भी भूल न जाना। मेरा नन्हा भाई, भोला भाई क्या

जानता था कि उसकी अभागी दीदी के लिये देवता, मानव और पशु केवल शब्द मात्र ही रह गये हैं, उसकी दृष्टि में इन शब्दों का केवल इतना ही मूल्य हैं जितना क, ख अथवा ग का·········। कुमार साहब, जान पड़ता है मैं पागल हो रही हूँ, किन्तु पागल होऊँगी नहीं। उतनी क्षमता मुझ में नहीं है। शायद मैं मरूँगी भी नहीं। मृत्यु तो भाग्यवानों का ही वरण करती है, मुझे सौभाग्य से घृणा है। स्कूल में एक बार एक लड़की ने पूछा था—"शक्ति, तुझे कैसे उपन्यास भाते हैं। मैंने सरलता से कहा था 'ट्रेजिक'। कौन जानता था उस समय कि स्वयं मेरा जीवन ही एक लम्बी ट्रेजडी बन जायेगा। अच्छा ही तो है मुझे ट्रेजडी पसन्द जो बहुत है।······

"माँ का क्रिया-कर्म पूर्ण रूप से किया था। छोटे भइया का जैसे तैसे। इसका क्रिया-कर्म नहीं करूँगी। सुनते हैं मृतक व्यक्ति का यथोचित क्रिया-कर्म न होने पर उसे प्रेत-योनि मिलती है। सच ही मेरी बड़ी इच्छा है कि रघु प्रेत-योनि में जाये। मनुष्य होने से, मानव होकर जन्म लेने से प्रेत बन कर रहना कहीं सरल है, कहीं सुन्दर है और कहीं सुखकर होगा, यह मैं निश्चयपूर्वक कह सकती हूँ।······यह सब पागल का प्रलाप है, इसे पढ़ कर फाड़ देना। कभी कभी जी चाहता है कि कभी भी यहाँ से लौट कर न जाऊँ, पर आऊँगी अवश्य। देवता तुम्हारा ऋण चुकाये बिना छुटकारा नहीं होगा। तुम कहोगे मेरा कोई ऋण है ही नहीं। नहीं, नहीं तुम कैसे कह सकते हो, दाता हो न, किन्तु ऋणी तो उतनी सरलता से सहज में ही ऋण का अस्तित्व भूल जायेगा नहीं और फिर मैं तुम्हारी ऋणी रहूँ ही क्यों? तुम मेरे कौन हो? जिस भाई के लिये तुम्हारा आश्रय ढूँढा था, इच्छा न होते

हुए भी पकड़ा था, वह तो अब रहा ही नहीं……"

कोमल हृदय कुमार पत्र पढ़ कर बड़ा रोया था। यह शक्ति का उसके लिये पहला ही पत्र था। एक लम्बा चौड़ा उत्तर भी कुमार ने शक्ति को दूसरे दिन ही भेज दिया, किन्तु उसका प्रत्युत्तर फिर कोई नहीं आया। शक्ति भी चौथे दिन ही आ गई। कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ था, बिलकुल एकदम वैसी ही थी, केवल कुछ दुबली हो गई थी। मोटी तो शक्ति कभी भी न थी, किन्तु इस बार अधिक काली और अधिक दुर्बल हो गई थी।

शान्तिपूर्वक दो मास भी नहीं बीत पाये थे। शक्ति की वार्षिक परीक्षा में केवल तीन मास शेष थे कि रमिया को डबल न्योमोनिया हो गया। देवेन्द्र को भी अधिक घर आने को शक्ति ने मना कर दिया था। मुहल्ले में अँगुलियाँ उठने लगी थीं। लोग कहते भी न घबराते थे "जैसी माँ थी, वैसी ही तो बेटी होगी, नहीं तो रोटी कहाँ से चलेगी।" युवतियाँ मुस्करा देतीं, बुढ़िया बड़बड़ाने लगतीं, पर किसी को भी इस परिवार से सहानुभूति न थी, प्रायः मुहल्ला भर अप्रसन्न ही रहता था। उस दिन रमिया को न्योमोनिया हुए छठी रात थी, दर्द से दांत काले पड़ गये थे, शाम से ही शक्ति बैठी छाती सेंक रही थी, कुमार दवाइयाँ पिला रहा था। रमिया की साँस उखड़ी हुई थी। कुमार ने पहले कभी मृत्यु नहीं देखी थी, जान न सका, पर शक्ति के लिये मृत्यु अपरिचित न थी। कुमार को वह वहाँ से हटा देना चाहती थी, पर अज्ञात भय से कुमार जाना ही नहीं चाहता था। रमिया की सूरत बड़ी ही भयानक हो गई थी। अगले केवल दो ही साँस बचे थे और वह भी भयानक रूप से काले हो उठे थे। आँखें उलट रही थीं।

शक्ति के बार बार अनुरोध करने पर भी कुमार गया नहीं, वहीं पर बैठ गया। आठ बजे जाड़े की रात अँधेरा हो गया। रमिया के सारे शरीर से बड़े जोर का पसीना छूटने लगा। काले मुख पर पसीने की बूँदें चमक रही थीं। बाल तक भीग गये थे। शक्ति धैर्य पूर्वक पोंछे जा रही थी। कुमार शान्त थे। उन्हें मृत्यु की कल्पना तक भी नहीं हुई थी। साहस करके शक्ति ने ही कहा—"कुमार साहब, अब आप जाइये, नौ बजने लगे हैं। रमिया अब दो एक घंटे की मेहमान और है, आप जाइये सवेरे आ जाइयेगा।" इतनी सरलता से बिना रुके, बिना हिचकिचाये हुए, मृत्यु का जो सहज परिचय शक्ति ने दिया उससे कुमार पुरुष होकर भी काँप उठा। सिर के बाल तक काँप उठे। मुख से बोल भी नहीं फूटता था।

"मुझे पुरुष होते हुए भी भेज देना चाहती हो और तुम नारी हो कर भी सारी रात मृतक के साथ बैठोगी?" कुमार ने काँपते स्वर से कहा।

"मृत्यु से आपका परिचय नहीं है, किन्तु मेरा तो मृत्यु से पुराना सम्बन्ध है यह कैसे भूल जाऊँ?" शक्ति का स्वर दृढ़ था।

कुमार गया नहीं, अत्यन्त कष्ट से रात के बारह बजे रमिया ने प्राण छोड़ दिये। उसके मुख पर मरते समय के कष्ट की भयंकर रूप से छाप लग गई थी। कुमार तो उसके मुख की ओर देख भी न सका। पर शक्ति उसी प्रकार उस लाश के सिरहाने चुपचाप सारी रात बैठी रही। कुमार शक्ति के निकट खिसक आया।

"डर लगता है न? मैं तो कहती थी चले जाओ" कह कर शक्ति ने अत्यन्त निकट रखा हुआ कुमार का गोरा कोमल हाथ अपने हाथ

में पकड़ लिया। उसे शक्ति देने अथवा स्वयं शक्ति-संचय करने कौन जाने ? भिझक कर कुमार ने हाथ छुड़ा लिया, पर उसी प्रथम स्पर्श ने उसकी आत्मा में एक अद्भुत झंकार भर दी थी, उसका समस्त शरीर झंकृत हो उठा था। जैसे तैसे रात तो बीत ही गई, सुबह अन्त्येष्टि-क्रिया भी हो गई। उधर गौरी प्रायः सारी रात ही देवेन्द्र का खाना लिये बैठी रही। सन्ध्या को आने का वायदा करके देवेन्द्र जब घर पहुँचा तो दोपहर हो गई थी। गौरी की शंकाएँ चरम सीमा तक पहुँच चुकी थीं। अधिक प्रेम बुरा ही जल्दी देखता है। कहीं कोई दुर्घटना न हो गई हो। यही उसे चिन्ता थी पर पति से कहने का साहस भी न था। रात को ही एक बार शंका प्रकट करके कई कठोर वाक्य सुन चुकी थी। क्रोध और दुश्चिन्ता से अधमरी हुई हुई गौरी ने जब देवेन्द्र को देखा तो एक बार क्रोध से बावली हो उठी, पर ज्यों ही उसकी दृष्टि देवेन्द्र के सूखे हुए मुख पर पड़ी, वह शंका से भर उठी। देवेन्द्र रसोई में उसके पास धरती पर ही आ बैठा। तुरन्त घाट पर नहाये हुए बाल भीगे थे। जल्दी जल्दी गोदी में सिर लेकर भीगे बाल पोंछती हुई गौरी ने कहा—"मुझे तो तूने, देव, रात भर में मार ही डाला। तू था कहाँ बचे और कहाँ से नहा आया ? स्वर में चिन्ता से अधिक मान ही था।

"भाभी, एक विपत्ति में फँस गया था रात को मेरे एक मित्र के घर में एक मौत हो गई थी वहाँ रहना पड़ा बस और कुछ मत पूछो भाभी, बड़ी भूख लग रही है, पहले कुछ खाने को दो।"

"लो मेरे लाल।" कह कर भाभी तश्तरी में कुछ मिठाई और ताजा नमकीन नाश्ते को ले आई खाना तब तक बना ही न था।

जल्दी जल्दी तशतरी साफ करके देवेन्द्र अपने कमरे में सोने चला गया। गौरी भी सिर में कुछ तेल देकर स्नान करने चल दी। सब कुछ यथापूर्व होता गया।

सन्ध्या-समय देवेन्द्र फिर शक्ति के घर पहुँचा। शक्ति चुपचाप एक ओर मनमारे एक पुस्तक घुटनों पर रखे बैठी थी शान्त और उदासीन। चूल्हे में आग का चिह्न भी न था। देवेन्द्र सुबह भूल ही गया था कि उसे भी कुछ खिलाना-पिलाना चाहिये।

"अरे तुम ने अभी कुछ खाया-पिया भी नहीं। कैसी हो तुम शक्ति ?" देवेन्द्र अपनी भूल पर लज्जित हो रहा था।

"स्त्रियाँ दो चार दिन न खाने से मरती नहीं, प्रोफेसर साहब।" शक्ति ने शून्य दृष्टि से ताकते हुए कहा।

"मरता तो कोई भी नहीं, स्त्रियाँ ही क्यों ? अच्छा पहले कुछ खाने को ले आऊँ।" कुमार जाने को उद्यत हुए।

"नहीं, मैं बाजार की कोई भी चीज नहीं खाऊँगी।"

"तब बना ही लिया होता।"

"इच्छा ही नहीं थी और फिर घर में न आटा है न दाल और न पैसा।"

"आज ही सामान चुक गया क्या ?

"नहीं, पिछले अड़तालीस घण्टे से नहीं था।"

"मुझ से कहा क्यों नहीं ?"

शक्ति केवल हँस दी।

"सुनो शक्ति, मैं तुम्हें यहाँ अकेले नहीं छोड़ सकता। तुम्हें मेरे साथ चलना ही पड़ेगा।" दृढ़ता से कुमार ने कहा।

"कहाँ ?" आश्चर्य से शक्ति ने पूछा।

"घर ? और कहाँ ?"

"किसके ?"

"मेरे घर, शक्ति।"

"वहाँ नहीं जाऊँगी।"

"पर यहाँ मैं रहने जो नहीं दूँगा।"

"वहाँ तुम्हारे भाई-भाभी क्या रहने देंगे।"

"सो मैं देख लूँगा। तुम्हें सोचना पड़ेगा नहीं।"

"पर मैं वहाँ जाऊँगी ही क्यों ?"

"तुम्हें जाना जो पड़ेगा।"

शक्ति देवेन्द्र के भोलेपन पर हँस पड़ी। नारी को शायद भगवान् आरम्भ से ही व्यवहार-बुद्धि देने में कृपणता नहीं करते।

"पर तुम्हारा मुझ से ऐसा कहने का अधिकार ही क्या है ?" कुछ परीक्षा-भाव से शक्ति ने कहा।

"ओह।" कह कर देवेन्द्र बैठ गया टूटी पाये की कुर्सी पर।

"तब क्या होगा ?" देवेन्द्र ने सूखे मुँह से कहा।

"मैं चलूँगी।"

"कहाँ ?"

"तुम्हारे घर।"

"ओह, सो ही तो मैं कहता था।" प्रसन्नता से देवेन्द्र कुमार का मुख चमक उठा।

"पर वहाँ मेरा परिचय क्या कह कर दोगे ?"

"क्यों ? कह दूँगा मेरी आत्मा है, मित्र है।" शक्ति कुछ देर

सोचती रही, फिर शान्त भाव से लज्जा बलपूर्वक दूर करके बोली—"अकेली मैं इस घर में इस मुहल्ले में नहीं रह सकती हूँ सो शायद मुझ से अधिक और कोई नहीं जानता। आज दिन भर में ही शहर के सारे बालिका-होस्टलों में भी घूम आई हूँ, कहीं भी स्थान नहीं है सो भी मुझ से छिपा नहीं है, किन्तु कोई भी पुरुष हमारे समाज में किसी भी अपरिचित स्त्री को अधिक देर तक अपनी शरण में पत्नी के अतिरिक्त और किसी रूप में नहीं रख सकता सो भी मुझे ज्ञात है। तुमने मुझ पर इतनी कृपा की है। तुम्हें और अधिक विपत्ति में नहीं डालूँगी। भगवान् मेरी रक्षा करेंगे मैं, इसी घर में रहूँगी।"

"तब चलो, मैं तुम्हारा समाज के सम्मुख पत्नी-रूप में ही परिचय दूँगा।"

"तुम्हारा इतना बड़ा अनुग्रह मैं नहीं ग्रहण करूँगी, कुमार साहब।"

"यह क्या अनुग्रह है, यह तो विनय है, भीख है शक्ति। मैं सचमुच तुम से प्रेम करता हूँ।" न जाने किस तरह कुमार एक साँस में ही कह गया।

शक्ति लगभग पन्द्रह मिनिट तक चुप रही। एक दम मृत्यु का सा सन्नाटा रहा। फिर न जाने क्या सोच कर शक्ति खड़ी हो गई। कुछ देर शून्य की ओर ताक कर बोली—"तब चलती हूँ। चलो।"

"सामान साथ न लोगी।"

"अभी नहीं और यहाँ है ही क्या ?"

"चलो।" गली से बाहर निकलते ही कुमार ने टाँगा कर लिया। जिस समय टाँगा बैरिस्टर साहब की कोठी के सम्मुख खड़ा हुआ तो

अन्धकार बढ़ रहा था। दोनों ने प्रवेश किया। उस दिन भी गौरी दीपक-सहित तुलसी को प्रणाम करके दीपक तुलसी के बीच रख कर खड़ी ही हुई थी।

"भाभी, एक दिन तुम से कहा था यदि किसी दिन कोई अपराध कर भी डालूँ तो तुम क्षमा करना। अब तुम्हारी बहू तुम्हारे सम्मुख खड़ी है। इसे ग्रहण करो या न करो तुम्हारा अधिकार है।" सदा का शर्मीला देवेन्द्र कहता ही गया, "शक्ति, यह भाभी है, आओ इन्हें प्रणाम करें।"

भाभी के हाथ से जल भरा लोटा न जाने कब का पृथ्वी पर आ गिरा था। अचानक की घटना ने उनकी बुद्धि कुण्ठित कर दी थी। दसेक मिनिट तक मृत्यु का सा सन्नाटा रहा। तत्पश्चात परिस्थिति सम्हाल कर भाभी स्वयं बोलीं—"जब तुम ही ग्रहण कर चुके हो लाला, तो मेरा ग्रहण न ग्रहण का प्रश्न ही कहाँ रहा? घर की बहू घर से भगाई थोड़े ही जायेगी। चलो बहू।" शक्ति भाभी के पीछे पीछे घर में चली गई। देवेन्द्र अपने कमरे में चला गया।

भाभी के जीवन में यह एक बड़ी भारी निराशा हुई थी किन्तु समझदार थीं सम्हल गईं। मालिक का हुक्म तो हुआ था कि राँड को झाड़ू मार कर भगा दो, पर गौरी ने कहा—"घर की बहू को झाड़ू मारने से अपनी ही नाक कटेगी। तुम चुपचाप ही रहो। बुड्ढ़े महाराज, पहले से ही लड़के को सम्हाला होता तो यह दिन क्यों देखना पड़ता।

"तुम ने ही सिर चढ़ाया था, अब भोगो, मुझे क्या? न जाने किस कमीने घर की है, निभाना तो तुम्हें ही होगा। एक छल्ला तक तो लाई नहीं।"

दुख और उपेक्षाजनक अभिमान गौरी को भी कम न था, पर वह सब कुछ चुपचाप पी गई। बिना किसी धूमधाम के विवाह भर हो गया। गौरी की साध मन में ही रह गई। सब कुछ कर धर के भी शक्ति पर गौरी किसी दिन भी प्रसन्न न हो सकी। पर देवेन्द्र सुखी था, बहुत सुखी, शक्ति भी शायद सुखी ही थी। इसी प्रकार और विवाह के छः सात मास बीत गये। सब कुछ होने पर भी गौरी बहू को कभी रसोई छूने नहीं देती थी। शक्ति को इसकी चिन्ता भी न थी। गौरी ने शक्ति का कालिज जाना भी बन्द कर दिया था। शक्ति घर रह कर ही पति के काम में सहायता पहुँचाने लगी थी। दम्पत्ति सुखी थे। पर घर में शान्ति नहीं थी। यहाँ तक कि गौरी देवेन्द्र से भी कटी कटी सी रहने लगी थी। नये नशे में देवेन्द्र ने भाभी के इस थोड़े से परिवर्तन पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। वह इतना आवश्यक परिवर्तन था भी नहीं, जो किसी का विशेष ध्यान आकर्षित करता या कर सकता।

गृहस्थ

"भारत धर्म-प्रधान देश सदा से ही रहा है और वैसे तो मनुष्य मात्र ही स्वयं इतना दृढ़, इतना शक्तिशाली नहीं होता कि वह विश्व के संघर्ष में बिना किसी आश्रय के ही चल पड़े। खैर, मनुष्य की बात तो बहुत बड़ी बात है, भारत में तो निश्चयपूर्वक ही केवल आर्थिक समस्या हल होते ही समस्त समस्याएँ हल नहीं हो जायेंगी। यह तो मैं मानता हूँ शक्ति कि तुम्हारा अनुभव अधिक है किन्तु मैं तो विश्वास कर ही नहीं पाता कि दरिद्रता ही समस्त शारीरिक और मानसिक पापों की जननी है।" कुमार शान्तिपूर्वक कह रहा था। उस दिन प्रातःकाल से ही नन्हीं नन्हीं बूँदें पड़ रही थीं। बादल भी खूब ही घिरे थे। रविवार का दिन था कालिज में छुट्टी थी। शक्ति को भी कोई विशेष काम न था। रसोई घर में तो वह आने ही नहीं पाती थी; हाँ बाहर ही बैठ कर कभी कभी साग-सब्जी सँवार देती थी। सो भी गौरी कभी स्वयं नहीं कहती थी। वास्तव में गौरी को शक्ति पर सहज प्रेम नहीं उत्पन्न हुआ। पति से लड़ झगड़ कर भी उसने स्वयं ही शक्ति का विवाह करवाया किन्तु अत्यन्त साधारण रीति से। शक्ति को घर

में बहू बना कर रखना भी स्वीकार किया, किन्तु सो सब गौरी जैसी समझदार, मर्यादा निभाने वाली गृहिणी के योग्य ही था। परन्तु किसी दिन भी वह यह भुला नहीं पाई थी कि यह स्त्री मेरी पसन्द से—मेरी कृपा से—चुनी हुई देवेन्द्र की धर्मपत्नी नहीं है, वरन स्वयं अपनी शक्ति से देवेन्द्र के मन को जीत कर इस घर में बलपूर्वक हठपूर्वक प्रवेश करने वाली देवेन्द्र कुमार की प्रेमिका है। देवेन्द्र मुझ से, मेरे प्रति सम्मान से भी अधिक इस काली, अज्ञात कुल शील वाली लड़की को प्रेम करता है।" यह गौरी के हृदय में सदा ही दुःख पहुँचाता रहता था। गौरी के स्थिर दृढ़ विश्वास को बड़ा भारी धक्का लगा था। उसका दिल टूट गया था, परन्तु फिर भी वह देवेन्द्र को बड़ा ही प्रेम करती थी। मूर्ख स्त्रियों की भाँति पति पत्नी में झगड़ा करवा कर तमाशा भी नहीं देखना चाहती थी और स्वयं अपने घर में कलह का बीज बो कर भी अशान्ति फैलाना नहीं चाहती थी। देवेन्द्र पर उसे क्रोध भी न था। कितना असह्य अपराध बन पड़ने पर भी मातृहृदय सदा ही अपनी सन्तान का दोष न देख कर दोष किसी और के सिर ही मढ़ देता है। गौरी की छाती में भी तो मातृहृदय था। उसे देवेन्द्र भोला और निर्दोष ही दीखता था, जब कि सम्पूर्ण दोष बेचारी काली लड़की का ही जान पड़ता था। यही कारण था कि गौरी, बुद्धिमती गौरी अपने भावों को छिपा ही रहने देने के उद्देश्य से शक्ति को बहुत कम अपने पास आने का अवसर देती थी। अधिकतर शक्ति के सामीप्य से बचने के लिये रसोई घर का आश्रय लेती थी, जहाँ कि शक्ति का प्रवेश निषिद्ध था। स्वाभिमानिनी शक्ति को यह भला तो नहीं लगता था, पर दुःख की निरन्तर काली आँधी का सामना करते

रहने से अब वह थक सी गई थी, उसे विश्राम की आवश्यकता थी। झगड़ा करने की न इच्छा ही रह गई थी और न सामर्थ्य ही, यहाँ तक कि जो कुछ मिल गया था उसी पर वह आवश्यकता से अधिक सन्तुष्ट थी। उससे अधिक की उसे तनिक भी इच्छा न थी। गौरी के सामीप्य के लिये वह अधिकतर उसे छेड़ती भी न थी। कभी कभी स्वामी कहते—"शक्ति, तुम भाभी के पास क्यों नहीं जाती? तुम उन्हें जानती नहीं हो रानी, जब पहचान पाओगी तो उनका सा विशाल हृदय कहीं विश्व भर में नहीं ढूँढ पाओगी।" शक्ति को इसमें कुछ भी सन्देह हो सो बात नहीं थी। उसने मानव-चरित्र का घना अध्ययन किया था। परिस्थितियों ने भी उसे अनेकों मानव-चरित्र के उदाहरण दिखा दिये थे। पर वह मन ही मन उत्तर दे डालती थी। "सचमुच भाभी का हृदय विशाल है, पर वह केवल तुम्हारे लिये। पराई अज्ञात कुल शीला असुन्दर लड़की के लिये नहीं। दोष भाभी का नहीं है, वरन नारी मात्र ही किनारों पर रहती है, उसका हृदय विशालतम है, पर उनके—केवल उनके लिये ही जिन्हें वह अपना लेती है और विश्व के समस्त व्यक्तियों के लिये वह संकीर्ण ही रहता है।" यह सुन कर मनोविज्ञान का पंडित प्रोफेसर देवेन्द्र कुमार भी प्रसन्न न हो सकेगा, इसी लिये शक्ति यह प्रकट रूप से न कह कर, केवल मात्र थोड़ा सा मुस्करा कर कह देती—"अच्छा अब अधिक बैठा करूँगी उनके पास। सचमुच वह तुम को बड़ा प्रेम करती हैं।" "ओह, यह कोई कहने की बात है।" और बात समाप्त हो जाती। शक्ति यत्न करती गौरी के अधिकाधिक निकट पहुँचने की, पर गौरी बिलकुल भी परवाह नहीं करती,

यहाँ तक कि कभी कभी वह झुँझला भी उठती हैं। शक्ति में सहन-शक्ति की कुछ विशेष अधिक मात्रा तो नहीं थी, किन्तु उसके मन की अवस्था समुचित रूप से स्वस्थ्य थी। इसी कारण वह इतनी अधिक परिवार के व्यक्तियों की उपेक्षा सह कर भी चिढ़ती नहीं थी, घबराती भी नहीं थी, विचलित भी नहीं होती थी, उसे पति के प्रेम पर विश्वास जो था। उसका आश्रय सम्पूर्ण रूप से दृढ़ जो था। मनुष्य असहाय अवस्था में विपत्ति से घबराता है, किन्तु मन के अत्यन्त निकट किसी अपने प्रिय के दृढ़ सहारे को पाकर मनुष्य घबराता नहीं, वरन अपने दुखी मन में भी एक शक्ति सी पा जाता है। शक्ति भी इसी प्रकार की शक्ति पाकर गौरी भाभी की समस्त उपेक्षा को, पुराने दास-दासियों के समस्त अपमान को सरलता से देवेन्द्र का निष्कपट प्रेम पाकर पी जाती थीं। कड़वी दवा की भाँति। किन्तु इससे लाभ यही होता था कि शक्ति को बहुत कुछ स्वतन्त्रता सी हो गई थी। वह पति के पास किसी समय भी बैठ सकती थी और उसकी आवश्यकता थी ही किसे? गृहिणी का उत्तरदायित्वपूर्ण पद तो उसे मिला ही नहीं था, नई बहू का दबा ढका स्थान भी वह नहीं ले सकी थी। अतः उस उज्वल प्रभात में वह देवेन्द्र के पास बैठ कर बातचीत कर रही थी। देवेन्द्र को भी शक्ति के साथ बातचीत करने में कोरी पुस्तकें पढ़ने से कहीं अधिक आनन्द आता था। उस दिन उस सुन्दर शीतल प्रभात में इसी प्रकार वे लोग बातें कर रहे थे।

"आपने किसी दिन भी दरिद्रता—वास्तविक दरिद्रता—के दर्शन नहीं किये हैं। मौरेल्थी, कर्तव्यज्ञान आपके लिये किसी दिन भी किसी गम्भीर खतरे में पड़ा ही नहीं है, अतः आप उसका भीषण रूप भी

नहीं समझ पायेंगे, समझ सकेंगे ही नहीं। आपके सम्मुख किसी दिन भी दो दिन भूखे रहने के पश्चात यह प्रश्न नहीं आया है कि सम्मुख, थोड़ी ही दूरी के अन्तर पर, रखा हुआ अन्न न्याय और धर्म से अपना कहा जाने योग्य है या पराया। अथवा कान्ट के सिद्धान्त के अनुसार उस अन्न को उठा लेना एक विश्व-व्यापी नियम बनाया जा सकता है अथवा नहीं। कान्ट के सम्मुख भी यह प्रश्न यदि भूख की धधकती हुई ज्वाला के साथ आता तो शायद प्रश्न और उत्तर दोनों ही उस ज्वाला, भीषण जठराग्नि की ज्वाला में पड़ कर भस्म हो जाते। मैं नहीं जानती कि आर्थिक समस्या का हल भारत की अन्य सब ही समस्याओं का हल कर पायेगा अथवा नहीं, पर यह निश्चयपूर्वक कह सकती हूँ कि भूख, शीत, दैन्य और दरिद्रता में खड़ा हुआ व्यक्ति उपदेश समझ सकता ही नहीं। बलपूर्वक चाहो तो उन्हें उसके कानों के नीचे भले ही उतार दो, पर कण्ठ के नीचे वे किसी भी अवस्था में उतरते ही नहीं। उनकी कड़वाहट इतनी अधिक होती है कि उनके गुणों को भी वह सर्वाङ्गपूर्ण रूप से ढक लेती है।" शक्ति का स्वर तीव्र था।

"सो शायद सत्य हो, किन्तु धर्म से मेरा तात्पर्य, रूढ़िवाद नहीं कर्त्तव्य से है। हाँ तो यदि कर्त्तव्य को तुम केवल मात्र अर्थ से उत्पन्न हुआ उसका एक दास मात्र ही मान लोगी, तो कर्त्तव्य का महत्व रह ही कहाँ जायेगा। कर्त्तव्य का ज्ञान यदि केवल पेट भरने पर ही हो सकता हो तो वह और चाहे जो कुछ हो, सत्य नहीं रह जायेगा। सत्य किसी का दास नहीं होता, किसी बन्धन का फल भी नहीं होता, सत्य तो नग्न होता है, खुला होता है। यदि अर्थ उसका

बन्धन बन जाये, विश्व के समस्त धनी ही केवल उस सत्य के दर्शन कर सकें तो वह बँध जायेगा अर्थ के बन्धन में, सो क्या कभी भी माना जा सकता है। क्रियात्मक जगत में भी देख लो, सब ही पेट भरे लोगों को धर्म का ठीक ठीक ज्ञान होता हो सो बात तो है नहीं।"

"जितनी ही अधिक मात्रा में कुनीन दी जायेगी उतना ही शीघ्र मलेरिया ज्वर उतर जायेगा यह तो मैंने किसी दिन भी नहीं कहा। धन से ही कर्तव्य-ज्ञान होता है अथवा जितनी अधिक मात्रा में धन होगा उतना ही अधिक कर्तव्य-ज्ञान होगा, इतनी बड़ी एक भ्रम असम्भव बात तो मैंने कही ही नहीं है। न इस पर मेरा किसी दिन भी विश्वास हुआ है। अधिक भोजन से भी अजीर्ण होकर उतनी ही हानि होती है जितनी भोजन न खाकर दुर्बल हो जाने में, सो मुझ से कुछ छिपा हुआ नहीं है, परन्तु यह निश्चयात्मक रूप से मानना ही पड़ेगा कि धार्मिक या कर्तव्य की दृष्टि से, समाज की सुव्यवस्था की दृष्टि से, भोजन न कर पाना—भूखे होते हुए भी, अपराधी होते हुए भी, भरपेट भोजन न पा सकना, कहीं अधिक भयंकर है, अधिक भोजन करके अजीर्ण कर बैठने की अपेक्षा।"

"हो सकता है यह ठीक हो, किन्तु उसका उत्तर यह तो है नहीं कि आर्थिक समस्या ही समस्त समस्याओं का अन्त कर देगी।"

"कर ही देगी। भरपेट भोजन मिलने के बाद, शीत निवारण करने के लिये वस्त्र मिलने के पश्चात और सिर छुपाने के लिये एक मानवोचित मकान मिल जाने के बाद जो चोरी, जुआ, बेईमानी आदि की बात सोच सकें ऐसे मनुष्य संसार में बहुत अधिक नहीं हुआ करते। मनुष्य को स्वभावतः अधर्म से, अन्याय से घृणा होती

है कुछ प्रेम नहीं, पर परिस्थितियाँ उसे विवश कर देती हैं, उसी भरी घृणा को बलपूर्वक अपनाने के लिये और जब वह एक बार बरबस उन्हें अपना ही लेता है तो फिर वह स्वयं ही उसे इस प्रकार जकड़ लेती है कि किसी दिन इच्छा करने पर भी वह उनसे छुटकारा पाना असम्भव पाता है ?

"यह क्या सत्य है, शक्ति ? जब मैं बी. ए. में पढ़ता था विचार उतने परिपक्व न थे, सुधार का भूत भी सिर पर सवार था। समाज की गहन समस्याओं पर विचार तो कम ही किया था पर कार्य्य करने की इच्छा बलवती थी। उन दिनों मैं धोबियों के एक मुहल्ले में प्रायः उन की स्थिति का अध्ययन करने जाया करता था। उस मुहल्ले में प्रायः तीस-चालीस घर थे। वहाँ केवल धोबी ही रहते थे। छोटी छोटी कोठरियाँ थीं सील, बदबू और अँधेरे से भरी हुई। प्रायः प्रत्येक परिवार के पास दो दो कोठरियाँ थीं। उनमें से एक कोठरी के सामने बाहर भट्ठी लगी हुई थी। कोठरियों के सामने कुछ स्थान खुला छूटा हुआ था। उसने स्थान में कठिनाई से उन्होंने एक दो चूल्हे रख कर अपनी रसोई बनाई हुई थी। इसी प्रकार की कोठरियों की दो लाइनों के बीच में कोई सात आठ फीट चौड़ी गली सी छूटी हुई थी। इसी गली में से पीछे रहने वाले साधारण स्थिति के गृहस्थ निकला करते थे। मार्ग तो एक और भी था उस बाबुओं के मुहल्ले में जाने का, पर वह सड़क के पास पड़ता था। गर्मियों की रात में जब यह समस्त स्त्रियों तथा पुरुषों सहित धोबी परिवार उसी सड़क पर अपनी टूटी छोटी छोटी चारपाईयाँ बिछा कर सोता रहता था, तब भी देर से आने वाले बाबू उनकी चारपाइयों से टकराते हुए ही निकलते जाते

थे। किसी प्रकार का पर्दा भी न था निजत्व भी नहीं। उसी गली में कुछ स्त्रियाँ सड़क से गोबर लाकर भी पाथ लिया करती थीं, उस गोबर में पड़े हुए कीड़े और पास ही पानी इकट्ठा होने से एकत्रित हुए मच्छर प्रायः गर्मियों की रात में वहाँ नरक का ही दृश्य उपस्थित कर देते थे, पास ही भोजन बनने से धुएँ, गर्मी और उमस की भी कमी न थी। गली के एक तँग किनारे पर ही साठ-सत्तर मनुष्यों का मल मूत्र एकत्रित होने से दुर्गन्ध भी अत्यधिक मात्रा में थी। प्रत्येक कोठरी में धुलने वाले कपड़े, प्रेस करने वाली मेजों के अतिरिक्त चार चार पाँच पाँच मानव-प्राणी भी रहते थे। बहू, बेटा और सास, माता, पिता और जवान लड़की सब ही तरह के पारिवारिक व्यक्ति साथ ही साथ पड़ जाया करते थे। जाड़ों की रात में ठँड और थकान से चूर। गली की समाप्ति पर एक कपड़े धोने का हौज था। वहाँ सब साथ ही कपड़े धोया करते थे। स्त्रियाँ कपड़ों को मलतीं, वारा छुटातीं और नील देतीं थीं, पुरुष हौज में फचीट के धोते थे, फिर अधगीले कपड़ों पर स्त्रियाँ प्रेस करती थी। प्रातः चार बजे से रात के ग्यारह बजे तक स्त्रियों को विश्राम का नाम भी नहीं मिलता था। हाँ पुरुष अवश्य रात को आठ नौ बजे के लगभग शराब पी कर आनन्दोत्सव मनाने लगते थे। सचमुच उस समय उनके अश्लील वाक्य सुन कर भद्र पुरुष कानों पर अँगुलियाँ धर लेते थे। पर शक्ति सुनोगी उन नारियों की बात जो रात दिन उन्हीं के साथ रहती थीं। जिन वाक्यों को पुरुष भी सुन नहीं सकते थे उन्हें ही सुन कर बुढ़ियाँ मुँह फेर कर हँस देती थीं। युवतियाँ एक दूसरी की ओर आँख मार कर धीरे से मुस्करा देती थीं और लड़कियाँ खिलखिला कर हँसती थीं। छिः

आज सोच कर भी घृणा आती है। अन्य आने जाने वाले बदमाश नीच मजाक करने से चूकते न थे, पर वह युवतियाँ बुरा भी नहीं मानती थीं केवल धीरे से मुस्करा देती थीं। कभी कभी स्त्रियाँ भी शराब पी लेती थीं और तब तो हद ही हो जाती थी। उनके बच्चे सदा नंगे फिरा करते थे और स्त्रियाँ गन्दी, थकी और सदा ही गर्भ के भार से दबी हुई। उन दिनों सत्यकाम, तुम तो उसे जानती होगी स्टूडेन्टस लीडर—आजकल जो प्रान्तीय साम्यवाद सभा का मन्त्री है, हमारा लीडर था। उसने हमें बताया कि यह सब कुछ अर्थाभाव का परिणाम है। एक ओर जब कि मकान-मालिक उन गन्दी कोठरियों के पाँच रुपये मासिक ले रहे हैं, तो दूसरी ओर कपड़े धुलवाने वाले किसी अवस्था में भी चार पैसे कपड़े से अधिक इन मँहगी के दिनों में भी देना नहीं चाहते। दोनों ओर से लूटे जाकर ही इन लोगों की यह दशा है।" शक्ति का ध्यान शायद किसी और ओर चला गया था; वह बहुत ही अन्यमनस्क सी दीख पड़ी।

"कहानी भली नहीं लगी, शक्ति ?"

"नहीं, नहीं तुम कहे जाओ, कुमार। मुझे बड़ी ही भली लग रही है।" शक्ति जब भी कभी बहुत अधिक स्नेह से भर उठती थी तो पति को तुम और कुमार ही कहा करती थी।

"मैंने समस्त मन-प्राण से विश्वास कर लिया था। फिर एक दिन एक घटना ने मेरा विश्वास खोखला कर दिया। धोबी आया हुआ था। भाभी कपड़े गिन कर रख चुकी तो धोबी गिड़गिड़ा कर हिसाब करने को कहने लगा। भाभी ने साफ इन्कार कर दिया उस दिन रुपये देने को। कहने लगी फिर किसी दिन आना। मुझे मालूम

था कि भाभी के पास रुपये हर समय रहते हैं और उस दिन भी सौ रुपये उनकी घर खर्च कीसन्दूकड़ी में पड़े हुए थे, पर धोबी-बेचारे दोनों ओर से समाज से ठगे जाने वाले धोबी को पाँच सात रुपये देना उन्हें स्वीकार न था। जब रुपये घर में हैं ही तो दे क्यों नहीं देती, दो दिन बाद देने तो तब भी पड़ेंगे। मैंने भी बहुत कुछ कहा सुना। धोबी भी बहुत रोया गिड़गिड़ाया कि उसका बच्चा बीमार है, रुपये की आवश्यकता है पर भाभी पसीजी नहीं। मुझे भाभी की अकारण अनुचित जिद्द पर बड़ा ही क्रोध हो आया पर भाभी अटल थीं। धोबी चला गया। भाभी के कथन से और दो चार दिन बाद, धोबिन के रोने धोने से जो पता लगा वह यह था कि मेरा भाभी के इन्कार करने के बाद भी चुपके से धोबी को तीन रुपये दे देना अनर्थ हो गया। बात यूँ थी कि धोबी के दो बच्चे कोई एक मास से टाईफाईड में पड़े हुए थे। धोबिन—माँ यथाशक्ति इलाज करवा रही थी। धोबी भी होश में रहने पर बच्चों की बात सोच लेता था, पर ज्यों ही सन्ध्या आती सारे दिन की गाढ़ी कमाई बोतल के बन्द पानी पर उड़ा देता। धोबिन बहुतेरी मिन्नतें करती कि बच्चों का जी बच जाने दो फिर जितनी इच्छा हो पीना पर वह लाचार था। धोबिन का पिछला सञ्चित खजाना भी चुक गया था, अतः धोबिन रो रो कर सब घरों में अपनी कथा सुना कर निवेदन कर आई थी कि धोबी को कोई पैसा न दे, एक दो दिन के बाद वह स्वयं ले जायेगी। इसी लिये भाभी ने पैसे नहीं दिये थे। सम्भवतः नशा न कर पाने पर धोबी मनुष्य ही बना रहता पर मेरे बच्चे की ओषधि पथ्य के लिये दिये हुए तीन रुपये की पूरी शराब जब धोबी के आमाशय में पहुँच गई तो

धोबिन की अच्छी खासी मुरम्मत हुई उसी रात को। मार खा कर बीमार बच्चों को छोड़ कर माता अपने एक पड़ौसी प्रेमी चमार को ले कर क्रोध में भागने का यत्न करने लगी पर शीघ्र ही पकड़ ली गई। प्रेमी और प्रेमिका दोनों को फिर खूब मार पड़ी। इस धक्काधुम्मी में कब तीन साल का शक्तिहीन रोगी बच्चा लुढ़क कर धरती पर गिर पड़ा किसी ने जाना नहीं। सुबह तक बिना कुछ ओढ़े पड़े रहने से बच्चे को न्योमोनिया हो गया और तीसरे दिन माता को अपने रोग की तथा अपनी भी चिन्ता से मुक्त कर वह विचारवान जीव जिस लोक से आया था वहीं लौट गया। भाभी ने कठोर ढँग से जो कुछ कहा वह रूढ़िवादी विचार तो अवश्य हैं किन्तु, शक्ति, ठँडे दिल से सोचो तो उसमें कुछ तथ्य भी है। उन्हों ने कहा—मरे कमीने हैं न। धन तो इतना कमाते हैं कि घर में समाता नहीं, पर शराब मुँह से छूटे तब न? बेचारी धोबिन का मार मार कर भुरकस बना दिया। इतना तो पीटता है बेचारी भागे न तो क्या करे? कमबख्तों का पेट कभी भरता ही नहीं, इतना कमाते हैं फिर कंगाल के कंगाल? लक्षण तो ऐसे हैं इन के घर में लक्ष्मी टिके भी कैसे? घर की लक्ष्मी की तो क़दर नहीं। इसी से तो दुनिया इन्हें कमीन कहती है।......आदि आदि। शब्दों का विन्यास सुन्दर न था। मैं तब नाराज भी बहुत हुआ था किन्तु आज सोचता हूँ उन परिवारों के लिये समस्या धन की न थी। सचमुच ही हमारे मध्य वर्ग के अनेक क्लर्कों से कहीं अधिक उन की आमदनी थी। कितने ही बुद्धि-जीवियों से आर्थिक दृष्टि से वह कहीं अधिक सुखी थे; पर उनकी समस्या दो प्रकार की थी, एक तो उनकी मनोवृत्तियाँ ऊँची न थीं। समाज में

उनकी उचित शिक्षा-दीक्षा का प्रयत्न नहीं किया था। हमारा अभागा समाज, हमारा पराधीन देश बुद्धि और श्रम को इस सीमा तक दूर कर डालना चाहता है कि एक दूसरे का प्रतिबिम्ब भी न छू पाये। जो बुद्धिजीवी वर्ग है वह अपने घर का आटा पिसवाना, घर की स्वच्छता, कपड़ों का मल साफ करना आदि किसी भी परिश्रम के काम को अपनी शान के विरुद्ध समझता है। एक बार, केवल एक बार ही, जब कोई व्यक्ति बुद्धि को जरा भी शिक्षा द्वारा उन्नति दे पाता है तो वह श्रम-जन्य कार्यों को, श्रम द्वारा उत्पन्न धन को, यहाँ तक कि शारीरिक परिश्रम को ही, हेय दृष्टि से देखने लगता है। हमारा दुर्भाग्य! दूसरी ओर जो श्रम को ही जीविका का साधन बना लेता है वह बुद्धि को, शिक्षा को एक दम अनावश्यक ही समझ लेता है।" कुमार कहे जा रहा था।

"बुद्धिवाद......शिक्षा......श्रमजीवियों के काम आती ही कब है, कुमार? वह उसका करें भी क्या?" शक्ति ने बड़े दुख से कहा।

"यही तो हम भूल करते हैं, शक्ति। विश्व भर का ज्ञान मानव को केवल इसीलिये प्राप्त करना चाहिये कि वह मानव है। समाज को प्रत्येक व्यक्ति के लिये चाहे वह भविष्य में श्रमजीवी हो अथवा बुद्धिजीवी शिक्षा का प्रबन्ध केवल इसलिये ही करना चाहिये कि वह मनुष्य है। जिस प्रकार शरीर के लिये भोजन आवश्यक है उसी प्रकार मानव-बुद्धि के लिये ज्ञान। सचमुच मैं आश्चर्य में पड़ जाता हूँ, मेरी समझ में आता ही नहीं कि, क्यों हर बी. ए. पास व्यक्ति के लिये आफिस में बैठ कर लिखने का काम ही आवश्यक हो जाता है।

बी. ए. में तुमने साहित्य पढ़ा है, साहित्य हृदय का भोजन है, साहित्य ने तुम्हारे मन के भावों के साथ मिल कर तुम्हारी कल्पनाओं से तुम्हारे भावों को कोमल बनाया, उनके साथ मिल कर एक संगीत उत्पन्न किया, उसका आनन्द तुम दफ्तर में पाँच घंटे बड़े साहब के लिये फाइलें और पत्रों के ड्राफ्ट करने के पश्चात भी उतना ही उठा सकते हो जितना पाँच घंटे कुदाली या फावड़ा चलाकर; उस में भिन्नता है ही कहाँ? या पहले केस में अधिक आनन्द आता है दफ्तर से लौट कर कोई जीवन-रहस्य पूर्ण नाटक पढ़ने में। इतिहास से मानव-जीवन का ज्ञान वैसा ही हो जायेगा दोनों व्यक्तियों को, जिन में से एक भले ही भविष्य में प्रान्तीय शासकों का सहायक बने और दूसरा अपने ग्राम की पंचायत का साधारण सदस्य। शिक्षा का महत्व स्वयं मनुष्य के अपने जीवन, उसके ज्ञान, उस से अखिल ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध जानने के लिये होता है, न कि जीविका का प्रश्न हल करने के लिये। जब भी किसी देश में शिक्षा केवल मात्र जीविका का प्रश्न हल करने का साधन मात्र ही रह जाता है तो वहाँ के मनुष्यों की स्वभावतः विचार-शक्ति सीमित और कुण्ठित हो उठती है। इसका परिणाम अवश्यंभावी सर्वनाश है। शिक्षा मनुष्य के विचारों को परिष्कृत और मनोवृत्तियों को ऊँचा बनाती है, यदि वह वास्तविक शिक्षा हो, केवल मात्र अक्षर-ज्ञान नहीं। वैसी शिक्षा चाहे वह माँ के दूध के साथ मिले अथवा देश की बड़ी बड़ी पाठशालाओं से लेकिन वह . त्येक मनुष्य के लिये आवश्यक है। अब यदि तुम जीविका में भी बुद्धि से सहायता लेना चाहो तो वह भी कुछ बुरा विचार नहीं है। किसानों को शिक्षित करो, उन्हें साधन दो स्वयं अपनी सीमा में

खोजपूर्ण, विचारपूर्ण साहित्य तैय्यार करने के। मजदूर और इंजिनियर का भेद एक का शिक्षित और दूसरे का अशिक्षित होना न हो, वरन दोनों ही समान रूप से शिक्षित किये जायें। जो अपनी बुद्धि को अधिक प्रखर, अधिक परिमार्जित करके अधिकाधिक खोजपूर्ण विवेचना कर सके वही इंजिनियर हो। इसी प्रकार यह शिक्षा का दूसरा उद्देश्य प्रत्येक विभाग की दृष्टि से हो; पर किसी भी अवस्था में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मानव की मनोवृत्तियों की उन्नति ही होना चाहिये, जीविका के साधनों से भिन्न।"

कुमार कुछ थक से गये थे। शक्ति कुछ देर चुप रही, फिर धीरे धीरे बोली—"और दूसरा कारण क्या है कुमार इनकी मनोवृत्तियाँ गिरे हुए होने का। एक तो हुआ न शिक्षा का अभाव।"

"दूसरा कारण है हमारी परतन्त्रता। गुलाम देश के वासी अपने भीतर की उन्नति की आकांक्षा को खो बैठते हैं। वह जैसे तैसे अपनी अवस्था में सन्तुष्ट ही रह जाते हैं। इस से आगे बढ़ना भी उचित है सो वह समझ ही नहीं पाते। हमारे समाज का नीचा वर्ग भी अपनी अवस्था से सन्तुष्ट है। हम उन की मनोवृत्तियों पर भले ही रो लें। और नीचा वर्ग ही क्यों, सारे गुलाम देश के वासी ही किसी प्रकार दिन गुजारते हैं। जीवित रहने का, महत्वाकांक्षा का, चिह्न उनमें शेष रहता ही नहीं। हमारी मानसिक मृत्यु नीचे वर्ग के लिये जीविका आरम्भ करते ही और शिक्षित वर्ग के लिये कालिज से निकलते ही हो जाती है, पर उसके पश्चात और मानसिक उन्नति हम करना ही नहीं चाहते।" कुमार के स्वर में दुःख था।

"पर इसका कारण यदि गुलामी न होकर भारत का तत्त्व-ज्ञान

ही हो ? भारत के दार्शनिक, इस देश के तत्त्व-ज्ञानी, क्या सदा सर्वदा हमें अपनी अवस्था में सन्तुष्ट रहना ही नहीं सिखाते रहे हैं ? यही कारण है कि युगयुगान्तर के बाद भी यूरोप के इतने दिन तक सम्पर्क में आने के पश्चात भी, हम अपने भीतर महत्वाकांक्षाओं की सृष्टि नहीं कर पाये हैं। चलो जैसे चलता है अच्छा ही है। अरे कौन संसार में सदा रहना है, इन्हीं वाक्यों ने तो हमारी महत्वाकांक्षाओं की हत्या कर डाली है।" कुछ चिढ़े से स्वर में शक्ति ने कहा। कुमार के विचार शक्ति के विचारों से यहीं पर मेल नहीं खाते थे। वह जल उठा। आज ये बातें वह पहली बार तो सुन ही नहीं रहा था। फर्स्टईयर में आकर छात्र संघ का सदस्य बनने से लेकर आज आठ वर्षों से यही वाक्य भिन्न भिन्न व्यक्तियों के मुख से सुनता रहा है, यहाँ तक कि आरम्भ में कई वर्ष तक यही सुन सुन कर उसे एक अज्ञात तीव्र इच्छा भारतीय तत्त्व-ज्ञान को पढ़ने की हुई। कैसा है वह दर्शन जो मनुष्य को अकर्मण्य बना डालता है। उसने पढ़ा और भारतीय दर्शनों को समझने का यत्न किया। अंग्रेज़ी की भारतीय तत्त्व-ज्ञान पर पुस्तकें पढ़ कर ही नहीं, वरन् स्वयं संस्कृत भाषा में शास्त्र पढ़ कर। इसी कारण उसे अनधिकारी की यह कटु समालोचना असह्य हो उठती थी।

"यही तो मैं तुम लोगों की बात समझ पाता नहीं, शक्ति। तुम्हारा दृष्टि-कोण हर विषय में रहता है जड़वाद की ओर, जब कि भारत का दृष्टिकोण था आध्यात्मिक। महत्वाकांक्षा से मेरा तात्पर्य केवल मात्र मनुष्य की रक्त चूसने वाली मशीनों की खोज करने की महत्वाकांक्षा नहीं है। मैं महत्वाकांक्षा से केवल मात्र विषैली गैस

और निर्दयता पूर्वक हत्याकारी शस्त्रास्त्र ही नहीं सोच पाता, वरन् स्वयं अपने को समझने की आकांक्षा भी तो महत्वाकांक्षा ही है। यूरोप सदा ही अपने को भुला कर विश्वभर के पदार्थ खोजने में लगा रहा। सदा ही यूरोप ने अपने वातावरण को समझने के लिये स्वयं अपने आपको जानने से अधिक यत्न किया। यदि भारत ने वह मार्ग नहीं पकड़ा, तो यह तो नहीं कहा जा सकता कि उसने कुछ किया ही नहीं। भारत वातावरण से भिन्न, अपने आसपास के पदार्थों से कहीं उच्च, स्वयं अपने आपको जानने का यत्न करता रहा। उसकी महत्वाकांक्षा, मानव-मारण यन्त्र बनाने की न होकर या भली दृष्टि से भी मानव-शरीर की रक्षा करने के यत्नों की ओर न होकर, स्वयं मानव शरीर के स्वामी चैतन्य-स्वरूप को समझने की थी। उस की महत्वाकांक्षा बहुत बड़ी थी, बहुत महान थी, शक्ति। और फिर कर्म, लौकिक कर्म में भी भारत किसी दिन पीछे नहीं रहा था। उस की सृष्टि हमारी दृष्टि से बरबस दूर करके हमारी दृष्टि में स्वयं हमको छोटा कर देने का यत्न करने वाले महाप्रभुओं की ही कृपा है। भारत के निवासी जिस दिन भी इस सत्य को समझ पायेंगे उस दिन वह किसी प्रकार भी इन्हें क्षमा नहीं कर सकेंगे। किसी स्वतन्त्र प्राणी को बन्धन में कस देना पाप है, किन्तु उस से भी अधिक भीषण पाप है किसी जाति की आत्मा पर एक कठिन, कठोर काला पर्दा डाल कर स्वयं उस की सन्तान के मुख से उसे गधा, कुरूप और मूर्ख कहलाने में। न केवल भारत वरन् विश्वभर में जो भी कोई किसी दिन इस सत्य को समझ लेगा वह दोषी को कदापि क्षमा न करेगा?" कुमार बहुत अधिक उत्तेजित होकर चुप हो गया। कुमार स्वभाव से ही भावुक था

विशेषतया इस प्रश्न पर तो वह बहुत ही शीघ्र चिढ़ उठता था ? शक्ति यह बात जानती थी।

यद्यपि पूर्णतया शक्ति को कुमार की बात पर विश्वास तो नहीं हुआ, पर वैसे भी वह इन प्रश्नों पर कुमार के विवादों को विशेष महत्व नहीं देती थी। उस का विश्वास था कि बिना दरिद्रता का अनुभव हुए कोई उन प्रश्नों का हल सोच ही नहीं सकता जो कि भूख और दरिद्रता से सम्बन्धित हैं। इस समय भी बहुत से विचार उस के मस्तिष्क में भीड़ लगा रहे थे। वह कुमार से कहना चाहती थी कि तुम्हारे देश की लम्बी-चौड़ी महत्वाकांक्षा की व्याख्या तो सुन चुकी पर उससे लाभ हुआ क्या देश को ? मंदिर के देवता की मूर्ति को कुछ देना ही पड़ता है, पूजा करके स्वयं प्रसन्न भले हो पर उससे कुछ लाभ तो होता है ही नहीं।" पर तुरन्त ही उसे वह उत्तर याद आ गया जो एक दिन कुमार ने दिया था, इसी तरह की एक उक्ति पर। उसने कहा था, "शक्ति माने का मोहे सब कुछ भावे, अनमाने का कुछ नहीं भावे। जब तुम अपना दृष्टिकोण रूस, इंगलैण्ड, जापान या अमरीका में जाकर टिका देती हो तो तुम्हारे रंगीन शीशे से तुम्हें श्वेत संसार भी रंगीन ही दीख पड़ता है। कुछ देर को चश्मा उतार लो फिर देखो श्वेत अधिक सुन्दर है अथवा कृत्रिम रंग चढ़ा हुआ रंगीन।" शक्ति कुछ और कहने ही वाली थी कि मुंडू ने आकर कहा—"बड़ी बहू भोजन करने को बुला रही हैं। भोजन तैय्यार है।"

"बड़े भइया खा चुके ?" देवेन्द्र ने पूछा। वह अकसर सुरेन्द्र के साथ भोजन करने नहीं बैठता था। "जी हाँ, वह खाना खाकर जज साहब के घर गये हैं।" "अच्छा, आते हैं" यह कह कर देवेन्द्र

खड़े हो गये। भोजन करने का समय ही उनका गौरी के पास बैठ कर दो बातें करने का होता था। शक्ति भोजन पीछे करती थी, अतः इस समय रसोई में प्रायः जाती ही नहीं थी। वहाँ जाना उसके लिये भी कोई सुखकर अनुभव नहीं था। अतः वह बरामदे में ही बैठ कर पढ़ने लगी एक नई प्रकाशित पुस्तक। देवेन्द्र नीचे चला गया। इसी प्रकार वाद-विवाद में दिन व्यतीत हो रहे थे नव दम्पत्ति के।

दर्द

कालेज में उस दिन वादविवाद प्रतियोगिता थी। सभापति का आसन प्रोफेसर देवेन्द्र कुमार ही सुशोभित करने वाले थे। मिसिज कुमार को भी निमन्त्रण था बोलने के लिये। शक्ति एक अच्छी व्याख्यानदात्री थी। उसकी वाणी में ओज था, शब्दों में घनीभूत पीड़ा। छात्रा के रूप में जब कभी वह किसी वाद-विवाद में भाग लेती थी तो सारा कालिज टूट पड़ता था। बैठने को जगह भी न मिलती थी, पर शक्ति ने बोलना स्वीकार न किया, यद्यपि वहाँ उपस्थित होना उसने स्वीकार कर लिया। ठीक समय पर मिस्टर और मिसिज कुमार पहुँच गये। हाल खचाखच भरा हुआ था। विवाद की समस्या थी, "विश्व की अशान्ति का कारण दो भिन्न भिन्न वर्गों का होना ही है धनी और निर्धन, शासक और शासित।"

वन्देमातरम के पश्चात् विवाद आरम्भ हुआ। पहला वक्ता अर्थशास्त्र लेकर एम० ए० का विद्यार्थी था। विशाल मस्तक और सुदीर्घ नासिका उसे सब प्रकार से महत्वशाली प्रमाणित करते थे। वक्ता होने के अतिरिक्त वह युवक विद्यार्थी दल का नेता भी था।

उसने अपने ऊँचे क़द पर पूरे खड़े होकर गम्भीर गूँजते हुए स्वर में कहना आरम्भ किया—"कामरेड्स, समस्या का रूप आपके सम्मुख आ चुका है। विश्व की अशान्ति एक ऐसा नग्न सत्य है जिसको कि आज दिन मानव-खून के प्लेटफार्म पर खड़े हो कर सदा ही विश्व भर को धोखा देते रहने वाले सत्तावादी भी भुला नहीं सकते। जिनके स्वच्छ वस्त्रों पर मानव-रक्त के बड़े बड़े धब्बे लग ही चुके हैं वह आग उन धब्बों के पीछे होते हुए मानव हाहाकार को छुपा सकेंगे नहीं।"""विश्व में भयंकर अशान्ति युद्ध से पूर्व ही व्यापक हो चुकी थी।* युद्ध प्रत्येक अवस्था में अवश्यम्भावी था"""""" ज्वालाएँ उगलने वाले ज्वालामुखी के मुख पर बैठ कर युद्ध को अधिक देर तक दूर रखा जा सकता ही नहीं था। विश्व भर की छाती की भयंकर पीड़ा, भयंकर धधक का कारण इस विस्तृत भूमण्डल पर केवल एक ही व्यक्ति समझ पाया था"""पूँजीपति की साँसों से उठती हुई धन की सुरभि तथा उसके मन के आस पास उड़ती हुई व्यसन, पाप और अत्याचार की भयंकर दुर्गन्ध को पार करके उसकी छाती के निकट ही रहने वाले मानव-हृदय की धड़कन सुन कर उसे मजदूर की सब कुछ सह लेने वाली करुण छाती की धड़कन से मिलान करने का साहस कर पाया था एक, केवल एक व्यक्ति और वह था कार्लमार्क्स।"""उसने समझ लिया था कि मानव-जीवन के समस्त दुख, समस्त पापों का कारण केवल मात्र एक ही है और वह है आर्थिक दुरवस्था"""उस भविष्य के स्पष्ट द्रष्टा ने यह देख लिया था कि इस बढ़ती हुई पूँजी का अन्त होगा

* प्रथम महायुद्ध जो सन् १९१४—१९१८ तक रहा।

पूंजी और श्रम का असह्य झगड़ा। अधिक देर तक पूँजी सिर पर चढ़ कर न बोल सकेगी; श्रम को भी मैदान में आना ही होगा और उस समय उस झगड़े का केवल एक ही सम्भव निबटारा होगा और वह होगा साम्यवादी जगत्" वक्ता तालियों की तेज गड़गड़ाहट के बीच में उत्तेजित खड़ा था। पसीने की बूँदें उसके ललाट पर उस समय भी चमक रही थीं, पर वह बोले जा रहा था, "संसार की अशान्ति का कारण सदा ही व्यक्ति से व्यक्ति की मानव से मानव की आर्थिक अवस्था का भिन्न होना ही है।......एक व्यक्ति जो दूसरे व्यक्ति की सुख शान्ति के मूल्य पर अपने लिये धनी नाम खरीद लेता है, संसार में आवश्यक रूप से अशान्ति के बीज बो देता है। आर्थिक संसार में यही धनी और श्रमजीवी के लक्षण हैं। कार्लमार्क्स इसी धड़कन को पढ़ सका। सामाजिक जीवन कहिये अथवा मौरल अथवा धार्मिक, नैतिक जो इच्छा हो कह लीजिये, व्यक्ति के जीवन में इन सबका प्रवेश आर्थिक नींव पर ही होता है······निर्धनता पाप सिखाती है, अधर्म सिखाती है और सिखाती है सृष्टि भर की अकल्याणकर व्याधियाँ......यदि आप समाज को स्वच्छ करना चाहते हैं तो इस व्याधि को दूर कर दें......समाज में मानव मानव से अर्थ सम्बन्धी प्रश्नों में भिन्न न हो, पैसर न हो......। मार्क्स का सन्देश विश्वभर में गूंज उठा। पूंजीवादियों ने सुना और काँप गये, किन्तु फिर भी उसका स्वप्न सत्य नहीं हुआ......विश्व भर में उसे समझ पाया केवल एक देश......अखिल ब्रह्माण्ड के सम्मुख आदर्श मानने योग्य देश और वह देश है रूस। रूस के मजदूर पशु से मानव बनाये गये। मानव रक्त बहाया गया, मन्दिर तोड़े गये देश भर में भयंकर अकल्याण

की काली आँधी बहादी गई, जार की समस्त शक्ति उसे रोकने का कठिन प्रयत्न करती रही, पर आँधी बड़ी ही प्रचंड थी। बंवडर उठा करते हैं रुका नहीं करते। उस बवंडर ने जार के निरंकुश शासन को थर्रा दिया। तख्ता उलट गया। कल्याणरूपी मातृभूमि को उसके प्रेमी, उसके सच्चे सपूतों ने ही अकल्याण की साक्षात प्रतिमा बना डाली. किन्तु केवल इसीलिये कि वह मनुष्य बन कर ही जीना चाहते थे। मानव के रूप में ही वह जीवित रहने का अधिकार चाहते थे, ऐसा निर्विकार निरन्तर अधिकार जिसे संसार की कोई शक्ति भी रोक न सके। उस देश ने मजबूर, दुखी, दीन, कुचले हुए श्रमजीवी को मनुष्य बना दिया।......उनका दुख मिट गया अशान्ति के गरजते हुए मेघ बिदा हो गये।......" मञ्च के एक किनारे पर आरामकुर्सी में बैठी हुई शक्ति विचारधारा में डूब गई। सचमुच ही रूस के मनुष्य, रूस के श्रमजीवी क्या अशान्ति से परे पहुँच गये हैं। रात को सोते समय रूस में क्या कोई भी दुखित हृदय रो नहीं उठता। आर्थिक समस्या क्या मानव-जीवन की सर्वोपरि समस्या है? विचार शक्ति के मस्तिष्क में बड़े ज़ोर से दौड़ रहे थे। वक्ता बोलता हुआ कहीं से कहीं पहुँच गया था, पर शक्ति सोच रही थी दरिद्रता, आर्थिक दुरवस्था ही विश्वभर के पापों की जड़ है, उसी में लग कर सारे वाद फलते फूलते हैं। आश्रय पाते हैं। शक्ति की पवित्र, गंगा सी पवित्र, किन्तु कुलटा माँ की मूर्त्ति उसकी आँखों के सम्मुख घूम गई। सच ही दरिद्रता ही तो पाप की जननी है। मेरी माँ ने किस दिन पाप को प्रश्रय दिया था, पर तो भी वह पापिनी है। शक्ति किसी दिन भी भावुक न थी, पर

उसके दृष्टि-पथ से वक्ता उड़ गया, सभापति अन्तर्ध्यान हो गया, सभा में बैठे हुए सभी व्यक्ति एक दम अगोचर हो गये। दीखने लगा उसे केवल मात्र अपनी दुखिनी माँ का सूखा मुरझाया हुआ चेहरा और उसकी शंकित, कठोर दृष्टि। शक्ति का जी चाहा कि वह चिल्ला कर कह दे, "चुप रहो, तुम्हें अनुभव ज्ञान ही क्या है, पर मैं सत्य के बल पर, अनुभव के नाम पर ही कह सकती हूँ कि दरिद्रता विश्व के घनघोर पापों की जननी है। मानव के स्वच्छ पवित्र अन्तःकरण में वह बरबस पाप के कीटाणु का प्रवेश करा देती है।" वाणी मूक ही थी, पर शक्ति का रोम रोम चिल्ला चिल्ला कर यही कह रहा था। वक्ता इसी बीच घड़ी दूर तक जा चुका था। वह कह रहा था—"जातियाँ बनती भी हैं और बिगड़ती भी। राष्ट्र निर्मित होते हैं और नष्ट भी, किन्तु एक अमर सत्य, एक अमर शान्ति-सन्देश, जो रूस ने ब्रह्माण्ड के सम्मुख रख दिया है, अमर है, चिरजीवी है। वही शान्ति का सच्चा सन्देश है, वही विश्व की अशान्ति को नष्ट कर सकेगा......। मानव गन की अशान्ति का कारण है आर्थिक प्रभेद। जितनी ही शीघ्रता से वह प्रभेद मिटाया जायेगा उतनी ही जल्दी विश्व में शान्ति स्थापित हो जायेगी......। कितना सुन्दर होगा वह जगत, जिसमें मालिक नहीं होंगे, मजदूर भी नहीं होंगे, होंगे केवल मात्र साथी, केवल मात्र बन्धु, केवल मात्र सहकारी। वही जगत शान्ति-प्रधान जगत होगा, जहाँ मानव के दुखड़े आकाश में घूमेंगे नहीं, जहाँ मानव की चीख पुकार प्रकृति की शान्ति भंग नहीं करेगी। जहाँ......" सभापति की घंटी बज उठी। वक्ता के दस मिनिट समाप्त हो चुके थे। गम्भीर गर्जना के साथ वाक्य समाप्त करके वक्ता ताली की विशद गड़गड़ाहट के

बीच अपने आसन पर बैठ गया। शक्ति भी जाग्रत हो चुकी थी। उसने एक बार अपनी गर्दन घुमा कर वक्ता को देखा भर। वक्ता अपने किसी साथी द्वारा की जाने वाली अपने भाषण की प्रशंसा जरा मा सहपाठी की ओर झुक कर सुन रहा था, किन्तु शक्ति की प्रशंसात्मक दृष्टि उसकी दृष्टि से चूकी नहीं।

दूसरा वक्ता एक महिला थी। स्वदेश पाण्डे मंच पर खड़ी थी। स्वदेश बहुत सुन्दर न थी, सफ़ेद खादी की साड़ी उसके गेहुँए रंग के मुख पर बहुत खिलती तो न थी, पर साधारणतया बुरी भी नहीं लगती थी। कुछ मोटी होने के कारण कभी कभी छात्रवृन्द में उपहास का पात्र भी बना ली जाती थी, पर यह तो उसके शत्रु भी, यदि कोई होते तो, मुक्त कण्ठ से कह देते कि वह अत्यन्त शान्त स्वभाव की थी। पिछले चुनाव पर जब कुछ छात्रों ने उसका नाम भी कालिज यूनियन के मन्त्री पद के लिये सुरेन्द्र मोहन और मधुरा पंडित के विपक्ष में रख दिया था और जब मधुरा पंडित की सखियों ने स्वदेश पाण्डे के बिना सिर पैर के दोषों का सविस्तार वर्णन करना आरम्भ कर दिया था तो स्वदेश की प्रिय सखि रंगा बेन बड़े आवेश से मधुरा पर टूट पड़ी थी, तब भी स्वदेश हँसकर केवल यही बोली थी—"चुप कर रंगा, मधुरा बहिन ठीक ही तो है, यह सब दोष क्या मुझ में हैं नहीं, सचमुच ही मैं मन्त्री पद के योग्य भी नहीं।" और सचमुच ही दूसरे दिन उसने प्रिन्सीपल के पास जाकर उनके बहुत कुछ कहने पर भी अपना नाम हटा लिया, यद्यपि उसके चुने जाने की पूरी पूरी आशा थी। कुछ लोग तो उसे खब्ती कहते ही थे, यहाँ तक कि कुछ उसकी सखियाँ

भी उसे केवल इसीलिये प्यार करती थीं कि वह उनकी समझ में पागल सी ही थी। स्वदेश कभी किसी कालिज की सभा में आजतक बोली न थी, यूँ भी कम ही बोलती थी। आज उसी लड़की को मंच पर देख कर विद्यार्थी असाधारण रूप से चंचल हो उठे। किसी को विश्वास भी न था कि स्वदेश कुछ बोल भी पायेगी, अतः अधिकतर उपेक्षा और शोर के बीच स्वदेश का वर्षा ऋतु के सजल मेघ का सा स्वर गूँज उठा—"बहिनो, और भाइयो, तुम्हें साथी, कामरेड न कह कर मैं आज बहिन और भाई क्यों कह रही हूँ सो व्याख्या इस समय न कर सकूँगी, किन्तु यह सम्बोधन मुझे अधिक निकट और अधिक प्रिय जान पड़ा है, अतः अंग्रेजी भाषा में इसका प्रचार न होते हुए भी मैं तुम्हें इसी सम्बोधन से पुकारूँगी भले ही किसी को वह कर्ण कटु जान पड़े......" पहली पंक्ति में बैठे हुए कुछ तीसरे वर्ष के विद्यार्थियों ने व्यंग हास्य से हँसना चाहा पर स्वदेश पांडे की भारी गर्जना में वह कुछ दब सा गया। वह पूर्ववत शान्त भाव से कह रही थी, "मेरे भाई, मुझ से पूर्व वक्ता ने अपना सदा के समान ही तेजस्वी, सुन्दर, सरस और लच्छेदार भाषा में जो कुछ कहा वह बहुत ही सुन्दर था, मर्मस्पर्शी था, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि जो चमके वह सदा सोना ही हो। सारी ही सुन्दर वस्तुएँ, सब ही भाव जो आकर्षक हों सत्य नहीं हुआ करते। उनके शब्दों में हृदय को छू लेने भर की शक्ति अवश्य थी, किन्तु इसी से वह सत्य हो उठेंगे यह तो सृष्टि का कोई नियम है नहीं। जो कुछ भी हो इस विषय को लेने से पूर्व मुझे दो बातें और कहनी हैं......एक तो यह कि मेरे वक्ता भाई शायद प्रस्ताव के आधे ही

भाग को पढ़ कर अपनी भाव-धारा में इतनी प्रबलता से बह गये थे कि शेष आधे को वह पढ़ पाये ही नहीं। धनी और निर्धन का भेद तो उन्होंने अशान्ति का कारण समझ लिया शायद अपने विषय के अत्यधिक प्रेम के कारण, किन्तु उसी का राजनैतिक पहलू "शासक और शासित" के भेद पर प्रकाश डालना उन्हें याद ही नहीं रहा। अस्तु, मुझे प्रस्ताव के विपक्ष में कहना है। मैंने पूर्ववक्ता के भाषण का प्रत्येक शब्द बड़े ध्यान से सुना। विश्व के गण्यमान्य व्यक्तियों में से एक'''कार्ल मार्क्स–की स्तुति भी सुनी और रूस को आदर्श मान लेने की नेक सलाह भी, किन्तु जान पड़ता था कि महोदय इस विवाद में भाग न लेकर किसी कम्यूनिस्ट मंच से साम्यवाद का प्रचार कर रहे हैं।

"मेरे भाई शायद भूल से समझ बैठे हैं कि शान्ति का सम्बन्ध केवल मात्र मनुष्य के शरीर और मन से ही है, मन को भी यदि मैं किसी हद तक शामिल कर लूँ, पर आत्मा या मन से ऊपर जो मानव का व्यक्तित्व है अस्तित्व है उससे शान्ति का कोई सम्बन्ध है ही नहीं। शायद रूस को हर प्रकार से आदर्श मान कर वक्ता महोदय आत्मा के विवादपूर्ण दार्शनिक ढंग से समझे हुए अस्तित्व को मानते ही न हों, अतः मैं प्रश्न को दूसरे ही ढंग से रखूँगी।.....धन के स्वामी क्या सदा शान्ति के भी अधिकारी होते हैं?.....धन, आर्थिक निश्चिन्तता, यह मैं मानती हूँ, कि किसी हद तक मन को व्यर्थ की दुश्चिन्ताओं से परे कर देता है, किन्तु क्या इस ही से मन के समस्त दुखों का अन्त हो जाता है। कार्ल मार्क्स ने जो भविष्यवाणी की थी, क्या वह आज भी सफल हो सकी है। रूस की क्रान्ति, मेरे

आई, केवल मात्र आर्थिक समस्याओं को लेकर ही नहीं हुई थी, यद्यपि आर्थिक प्रश्न उसमें एक प्रधान प्रश्न था, किन्तु वही सब कुछ न था, वही मानव-जीवन का—मानव-मन की अशान्ति का—सम्पूर्ण इतिहास न था।''''''विश्व के मानव ने घोर नरक भोगा है, घोर अशान्ति भोगी है, किन्तु उसके कारण केवल मात्र रूस ही समझ सका हो सो बात नहीं है। रूस महान देश है। मैं मानती हूँ। उसने समझना चाहा इस अशान्ति का कारण''उसने खोजा और उसने टटोला गोता मार कर। अन्धकार भरे समुद्र में कुछ पाया। उसे हाथ की मुट्ठी में सावधानता से दबाये हुए जब वह बाहर निकला तो उसने दिन के प्रकाश में देखा, वह था मानव की मानव से असहनीय आर्थिक भिन्नता। उसने मान लिया कि समुद्र की उथल-पुथल का कारण यही है, इसे मिटाते ही समुद्र शान्त हो जायेगा। उसने परिश्रम किया और फल पाया। उसने विश्व में क्रान्ति का एक उदाहरण उपस्थित कर दिया, किन्तु क्या इतने से ही हम कह उठें कि समुद्र शान्त हो गया अथवा उसमें इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। ऐसा कहने पर निर्धनता को, आर्थिक कष्टों को, स्वयं गले लगाने वाले भारतीय विद्वानों के कर्म की व्याख्या विश्व भर में कहाँ मिलेगी''''''।" विद्यार्थी चुपचाप सुन रहे थे। भाव नये थे पर असत्य नहीं जान पड़ते थे, उनमें शक्ति थी, तेज था। स्वदेश कहे जा रही थी, "शरीर पर केवल मात्र एक लँगोटी धारण करके वर्तमान भारत-भाग्य-विधाता ने भी उस समुद्र में गोता लगाया। समुद्र की सतह रूस की क्रान्ति के बहाये हुए पवित्र रक्त से आज भी लाल थी। महात्मा गाँधी कूद पड़ा उस रक्त भरे समुद्र में। उसने भी ढूँढा कारण मानव मानव के कलह का।

उसे कुछ मिला, उसने भी देखा, परखा, और जाँचा। वह रत्न था, अहिंसा, सहन-शक्ति। वह चिल्ला उठा मैंने पा लिया। दूसरे का रक्त बहाने से कहीं अधिक सत्य है, कहीं अधिक गौरवपूर्ण है, अपना रक्त देकर दूसरे के रक्त की रक्षा करना। सह लेना केवल कायरता या लाचारी का ही चिह्न नहीं, वरन मन की, मनुष्य के मन की, अद्भुत शक्ति का परिचायक है। विश्व भर की वेदना केवल मात्र अपनी छाती पर हँसते हुए सह कर ही मानव शान्ति का रूप देख पाता है। किसी भी वाद की चर्चा करने अथवा किसी भी पक्ष की वकालत करने मैं यहाँ खड़ी नहीं हुई हूँ, किन्तु न्याय के लिये हिंसा करने के पश्चात् सत्य के नाम पर सह लेने का जो महान सिद्धान्त है, उसे भी कहे बिना मैं रह नहीं सकती। एक बार मेरे एक मित्र ने कहा था कि जब गाय सिंह की भाँति आक्रमण करके मनुष्य को, उसके प्राणों को, एक दम नष्ट कर सकने की शक्ति अपने भीतर नहीं पाती है तब ही सरलता से, भोलेपन से कसाई की छुरी के आगे सिर झुका देती है, क्या यही सिद्धान्त बुद्धिमान महात्मा गाँधी का भी नहीं है। शत्रु की दुर्जेय शक्ति के सम्मुख जब हम खड़े हो सकते ही नहीं, तो क्यों न शान्तिमय असहयोग ही कर दें, क्यों न उस अत्याचार के सम्मुख आँख मूँद कर झुक ही जायें। मेरे मित्र सम्भवतः उस दिन भूल गये थे कि दमन, संयम और अहिंसा कायरों के लिये नहीं हुआ करती, कायर भाग सकता है, पर कष्ट नहीं सह सकता हँसते हुए। असंयमी रो सकता है, पर लाठी की कठोर मार के नीचे पड़ कर हँस नहीं सकता। यही हँसना तो उसे वीर बनाता है। शक्ति होते हुए भी उसे संयमित रूप में रखना ही तो गाँधीवाद है। हिंसा करने की सामर्थ्य होते हुए

भी प्रेम को प्रयोग में लाकर अहिंसा को गले लगाना ही तो गाँधीवाद है। यही दूसरा रत्न था जो समुद्र मथ कर पाया गया था। मानव की अशान्ति को मिटा सकने योग्य इसे भी समझा गया था। मानव स्वयं अपनी शक्ति अपने बल को संयमित करके प्रेम के नाम पर उसे मानव मात्र को लुटा सके, बिना किसी कठोर भाव के, विचार के, बिना किसी ईर्षा या द्वेष के। उसका सहज स्नेह, सहज सरल शुभ आकांक्षाएँ, अत्याचारी के लिये भी उतनी ही सजीव और पूर्ण हों जितनी कि अपने किसी प्रेमी के लिये, किसी अपने कहे जाने वाले व्यक्ति के लिये। किन्तु यह भी तो विश्व की समस्त अशान्ति मिटा पायेगी नहीं। संयम करके भी मुझे वास्तविक रूप में विश्व भर से अशान्ति हटा देने के लिये केवल मात्र दूसरे का अत्याचार सहना ही नहीं होगा, वरन आगे बढ़ कर उसे भी अपने में ही लय कर लेना होगा।

"इसका महत्व समझा था हमारी भारत भूमि पर जन्म लेने वाले महर्षियों ने। कोई भी व्यक्ति कभी भी दूसरे का अत्याचार प्रसन्न मुख से नहीं सह सकेगा, जब तक कि अत्याचारी उसका अपना ही व्यक्ति न हो। माँ अपने पुत्र का अत्याचार सहती है, पर कहीं भी शिकायत नहीं करती, आँसू भी नहीं गिराती, लड़ती भी नहीं, विरोध भी नहीं करती, केवल इसी लिये कि वह उसका अपना ही पुत्र है, उसके अपने ही अस्तित्व का अंश है। उसके अपने ही व्यक्तित्व का भाग है वह, वह उससे भिन्न है ही कहाँ ? इसी लिये······यही कारण है कि······ सत्य का उज्ज्वल रूप, सत्य का वास्तविक रूप, वहाँ खड़े होकर दीखता है, जहाँ खड़े होकर मानव अपने शरीर में सीमित आत्मा को महान

विश्वात्मा के रूप में देख पाता है। जहाँ जीव-चर-अचर कहीं किसी में कुछ भी भेद रह जाता ही नहीं, सब ही मेरी अपनी आत्मा, मेरे अपने व्यक्तित्व के अंश बन उठते हैं।......विश्वभर में सत्य का रूप केवल एक ही हो सकता है......प्रधान अन्तिम सत्य केवल एक ही होता है और वह है स्वयं मेरी ही आत्मा......जहाँ खड़े होकर मनुष्य मैं और तू का भेद भूल जाता है, जहाँ खड़े होकर महात्मा गांधी की प्रिय उपासक वस्तु गीता के कृष्ण कह पाये थे कि "यो माम पश्यति सर्वत्र सर्वम् च मयि पश्यति" वहीं खड़े होकर विश्व-शान्ति का सन्देश सुनाया और सुना जा सकता है। यहीं पहुँच कर मानव-अन्तर की समस्त ज्वाला स्वयमेव शीतल गंगा-धारा के समान सत्य का एक मात्र स्वरूप था, जो समझा था भारतीय वेदान्त ने......। पूंजी पति मजदूर की छाती पर मूंग दल कर खाता है क्यों ? केवल इसीलिये कि वह स्वयं अपने और मजदूर में भेद देखता है। मजदूर उससे भिन्न है, तब ही तो वह मजदूर पर अत्याचार कर पाता है। अपने पुत्र पर अपने भाई पर उतना कठोर नहीं हो पाता, इसी लिये कि उनका सम्बन्ध स्वयं उससे है।......आर्थिक अवस्था एक करके भले ही तुम क्षणिक शान्ति का साम्राज्य कर दो......मानव वेदना भले ही कुछेक क्षण को, कुछेक दिनों-वर्षों को, युगों के लिये आर्थिक समस्या हल करके आर्थिक साम्यवाद करके दबाई जा सके, किन्तु केवल मात्र उस ही से मानव-दिल का दर्द मिटेगा नहीं, ठहर अवश्य जायेगा। चाहें तो आप पहलू भी बदल लेंगे, किन्तु इससे अधिक नहीं......दर्द उठेगा और फिर उठेगा......उसका वास्तविक इलाज तो है मनुष्य की मनुष्य से भिन्नता के कारण "मैं" ही को समूल

मिटा देना। "मैं" या तो प्रत्येक शरीर में इतना विशाल हो उठे कि वह तू को ही अपने में ही लय कर ले अथवा स्वयं ही सर्वाङ्ग रूप से तू में खो जावे। तू और मैं दोनों के महान सम्मेलन से जो बन उठता है वही ब्रह्म है, वही अमर सत्य है, वही सच्चिदानन्द है। यही औषधि ढूँढ़ी थी जगद् गुरु शंकराचार्य्य ने, विश्व-अशान्ति के सर्व श्रेष्ठ वैद्य ने।......मैं मानती हूँ कि विश्व-अशान्ति का कारण मनुष्यों का दो वर्गों में बँटा हुआ होना ही है, किन्तु वे दो वर्ग धनी और निर्धन नहीं और शासक और शासित भी नहीं, वरन हैं "मैं" और "तू"। इन्हीं दो वर्गों को मिटा डालो, फिर तो मनुष्य ही क्या पशु-पक्षी जीव-चर कहीं किसी में भी भेद नहीं रह जायेगा। लौकिक दृष्टि-पथ भले ही कुछ भी हो, किन्तु इसी आध्यात्मिक दृष्टिकोण को सम्मुख रख कर मानव कह पाता है "अहं ब्रह्मास्मि" और फिर आनन्दमय, केवल मात्र आनन्दस्वरूप ब्रह्म में अशान्ति को स्थान कभी रह पाता नहीं। विषय अत्यन्त विशद है और मुझे समय मिला है सात, केवल काल-चक्र के सात, मिनट इन्हीं सात मिनिटों में मुझे विश्व-शान्ति का उपाय आपके सम्मुख खोज कर रखना है......

अन्त में मैं यही कहूँगी कि किसी प्रकार भी वह डाक्टर, जो ज्वर का कारण ही नष्ट करने की खोज में लगा हुआ हो, उस डाक्टर से कम महत्वशाली नहीं है, जो रोगी को एक सौ चार डिगरी ताप चढ़ा हुआ देख कर तुरन्त ही डाईफेटिक मिक्सचर देकर उसकी बेचैनी कम कर देता है। उस क्षणिक चैन देने वाली औषधि की भी संसार में आवश्यकता है। किन्तु उससे कहीं अधिक आवश्यकता है सदैव के लिये उसका कारण ही नष्ट कर देने की। यह हमें मानना ही

पड़ेगा। भारत में इसी संदैव के लिये, कारण ही नष्ट कर देने की ओर ध्यान दिया था। मेरे अभागे देशवासियो, तुम्हारे पूर्वजों ने अत्यन्त परिश्रम से जो खोज एक दिन की थी उसकी ओर से जान बूझ कर आँखें बन्द करके क्यों व्यर्थ इधर-उधर की झूठ-मूठ की चमकती वस्तुओं की ओर मृग-तृष्णा में पड़कर भटक रहे हो। यह मार्ग कठिन है, किन्तु लक्ष्य तक पहुँचना असम्भव कदापि नहीं है। और फिर माया के आवरण को फाड़ कर सत्य तक पहुँचने के लिये कुछ यत्न तो करना ही पड़ेगा........यही मानव-हृदय के दर्द की वास्तविक औषधि है। यही विश्व-शान्ति का एक मात्र उपाय है।......अन्त में इकबाल के शब्दों में यह कह कर ही समाप्त करती हूँ। कवि ने भले ही किसी भाव से कहा हो, किन्तु मानव को भी अशान्ति से अपनी रक्षा करने के लिये चेतावनी इसमें है।

वतन की फिक्र कर गाफिल, मुसीबत आने वाली है।
तेरी बरबादियों के मशवरे हैं आसमानों में॥
न समझोगे तो मिट जाओगे अये हिन्दोस्ताँ वालो।
तुम्हारी दास्ताँ तक भी न होगी दास्तानों में॥

स्वराज्य मंच से उतर रही थी। तालियों के शब्द उतने तीखे नहीं थे, जितने के पूर्व वक्ता के भाषण के बाद उठे थे, परन्तु श्रोतागण के मुख पर विचार के चिह्न अवश्य उपस्थित थे। शक्ति के मुख-मँडल पर एक उपेक्षा पूर्ण व्यंगमय मुस्कान भी थी। वह सोच रही थी "बेचारी भोली लड़की बहुत सारा पढ़ कर उन्हीं विचारों में बह गई, उसने आर्थिक कठिनाइयों का रूप देखा ही कहाँ होगा। वह आत्म-ज्ञान को अर्थ से अधिक महत्व दे उठी है भेड़-चाल से। किन्हीं बूढ़े

ढेरे व्यक्तियों के लेखों से। यदि आर्थिक भेद के दर्शन कर पाती, उसकी भयानक परिणामावली को अनुभव में ला पाती, तो ब्रह्मज्ञान को इतनी सरलता से शान्ति का उपाय न बता सकती।

तीसरी वक्ता भी एक महिला ही थी, इनका नाम सुनाया गया था शैवलिनी खेड़ा। इनका व्यक्तित्व बड़ा ही आकर्षक था। अद्वितीय सुन्दरी शैवलिनी खेड़ा चुस्त पंजाबी पोशाक में बड़ी ही सुन्दर दीख रही थी। चुन्नी भी कुछ विशेष ढंग से ही ओढ़ी हुई थी। सुन्दर लम्बे बाल दो लम्बी चोटियों में गूँथे हुए थी। सिर के ऊपर कुछ ऊँचे लेजाकर पिनों की सहायता से आकर्षक ढंग से सिर का शृंगार किया हुआ था। वस्त्र सारे शुद्ध खादी के सुन्दर और महीन थे। इन्हें प्रस्ताव के पक्ष में बोलना था। मिस खेड़ा का स्वागत तालियों से किया गया। अपना शुद्ध खादी का थैला मेज के एक ओर रख कर बी. ए. की छात्रा मिस खेड़ा ने बोलना आरम्भ किया—"कामरेड्स, विपक्ष में आप ने बहुत कुछ सुना। मेरी समझ में प्रस्ताव शान्ति के उपाय की खोज के सम्बन्ध में नहीं है, वरन उसका रूप केवल अशान्ति के कारण की व्याख्या तक ही है। पूर्व वक्ता अपनी सीमा से बहुत आगे बढ़कर एक अच्छा-खासा व्याख्यान सा दे गई······मैं रूस के धनी-निर्धन-समस्या के हल को ही नहीं, वहाँ की नारी-समाज की स्वतन्त्रता को भी एक आदर पूर्ण दृष्टि से देखती हूँ।······सरस्वती और लक्ष्मी दोनों विश्व की प्रधान शक्तियों में से हैं, इनमें से किसी एक को भी सीमा में बाँध लेना मनुष्य मात्र पर अन्याय करना ही तो है। पूँजी पति लक्ष्मी को एक सीमा में घेर कर रखना चाहते हैं, उस सीमा में जिसे वह अपना कहते हैं। चाहे धोखे से आई हो अथवा

बाप-दादा के परिश्रम से, उन्हें इस से कुछ मतलब नहीं, वह तो उसका उपयोग, किसी भी न्याय अथवा अन्याय पूर्ण उपाय से, अपने लिए करना, या बैंक में अपने नाम से संचित करना ही अपना न्याय-पूर्ण जन्म-सिद्ध अधिकार समझते हैं। इसी एक अधिकार के बल पर वह संसार के समस्त गुणों को, शुभ कर्मों को कुचल डालना क्षम्य समझते हैं। हाय रे, दुर्भाग्य यदि कभी कोई बेचारा व्यक्ति भूल कर यह कह उठता है कि हे महा प्रभु तुम्हारे शासन के बूट की उभरी हुई कीलें हमारी कमजोर छाती नहीं सह सकेंगी, तो वह उस व्यक्ति को कमीने, नीच और उद्दण्ड की उपाधि से विभूषित करना भी अपना स्वतः सिद्ध अधिकार ही मान बैठते हैं। एक ओर धन-बल पर विश्व भर के समस्त अधिकारों का झुँड खड़ा कर दिया गया हो और दूसरी ओर केवल मात्र अर्थ के अभाव से समस्त अत्याचारों में मूकभाव से पिस जाने का ही अधिकार दिया हुआ हो, तो भले ही वैसी समाज-व्यवस्था चलती रहे, किन्तु वहाँ शान्ति तो रंच-मात्र भी नहीं रह सकती।

"शान्ति का जन्म होता है स्वतन्त्रता से और अशान्ति का बन्धन से। जितने भी अधिक सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक या राजनैतिक बन्धन किसी भी देश या मानव की छाती पर लाद दिये जायेंगे, उतनी ही अधिक अशान्ति का उस व्यक्ति के जीवन में प्रवेश हो जायेगा? व्यक्ति की हर प्रकार की स्वतन्त्रता, राष्ट्र की हर प्रकार की आजादी ही शान्ति की जननी है और यही हमारा मिशन है।" कामरेड स्वराज्य चाहें तो उपदेश भले ही दे लें, किन्तु विश्व भर का कोई भी व्यक्ति, यदि वह पागल नहीं है, यदि उसकी बुद्धि ठीक ठीक

कार्य्य करती है, तो वह मनोविज्ञान की दृष्टि से यह कह ही नहीं सकता कि वह कभी भी बहु संख्या, अनेक को छोड़ कर केवल एक का ही स्वप्न, सत्य समझ कर देख सकेगा। जेम्स वार्ड जैसा मनो-वैज्ञानिक भी अन्त में अनेकवादी ही रहा। दार्शनिक के रूप में वह एक का महत्व मान सका ही नहीं, उसे प्लूरलिस्ट ही बनना पड़ा। अतः एक के किसी स्वप्न को लेकर कभी भी हम विश्व-शान्ति का रूप देख सकेंगे यह सोचना केवल मात्र दुराशा ही है। ऐसा असम्भव स्वप्न देख कर जी बहलाने का समय भारतीय दार्शनिकों के पास हो तो भले ही हो, रूस के सत्य के खोजियों के पास तो है ही नहीं। उन्हें स्पष्ट दिन की रोशिनी से जो दीख पड़ता है वह उसी को मानते हैं। परदे के पीछे क्या छिपा हुआ है उस पर कल्पनिक सिद्धान्त निर्मित करते फिरने का न उन्हें चाव है और न उनके पास समय भी है।.........."

चौथे वक्ता थे एक संस्कृत एम. ए. के छात्र। मोटी खादी की धोती पर एक अधमैला सफेद खादी का ही कुर्ता पहने हुए थे, सिर पर की मोटी चोटी उनके हिन्दु होने का विस्तृत प्रमाण देती थी। पैरों की चप्पल प्रायः घिसी होने से अपनी दीन दशा की स्वतः प्रमाण थी। वक्ता के स्वयं दरिद्र होने के चिन्ह स्पष्ट थे। वक्ता का स्वर विशेष ओज पूर्ण न होने पर भी कुछ कठोर सा था। उन्होंने आरम्भ किया—"भद्र पुरुषो और देवियो, धन की प्रशंसा भी सुनी और केवल मात्र सामाजिक व्यवस्था के निर्माण में उसका हाथ है यह भी जाना। जान पड़ता है मेरे मार्क्सवादी मित्र भारत की भूमि पर भी हमें यह मानने को विवश कर देंगे कि आर्थिक व्यवस्था

ही आदर्शों की भी जननी है।''''''आर्थिक व्यवस्था आदर्शों को नहीं बनाती, वरन् आदर्श स्वयं आर्थिक प्रश्नों को रूप दिया करते हैं। अर्थ का प्रश्न शंकराचार्य के लिये भिन्न रूप वाला था, वह अपने जीवन में भोजन-पान पर उतने ही आश्रित नहीं थे जितना कि आज हम में से कोई भी अन्य व्यक्ति है, यह प्रश्न उनके लिये उतना महत्व पूर्ण न था। दो दिन तक किसी सद् गृहस्थ के घर में भोजन न पाने पर भी वह अपना आदर्श बदल नहीं पाते थे, वरन् धन का स्थान ही उनके जीवन में आदर्श के ढंग पर ही निर्मित होता था। यह तो हुआ उन आध्यात्मिक व्यक्तियों के जीवन का उदाहरण, जिन में से मैं अनेक उदाहरण उपस्थित कर सकता हूँ''''''। राजनैतिक क्षेत्र में ही ले लीजिये। महाराणा प्रताप भूख से व्याकुल होकर भी देश की ही स्वतन्त्रता की बात सोच रहे हैं। पिता, नन्हीं लड़की—अपनी सन्तान—के हाथ से बड़ी भूख लगी होने पर भी, घास की कई दिन बाद हाथ में आई रोटी भी बिल्ली को छीन कर ले जाते हुए देखने पर, विचलित हो जाते हैं। तत्पर हो जाते हैं महाराणा अपने आदर्श के मूल्य पर अर्थ पाने को— उनकी आर्थिक अवस्था मेरे इन कामरेडस के सिद्धान्त के अनुसार उनके आदर्श बदलने लगती है। भूख, भूख की ज्वाला, अपनी सन्तति के उदर की जठराग्नि महाराणा के आदर्श को हिला देती है'''पर क्या होता है? महाराणा सम्हल जाते हैं, आदर्श टिक जाता है। आदर्श ही आर्थिक अवस्था को निर्मित करता है और पहली नहीं, वरन् इसी दूसरी अवस्था के कारण आज भारत का बच्चा बच्चा उन्हें श्रद्धा से सिर झुकाता है। स्वयं ही लोग महाराणा प्रताप

को बड़ी ही ऊँची दृष्टि से देखते हैं। क्यों ? इस लिये नहीं कि उनकी आर्थिक अवस्था उनके आदर्श को बदल सकी, वरन् क्योंकि उनके आदर्श प्रत्येक आँधी में टिके रहे। दरिद्रता उन्हें हिला न सकी। अब आप स्वयं ही कह दें कौन सा है महान् सिद्धान्त······क्यों न हम सारे मनुष्य मात्र को ही उस दृढ़ता के स्थान तक पहुँचायें। व्यर्थ में ही क्यों विश्व की अशान्ति का ठेका केवल मात्र धन के अन्याय पूर्ण बँटवारे को ही दे दें।······" बड़ी देर तक और भी विवाद होते रहे, किन्तु शक्ति का जी नहीं लग रहा था। अभी पाँच छः वक्तव्य और शेष थे। शक्ति बराबर बैठी ही रही, किन्तु उसके मन में भयंकर प्रश्न उठ रहा था, "तब क्या मेरी माँ का यह पाप ही था। आर्थिक कठिनाइयों के बीच भी क्या वह सिर उठा कर अपने आदर्श पर टिकी रह सकती थी। ओह, तब क्या आर्थिक कठिनाइयों में इतनी शक्ति नहीं है कि वह प्रत्येक मानव पर विजय प्राप्त कर सके। मेरी माँ तब तो, सचमुच ही मेरी माँ······" शक्ति का गर्व चूर्ण हो रहा था। एक दिन उसने बड़े अभिमान से कुमार को अपनी माँ की करूणाजनक पतन की कहानी व्याख्या सहित सुनाई थी। उस दिन तक भी शक्ति अपनी माँ का अपराध उसका निजी पाप न समझ कर समाज का भीषण अत्याचार ही गिना करती थी। उसे उसमें लज्जा भी नहीं आती थी और तुच्छता की गन्ध भी नहीं, केवल मात्र उसके हृदय में इस स्मृति से और माँ के अन्तिम वाक्यों से एक पीड़ा सी उठने लगती थी। उसे कभी कभी जान पड़ता था कि कहीं न कहीं कुछ शेष अवश्य रह गया है। कोई त्रुटि अवश्य है। किन्तु उसका क्या रूप है वह समझ नहीं पाती थी। आज दिन तक भी वह इसी

सिद्धान्त में पूर्ण रूप से विश्वास करती आ रही थी कि आर्थिक कठिनाइयों के कारण जो अपराध जो सामाजिक, नैतिक तथा वैयक्तिक पाप उसकी माँ कर चुकी है वह सर्वथा क्षम्य है। उसके लिये भले ही वह अपनी माँ को दया की दृष्टि से देख ले पर किसी दिन भी घृणा की दृष्टि से नहीं देख सकेगी। आज उसके मन में सचमुच ही उथल पुथल मच रही थी। सत्य ही क्या आदर्श आर्थिक कठिनाइयों पर भी विजय प्राप्त कर सकते हैं, मनुष्य सचमुच क्या इतना प्रबल है। स्वराज्य पाँडे के वक्तव्य का शेष सब कुछ भूल कर संस्कृत के विद्यार्थी वक्ता का यही सिद्धान्त उसके हृदय को कचोट रहा था। ज्यों त्यों विचारों में ही वाद्-विवाद समाप्त हुआ। पारितोषक आदि की घोषणा हो चुकने पर कुमार और मिसिजकुमार हाल से बाहर आये। शक्ति कुमार से इसी विषय पर बात चीत करने को आतुर हो रही थी। रात हो गई थी, चाँदनी भी खिली हुई थी, पति-पत्नी चाँदनी में पैदल ही घर की ओर चले। घर कुछ दूर भी न था। कुछ ही दूर चल कर शक्ति ने पूछा सीधा सा प्रश्न—"क्या सचमुच ही मनुष्य इतना शक्तिशाली है कि वह आर्थिक कठिनाइयों के बीच में भी अपने सिद्धान्त पर अटल रह सके अथवा यह केवल कपोल-कल्पित कथाएँ मात्र ही हैं?" कुमार गम्भीरता पूर्वक कुछ सोच रहे थे। तुरन्त ही बोल उठे—"मनुष्य इससे भी कहीं अधिक शक्तिशाली है और यूरुप के विद्वान आज तक केवल उसके शारीरिक, बौद्धिक और थोड़ा बहुत नैतिक बल की सत्ता जान पाये हैं, किन्तु उससे बढ़ कर सब से बढ़ कर जो आध्यात्मिक, आत्मा का बल है, उसे वह समझ सके ही नहीं। उसे एक दिन पहचाना था भारत ने, हमारे देश में ही

हमारे पूर्वजों ने ।"

"हूँ" कह कर शक्ति फिर सोचने लगी । कुमार भी सोच रहे थे । दस पन्द्रह कदम तक कोई भी कुछ न बोला । फिर शक्ति बड़े ही बेचैन से स्वर में बोल उठी, अचानक बिना विशेष विचार किये हुए ही,—"तब क्या उसने पाप किया था सचमुच ही अक्षम्य पाप ?" शक्ति बोल रही थी जैसे स्वयं अपने आप से ही कह रही हो। कुमार की विचार-धारा शक्ति के स्वर का दर्द सुन कर टूट गई । दर्द कहाँ था सो तो शायद मनोविज्ञान का छात्र तुरन्त ही समझ गया, पर फिर भी कुछ उपाय शक्ति को शान्त करने का सोच पाया नहीं। जिन व्यक्तियों में बुद्धि कम होती है उन्हें समझाना कठिन नहीं, दूसरों के कथन पर विश्वास कर लेना भी उनके लिये कठिन नहीं होता, किन्तु कुशाग्र बुद्धि के व्यक्तियों को समझाना कुछ वैसा सरल नहीं होता । उनका तर्क ही उन्हें सहज में कोई बात नहीं मानने देता । शक्ति अत्यन्त ही कुशाग्र बुद्धि थी, किसी एक विचार के मन में आने के पश्चात आकरण ही उसे हटा देने वाली अस्थिर बुद्धि उसकी न थी । कुमार ने धीरे धीरे कहा—"शक्कू, सत्य ही मानव बड़ा ही शक्तिशाली है, किन्तु उससे अधिक दुर्बल प्राणी भी विश्व भर में और कोई नहीं है । वह संसार की समस्त कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर सकता है, किन्तु समय पर स्वयं अपने मन के सम्मुख सहज ही हार मान जाता है । वास्तव में मानव-मन में श्याम और श्वेत दोनों ही अंश है न ? कब श्वेत प्रधान हो उठेगा और कब श्याम कौन जानता है । ऐसा अभिमान भी कौन कर सकता है । विश्व-विजयी, स्थिर दृढ़ मानवों को यदि तुम चाहो तो भले ही देवता कह लो, किन्तु काल-

चक्र के थपेड़ों से अपने सिद्धान्तों को नहीं बचा पाते, स्वयं ही भ्रम में सिर से पैर तक डूब मरते हैं, वह भी पशु नहीं हैं, उन्हें मनुष्य ही कह लो, मनुष्य से छोटा कह कर कभी भी उनका अपमान न करना। देवता के हृदय में दुर्बलताएँ नहीं रहतीं, किन्तु मनुष्य के हृदय में तो रहती ही हैं न ?" कुमार का स्वर डूब सा गया था। शक्ति को सन्तोष न हुआ। "सच ही मनुष्य में देवता और राक्षस दोनों ही वास करते हैं, किस समय कौन जाग्रत हो उठेगा सो भी कोई नहीं जानता, किन्तु उस देवत्व और राक्षसत्व की सीमाएँ क्या इतनी ओछी हैं, इतनी तुच्छ हैं कि उन्हें चाहे जब पेट की भूख भी लाँघ सकती है। छिः" शक्ति का स्वर काँप रहा था।

"पेट की भूख इतनी तुच्छ नहीं है, शक्ति।" कुमार ने सान्त्वना देने के से स्वर में कहा।

"उसका अनुभव मुझे पर्याप्त मात्रा में है, कुमार, किन्तु इच्छा होती है कि एक बार परीक्षा करके देखूँ कि क्या वास्तव में पेट की भूख इतनी प्रबल है कि उसके लिये ही नारी अपना सतीत्व भी खो दे।"

"व्यर्थ की कल्पना करके अपना मन दुखी न करो, शक्ति। और फिर माँ के पतन का कारण उनकी अपनी भूख उतनी नहीं थी, जितनी कि सन्तान की तड़प की दुसह्य कल्पना।"

शक्ति का मन जल रहा था। उसे स्वयं अपने पर क्रोध आ रहा था। संसार में सबसे अधिक कठिन, सब से कठोर और सब से दुखदायी लाचारी है अपने किसी प्रियजन के अपराध को, पाप को समझ पाना, किन्तु क्षमा न कर सकना। एक दिन शक्ति ने माँ के

पाप से घृणा की थी, फिर एक दिन उसने सम्पूर्ण रूप से उसे क्षमा भी कर दिया था। न केवल क्षमा ही किया था, वरन उसके साथ मन से सहानुभूति भी की थी, उसके आँसुओं के साथ आँसू भी गिराये थे। आधी रात तक रोने वाली माँ के स्वर में स्वर लगा कर चुपचाप वह अलग लेटे लेटे ही रोई भी थी, किन्तु आज पुराना घाव फिर फट गया था, खून बहने लगा था, उसका स्राव अब रोकना कठिन हो उठा था। वह आज अपनी जननि के अपराध को क्षमा कर पा ही नहीं रही थी। उसकी घृणा स्वयं उसके हृदय में ही शूल के समान चुभ रही थी। कुमार ने मार्ग में शक्ति से और भी कुछ बात करनी चाही, किन्तु शक्ति उत्साहित न हो सकी। घर पहुँच कर उससे भोजन भी नहीं किया गया। किसी से बिना बोले ही ऊपर अपने कमरे में जा पड़ी। भाभी ने व्यंग से कुमार से पूछा—"महारानी जी कहाँ रह गई ?" गौरी सदा ही कुमार से शक्ति के सम्बन्ध में व्यंग से ही बात किया करती थी और सदा ही कुमार बड़े ही प्रसन्न मन से हँस कर उत्तर दिया करता था, पर आज मस्तिष्क विचारों से भरा हुआ था। कुमार कुछ अच्छा सा उत्तर न दे सका, केवल धीरे से बोला—"ऊपर चली गई है ?"

भोजन होगा कि नहीं ?" गौरी का दूसरा तीर था।

"मालूम नहीं भाभी", कह कर कुमार डाइनिंग रूम में चला गया कहता हुआ, "खाना भेजो भाभी, बड़ी भूख लगी है।" कुमार खाना खा कर ही ऊपर गया, पर उस रात शक्ति का न खाना ही हुआ और न सोना ही।

स्टैण्डर्ड में

"साहित्य जीवन का दर्पण होता है, कुछ निर्माता नहीं। युग युग की कहानी अपनी छाती में छिपा कर वह युग युग के मानवों को भिन्न भिन्न संकेत मात्र में सन्देश तो अवश्य दे सकता है, किन्तु युग-निर्माता होने का सम्पूर्ण दावा यदि वह अपने ही हिस्से में ले बैठे तो उतना ही सत्य होगा जितना कि यह कहना कि युग ही स्वयं साहित्य का निर्माता है। यह दोनों ही सत्य समान रूप से सत्य हैं इस में कहीं भी कुछ बाधा नहीं है।" शकित ने हाथ का कप मेज पर रख दिया। उसके प्रत्येक शब्द पर उसके हाथ में काफी से भरा प्याला अपने भीतर की काफी को अनजाने ही नचा उठता था। उस दिन वह बारीक खादी की सफेद स्वच्छ साड़ी पहने हुए थी। उसके किनारों पर सुन्दर लाल रंग के धागे के साथ काले रेशमी धागे से गुँथी हुई कशीदाकारी हो रही थी। ब्लाउज एक दम काला रेशमी था। काली लड़की के काले शरीर पर वह सफेद साड़ी बहुत ही सुन्दर लग रही थी। उसकी आँखों में एक आभा सी थी। उसके शब्द में सरलता थी। उसकी मुस्कान में वेदना का स्थान मधुरता ने

ले लिया था। उसकी वाणी में ओज और विश्वास का दृढ़ स्वर था।

शक्ति के वाक्यों का उत्तर दिया एक छोटे-कद के युवक ने। युवक का शरीर असाधारण रूप से दुर्बल था। उसकी काली बड़ी बड़ी आँखों के नीचे एक गहरी सी काली छाया थी। बोलते समय उसके दोनों गालों में कुछ स्थान रिक्त सा होकर उसकी कुरूपता को कुछ बढ़ा देता था। यदि वह उतना दुर्बल न होता तो शायद सुन्दर ही दीख पड़ता। रह रह कर खाँस पड़ता था। जान पड़ता था उसे बहुत दिनों से शान्ति और स्वच्छ, स्वास्थ्यवर्धक भोजन नहीं मिला है। होठों की मरोड़ को कुछ संयत करते हुए उसने उत्तर दिया।

"भले ही साहित्य स्वाभाविक रूप से जीवन का ही दर्पण हो। भले ही वह युग के अनुसार ही मानव-मस्तिष्क से अपनी उत्पत्ति करता है, किन्तु यह मैं आपको कभी भी भूलने नहीं दूँगा कि जिसे आप साहित्य का सन्देश कहती हैं, वह सन्देश अपने काल से दो हजार वर्ष पीछे का भी हो सकता है, अगर चार हजार वर्ष आगे का भी। अब कौन सा सन्देश देना है सो सोचना, सोच सकना और क्रियात्मक रूप में लाना केवल साहित्य का ही कार्य्य है।"

पूरे वक्तव्य के बीच में युवक को कई बार खाँसने से ठहरना भी पड़ा। उसका खादी का पाजामा कुछ सुकड़ने लिये और कुरता अधमैला था।

"मिसिज़ कुमार! "आँधी जी" ने अपने जीवन का व्रत ही समाज को बदल डालना ही बना लिया है। ये करेंगे क्रान्ति, भयंकर क्रान्ति, जिस क्रान्ति में भारत का नक्शा ही बदल जायेगा। और

इनका मार्ग होगा केवल साहित्य। उसी एक अस्त्र को लेकर यह देश में, भारतवासियों के मनों में, भयंकर क्रान्ति कर डालना चाहते हैं" एक दूसरे युवक ने कहा। इस युवक के हाथ की सिगरेट का धुँआ अब भी उड़ रहा था। काफ़ी का कप भी किसी दुखिया के हृदय की भाँति गरम आहें छोड़ रहा था। वेषभूषा सब शुद्ध खादी की ही थी पर अत्यन्त स्वच्छ और मूल्यवान। आँखों पर सुन्दर काले फ्रेम का चश्मा भी था, जो कि उसके गोरे मुख-मण्डल पर बड़ा ही भला लगता था। युवक की आयु चौबीस-पचीस वर्ष की ही होगी। अभी हाल में बैरिस्टर होकर स्थानीय हाईकोर्ट में कार्य आरम्भ किया है। मुख पर स्वास्थ्य, सौन्दर्य और निर्भयता के चिह्न हैं। कुछ हास्यप्रियता के चिह्न भी पाये जाते हैं। कहते कहते युवक स्वयं ही हँस पड़ा।

"ओह, तब तो "आँधी जी" मेरी हार्दिक बधाई के पात्र हैं, किन्तु उनका साहित्य किस प्रकार की क्रान्ति लायेगा सो बिना जाने ही मैं अपनी बधाई का सदुपयोग न करूँगी।" शक्ति का प्याला, उसकी कोमल बहुमूल्य चूड़ियों से सुसज्जित कलाई में लचक सी पैदा करके, उसकी पाँचों अँगुलियों की छाया लेते हुए उसके होठों तक पहुँच गया था। वह शायद अब काफ़ी सुड़क रही थी। आँधी जी बोलने को बेताब हो रहे थे। पर प्रोफ़ेसर देवेन्द्र कुमार, जो एक भली सी कुर्सी पर आँधी जी के पास ही बैठे थे, बोल उठे—"इनकी क्रान्ति का क्या स्वरूप होगा सो यह ही लोग जानें, किन्तु स्वरूप चाहे जो हो उसकी उपज स्वदेशी कदापि भी नहीं होगी।" शक्ति हँस पड़ी और भी सब मुस्कराहट न रोक सके। आँधी जी युवक बैरिस्टर के होठों

पर मुस्कराहट देख कर जल उठे—"कामरेड सतीश, तुम भी हँसोगे सो मैं नहीं जानता था। खैर जो भी हो, हमारी क्रान्ति अधिक देर तक धन के बल पर मानव को मानव की छाती पर करुण क्रीड़ा न करने देगी। हमारी क्रान्ति भारत के हृदय का नक्शा ही बदल देगी। हमारी क्रान्ति शासन की बाग-डोर धनी के हाथ से छीन कर एक-बारगी निर्धन, दीन, हीन कहलाने वाले के हाथ में दे देगी। मैं ऐसा भीषण साहित्य लिखूँगा जो कि मजदूरों के दिलों में भयंकर ज्वालाएँ फूँक देगा। वे ज्वालाएँ जिन्हें केवल मात्र धनी वर्ग का रक्त ही शान्त कर सकेगा। बहुसंख्यक निर्धन, मजदूर कहलाने वाले व्यक्तियों को जो सदा सर्वदा ही अपने फ्लैक्स के बूट की ठोकरों के नीचे दबाये रखना चाहते हैं, उनका रक्त ही किसी दिन इसका सम्पूर्ण रूप से प्रायश्चित्त करे ऐसा ही पाठ मैं उन दुखी व्यक्तियों को पढ़ाऊँगा'''''" जोश में आँधी जी कभी कभी बड़ी जोर से खाँस भी उठते थे, किन्तु अधिकतर शब्द-प्रवाह के साथ थूक का प्रवाह ही उनके मुख से बाहर आ रहा था।

कुमार बीच में ही बोल उठे—"किन्तु कविवर, मजदूर वर्ग न तो कविता ही पढ़ता है और न उपन्यास ही, निबन्धावली तक तो पढ़ता नहीं, उन्हें आप अपने पथ पर चलायेंगे कैसे ?

कविवर ने शायद इस दिशा में ध्यान दिया ही नहीं था। पर उनके उत्तर देने के पूर्व ही बोल उठा एक पाँचवा व्यक्ति। यह थी एक सुन्दर सी युवती। हमारे पाठक शैवलिनी रेखा को भूले न होंगे। आज वह एक सुन्दर सफेद खादी की साड़ी में थी। खादी का थैला पास ही रखा था मुख पर एक बड़ा ही आकर्षक भाव था। अब तक

काफ़ी का प्याला खाली करके मिस खेड़ा मेज पर रख चुकी थी। मिस खेड़ा बड़ी ही जोशीली थी, यहाँ त.. कि सारे ही सहकारी उससे हार माना करते थे। उसके विचारों की दृढ़ता यहाँ तक थी कि किसी भी हालत में अपने विचारों से हट जाना उसे असह्य था, यहाँ तक कि कोई ग़लती करके भी उसे कभी मानना उसने सीखा ही न था। दृढ़ चरित्र और कठोर स्वभाव की अत्यन्त नियम-परायण यह युवती नगर की कम्यूनिस्टिक कार्य्य-प्रवाह की प्राण ही थी। कभी किसी प्रकार के हास्य में भी मिस खेड़ा दल के सिद्धान्तों के प्रति उपहास नहीं सह सकती थीं। आज उनके दल ने मिस्टर और मिसिज़ कुमार को स्टैण्डर्ड में काफ़ी पर निमन्त्रित करके अपने दल में मिला लेने की आयोजना की थी। मिस खेड़ा कुमार की छात्रा थी उनके व्यक्तिगत विचारों से अनभिज्ञ न थी, उसकी सम्मति भी इस निमन्त्रण के पक्ष में न थी, किन्तु अन्य व्यक्तियों की राय को वह भी मान गई। दल और दल के सिद्धान्तों से उसका विशेष प्रेम था। अब तक भी वह सब कुछ सुन रही थी, किन्तु यह निर्दय परिहास नहीं सह सकी। आँधी जी उस दल में भी ख़ब्ती के नाम से प्रसिद्ध थे, किन्तु शैवलिनी का उन पर सहज स्नेह था। उनके साहित्य को भी वह ऊँची दृष्टि से देखती थी। एक हाथ से एक ओर की चोटी पीछे डालते हुए उसने कठोरता से कहा—"मजदूर वर्ग जब तक साहित्य क्षेत्र से बाहर ही बरबस रुका रहेगा—इन पूँजीपतियों की कठोरता से—निर्दयता से—तब भी हमारे साहित्य को पढ़ने वालों का अभाव नहीं होगा, कुमार साहब। हमारा साहित्य पढ़ेगा मध्य वर्ग जिनके मस्तिष्क कुछ साहित्य-चर्चा की ओर बढ़ चुके हैं। मजदूर-सदियों से दबा

हुआ, कुचला हुआ मजदूर–आज अपने भीतर यह शक्ति रखता भी नहीं है कि हमारे साहित्य के नग्न कठोर ज्वालापूर्ण सत्य को हृदयंगित कर सके। उन ज्वालाओं को हृदय में पाल रखने की क्षमता उसमें नहीं है। जब तक हम उसे इस योग्य बना पायेंगे तब तक हमारा साहित्य युवक जीवित शिक्षित मध्य वर्ग तथा छात्र-छात्राओं तक ही सीमित रहेगा। आज के मुट्ठी भर नागरिक ही स्वयं हमारे साहित्य का सन्देश कल की सन्तति तक भी पहुँचा देंगे। फिर जब हमारा श्रमिक वर्ग–एक मात्र जीवित रहने योग्य वर्ग–शिक्षित हो जायेगा, तो हमें पाठकों का अभाव नहीं रहेगा। प्रोफ़ेसर कुमार, पाठक ढूँढने नहीं पड़ते, वे स्वयं ही आ जुटते हैं। आपको उनकी चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी।"

सब ही शैवलिनी की कठोरता जानते थे। यहाँ तक कि वह जाने कब किस से लड़ पड़ती है यह भी किसी से छुपा हुआ नहीं था। कुमार की प्रवृत्ति कभी भी कठोरता या विवाद की ओर नहीं होती थी, वह चुप ही रहा, पर उछल पड़ा आँधी कवि।

"चियरज़, चियरज़, थ्री चियरज़ फ़ार मिस खेड़ा। सचमुच प्रोफ़ेसर, साहित्य अपने पाठक नहीं ढूँढ़ता। वे तो स्वयं ही आ जुटते हैं और फिर मेरा साहित्य तो है विश्व-शान्ति का सन्देश, मजदूरों की संगठित शक्ति का, रूस की महानता का, धनी वर्ग के अनुचित अत्याचारों के विरुद्ध धर्म-युद्ध का महान सन्देश। इस नये युग के नये सन्देश को विश्व भर सुनेगा और अवश्य सुनेगा। एक दिन रूस के श्रमकारों ने सिर उठा कर कह दिया था, अये धनिक वर्ग, अये पूंजीपति वर्ग, हमारे कलेजे के ज़ख़म पक गये हैं, उनमें

पीप पड़ गई है, वे सड़ गये हैं, उनमें पड़े हुए कीड़े कुलबुला कुलबुला कर हमें रात में भी सोने नहीं देते। आज हमें इसका आपरेशन करना ही होगा। इस पीव को समूल निकाल कर बहाना ही होगा। ऐसा करने में यदि तुम्हारे भव्य प्रासाद दुर्गंध से भर उठें, तो तुम्हें सहना ही होगा। ऐसा करते हुए यदि तुम्हारी आँखें उस दृश्य को देखकर दो चार बूँद आँसू बहा कर गिरा ही दें तो तुम्हें सहना ही होगा। धनिक वर्ग ने तुरन्त ही कह दिया घबराहट के साथ घृणा के साथ 'ना, ना सो अब हम सह न सकेंगे। पीड़ा होती है तो होने ही दो। कीड़े कुलबुलाते हैं तो उन्हें सड़ने दो जख्मों में। जिगर पक गये हैं तो उन्हें पकने ही दो, पर हम यह दुर्गन्धि नहीं सह सकेंगे। यदि तुम ऐसा करोगे भी तो वह अन्याय होगा, अपराध होगा और कानूनन पाप, तुम्हें उसका दण्ड भोगना पड़ेगा।' जार ने भी अपने गले के जोरदार स्वर में कह दिया "तथास्तु"। मजदूर पीड़ा अधिक देर तक न सह सका, कह उठा—"मुझे तो ऐसा करना ही होगा, तुम्हें भला लगे अथवा न लगे। कानून चाहे जो हो, पर मेरी पीड़ा अब मुझे जीवित रहने नहीं देगी। वह तड़फ जो गये थे। वेदना असह्य जो हो उठी थी। परिणाम हुआ उनका अत्याचार का विरोध करके और जार की ताना शाही से उसे स्थिर होकर युद्ध करने का प्रयत्न। जख्म दबाव पाते ही फूट पड़े और दुर्गन्धि से न केवल प्रासाद, स्वर्ण प्रासाद ही भर गये, वरन इस संघर्ष में रक्त की नदियाँ भी बह गईं। सत्य का संयम, सत्य का स्वप्न घर में बैठ कर नहीं देखा जाता। उसका रूप तो बड़ा ही लोमहर्षक होता है। क्रान्ति रक्त से भरी हुई कठोर क्रान्ति, कल्याण-प्रदायिनी किन्तु स्वयं एक दम अशिव की मूर्ति

क्रान्ति का वही सुर, लुभावना रूप, हमें भारत में भी उपस्थित करना है। यही हमारा महान उद्देश्य है।"

"क्रान्ति का अर्थ क्या केवल रक्त पात ही है आँधी जी।" शक्ति ने पूछा। पर उत्तर दिया शैवलिनी ने।

"कौन कहता है कि कम्यूनिज़्म केवल हिंसा का ही उपदेश देता है? कौन कहता है कि साम्यवाद अथवा साम्यवाद की अग्रदूत क्रान्ति केवल रक्तपात ही है। हम भिन्न भिन्न वर्गवाद के विरुद्ध हैं। संसार भर के श्रमिकों को एक ही धागे में गूँथ देना, विश्व भर के मजदूरों को बन्धु बना कर उनके अमानुषिक जीवन को मानवोचित जीवन बना डालना ही हमारा उद्देश्य है। हमारा लक्ष्य केवल मात्र संसार भर की व्यक्तिगत अथवा समूहगत पराधीनता को मिटा कर स्वतन्त्रता की उपासना करना है। विश्व भर की भूख को मिटा डालना, मानव के स्वार्थगत अत्याचारों के फल-स्वरूप जगह जगह उत्पन्न हुई बंगाल जैसी ही करुण भूख की नंगी करुण कथा को मिटा देना ही हमारा उद्देश्य है। किन्हीं इने-गिने व्यक्तियों के अनावश्यक शौकों की पूर्ति के लिये अधिकांश मानवों की पेट की भूख और मानव-शान्ति पर डाका डालने वालों को जड़-मूल से मिटा डालना ही हमारा लक्ष्य है। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिये चाहे फिर कोई भी साधन हमें क्यों न बरतने पड़ें। हम रक्त से भी डरते नहीं। कायरता हमारा सिद्धान्त नहीं, अहिंसा के नाम पर भी हम रुकेंगे नहीं, संसार की कोई भी शक्ति, कोई भी सिद्धान्त चाहे कितना भी सुन्दर चोला क्यों न पहन कर आये हमारी गति रोक सकती नहीं। हमारी गति अबाध है, निरन्तर है, और है द्रुत, उसमें

किसी प्रकार भी कोई अन्तर पड़ेगा नहीं। आवश्यकता पड़ने पर हम अपने मार्ग में आने वाली समस्त बाधाओं को नष्ट कर डालेंगे, कुचल डालेंगे, चाहे उनमें हमें कितना भी रक्त क्यों न बहाना पड़े। यद्यपि रक्त बहाना हमारा ध्येय नहीं है। रक्त बहाने का हमें चाव भी नहीं है। रक्त, मानव-रक्त का स्वरूप हमें कुछ विशेष सुन्दर भी नहीं लगता। किन्तु फिर भी केवल रक्त के ही डर से हम अपना मार्ग बदलेंगे नहीं, छोड़ेंगे भी नहीं, अपनी गति में भी कोई अन्तर नहीं आने देंगे।" शैवलिनी का सुन्दर मुख लाल हो उठा था उत्तेजना से। उसकी नासिका तेजी से फूल और सिकुड़ रही थी। उसके होंठ सूख रहे थे, सुकुमार लाल होंठ-पतले कोमल और सुन्दर। कुमार ने शान्ति से कहा—"शैवलिनी लक्ष्य सुन्दर है, शुभ है, कल्याणकर है, किन्तु उस तक पहुँचने का मार्ग प्राणिमात्र के लिये शुभ नहीं है। भले ही हिंसा मानव को जीवन में क्षणिक शान्ति दे पाये। न्याय और सत्य तक भी शायद कुछ देर के लिये हिंसा पहुँचा सके, किन्तु जो स्वयं असत्य है, स्वयं अन्याय है, वह कभी भी स्थायी रूप से सत्य और न्याय को आश्रय न दे पायेगा। हम भारतवासी हैं, हमारी नस नस में तत्त्वज्ञान, विचार और दर्शन भरा पड़ा है। भले ही युग-युगान्तर से उसे हम अत्याचारों की भीषण चक्की के नीचे पड़ कर, परतन्त्रता की ज्वाला में पड़े रह कर जला चुके हैं, किन्तु फिर भी उसका प्रभाव अभी तक भी करुण रूप में ही सही जीवित है। किसी दिन भी हम योग के "यम" में से पहला ही अक्षय साधन "अहिंसा" भूल न जायें यही इस युग में महात्मा गांधी की साधना है। भले ही तुम्हारा लक्ष्य चाहे जो हो। किन्तु मार्ग जो भी तुम अवलम्बन करो,

साधन जो भी तुम उपयोग में लाओ, उनकी नींव आध्यात्मिक सत्य पर हो, क्रियात्मक, लौकिक मिथ्या पर नहीं। सम्भव है यह आध्यात्मिक सत्य का मार्ग तुम्हें अनेकों विघ्न-बाधाओं के बीच में ले जाकर खड़ी कर दे। सम्भव है इस मार्ग पर चल कर लक्ष्य पर तुम शीघ्र ही न पहुँच पाओ। यह भी सम्भव है कि युग-युगान्तर तक भटकने पर भी तुम उस सत्य मार्ग को न पा सको। यह भी सम्भव है कि दूसरा हिंसा-मार्ग तुम्हें शीघ्र ही लक्ष्य तक पहुँचा दे, किन्तु यह मार्ग लम्बा होने पर भी चिर अमर है, चिर स्थायी है, मनुष्य की आत्मा को महान विराट सत्य में लीन कर देने वाला है, जब कि दूसरा मार्ग छोटा होने पर भी चिरस्थायी नहीं है। लक्ष्य, जिस प्रकार उस पर चलने से आज शीघ्र ही प्राप्त हो जायेगा, पर उसी प्रकार अत्यन्त आसानी से वह खोया भी जा सकेगा। यूरूप उस मार्ग को पहचान गया था। रूस ने क्रान्ति की। धन्य है, और महान थे रूस के वे योद्धा जिन्होंने दीन की दर्दभरी आह सुन कर मुख पर चादर नहीं खींच ली, जिन्होंने अन्याय देख कर आँखें नहीं बन्द कर लीं, वरन इस मार्ग का अवलम्बन कर अपना लक्ष्य खोज निकाला। पर भारत रूस नहीं है। भारत की युग-युगान्तर से प्राप्त संस्कृति व्यर्थ का खेल नहीं है, यही कारण है कि भारत के नवयुग-प्रणेता महात्मा गोखले के शिष्य, महात्मा लोकमान्य तिलक के भक्त, महात्मा गांधी अपना मार्ग ढूँढ सके, उपवास में, ईश्वर श्रद्धा में, सत्याग्रह में, सेवा में और अहिंसा में।" कुमार ने शान्ति-पूर्वक कहा।

"जिनके हृदय में देश की स्वाधीनता, मानव की वेदना हटाने

की ज्वालाएँ निरन्तर भयानक रूप से जलती रहती हैं उन्हें कौनसा मार्ग ग्रहण करना चाहिये और कौनसा छोड़ना, यह सब कुछ सोचने के लिये समय ही कहाँ मिलता है, प्रोफ़ेसर साहब। वे तो ढूँढते हैं केवल रोग की औषधि, वह औषधि स्थायी है अथवा अस्थायी यह सोचते ही बैठे रहना कायरों का काम है। वीर अवसर की प्रतीक्षा नहीं करते, वरन अवसर बनाया करते हैं। अवसर स्वयं वीरों की प्रतीक्षा करते हैं। देश महान है, देश सत्य है। दरिद्र की भूख सर्वोपरि है, दरिद्र की छाती, नंगी छाती पर किया हुआ अत्याचार हमारे सम्मुख एक मात्र प्रधान समस्या है। मार्ग की उपयोगिता पर विचार करने को हमारे पास समय है ही नहीं। रूस ने हिंसात्मक मार्ग की त्यागपूर्ण सफलता का हमें ज्वलंत उदाहरण दे दिया है, वह हमें माननीय है। अहिंसात्मक मार्ग की सफलता अभी अनिश्चित है। हमें अनिश्चित की चाह नहीं है। हमारे दिल भर गये हैं, हम में ऐक्सपेरीमेन्ट करने की न सहिष्णुता ही है और न हमारे पास उतना समय ही। रोग का इलाज हम करेंगे और अभी करेंगे।" उत्तेजना में शैवलिनी बह गई।

बैरिस्टर सतीश ने हँसते हुए कहा,—"न होगा स्थायी इलाज फिर कभी स्वस्थ हो जाने पर कर लेंगे।" वाक्य में व्यंग की ध्वनि ही अधिक थी।

"और फिर विश्व के इतिहास में प्रोफ़ेसर कुमार साहब क्या आप कहीं भी मुझे कोई उदाहरण दिखा सकते हैं जहाँ किसी देश ने अपनी स्वतन्त्रता, किसी शासित ने अपने अधिकार और किसी पीड़ित ने अपने अत्याचारों का बदला बिना तलवार के बल के ही लो

लिया हो।" वह स्वयं ही कह कर हँस पड़ी अवज्ञा भरी अविश्वास की हँसी।

कुमार शान्त ही रहा। शान्ति-पूर्वक उसने कहना आरम्भ किया। शक्ति केवल सुन ही रही थी—"महान है देश शैवलिनी, मैं मानता हूँ। महान है वह भूमि जहाँ किसी भी जाति के प्राणियों का जन्म होता है, किन्तु उससे भी अधिक महान है स्वयं मानव, स्वयं मानव आत्मा, मानव मन, मानव रक्त......उसकी अवहेलना करके कोई भी लक्ष्य, कोई भी पथ, कोई भी मार्ग सम्पूर्णतया स्थायी नहीं हो सकता, सफल नहीं हो सकता। अहिंसा स्वयं कोई शस्त्र नहीं है वरन सब शस्त्रों का अन्त ही तो है और जो तुम कहती हो कि क्या कभी भी कोई राष्ट्र केवल अहिंसा के बल पर तलवार के बिना स्वतन्त्रता प्राप्त कर सका है तो मुझे कहना पड़ेगा कि राष्ट्र की स्वतन्त्रता स्वयं ही यदि कोई स्थायी वस्तु बन सकती है तो वह तब ही जब कि प्रत्येक व्यक्ति को, मानव मात्र को, राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य को पूर्णरूपेण स्वतन्त्रता की प्राप्ति हो। राष्ट्र क्या है, मानव समूह ही तो। राष्ट्र की स्वतन्त्रता क्या है उस मानव-समूह की स्वतन्त्रता ही तो। यह स्वतन्त्रता किस प्रकार प्राप्त हो सकती है उसी का तो उत्तर है, कि केवल मात्र अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य, अपरिग्रहादि यम और स्वाध्याय, तप, सन्तोष, शौच और ईश्वर प्रणिधान आदि नियमों पर आचरण करके चरित्र-बल का संगठन करके धारणा, ध्यान और समाधि द्वारा आत्म-ज्ञान करके ही मानव स्वतन्त्र हो सकता है। मानव अल्पज्ञ है, सीमित है उसकी सीमाएँ उसके चारों ओर बन्धनों की सृष्टि कर रही हैं। वह स्वयं ही अपने को ईर्षा और

द्वेष के बन्धनों में घेरे बैठा है। उनसे छुटकारा प्राप्त करके स्वयं अपने रूप को पहचानने का नाम ही स्वतन्त्रता है और यह स्वतन्त्रता केवल इसी मार्ग पर चलने से मिल सकती है। राष्ट्रवासियों के इसी प्रकार स्वरूप को पहचान पाने पर राष्ट्र स्वयं ही स्वतन्त्र हो जायेगा। इतिहास से उदाहरण पूछती हो तो सुनो। कलिंग देश ने तलवार से युद्ध में अशोक के विरुद्ध विजय नहीं प्राप्त की थी, वह तो परास्त हो चुका था, परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ा जा चुका था। उसे स्वतन्त्रता मिली थी इसलिये नहीं कि उसमें बाहुबल अशोक की सेनाओं से अधिक था, वरन केवल इसलिये कि उसने रक्त बहाया था अपना, स्वयं अपने हृदय का रक्त और वही रक्त, मानव-रक्त अशोक की मानव-आँखें न देख सकीं। अशोक समझ गया था कि मानव महान है, उसका रक्त किसी मूल्य पर भी बहाने की वस्तु नहीं। सम्राट अशोक शक्ति बल से जो नहीं जीत पाये, वही उन्हें सहज में ही प्रेम-बल से प्राप्त हो गया। यही तो है अहिंसा की—प्रेम की—महत्ता। खोजने से उदाहरणों की कमी नहीं रहती, किन्तु उदाहरण न होने पर भी इस सत्य को भूला नहीं जा सकता कि मानव-रक्त लेने से स्वयं अपना रक्त देना कहीं अधिक महान है।" कुमार की दृष्टि गम्भीर थी।

"उपदेश सुन्दर है, ठीक किसी मन्दिर के योग्य ही है।" बैरिस्टर ने व्यंग से कहा।

"मेरा इस अहिंसावाद में राई-रत्ती भी विश्वास नहीं, किन्तु यदि एक क्षण को मान भी लिया जाये कि गाँधी जी इस ही के बल से किसी दिन स्वराज्य–आजादी जैसी दुर्लभ किन्तु जन्मसिद्ध

अधिकार को प्राप्त कर सकेंगे तो क्या उसके लिये भारत के प्रत्येक व्यक्ति को अहिंसावादी होना आवश्यक नहीं हो जायेगा जो कि असम्भव है। युगों के प्रभाव से भी महात्मा गाँधी आज तक भारत में अपने जैसा दूसरा अहिंसावादी उत्पन्न नहीं कर सके। अविश्वास से शैयलिनी ने कहा।

"उसके लिये मैं गाँधी जी के वाक्य दोहरा देता हूँ। "यह आशा नहीं की जाती कि समाज का हर मनुष्य पूर्ण अहिंसक होगा। पर जहाँ हिंसक फौज के बल पर शान्ति और साम्राज्य की नींव डाली जाती है, वहाँ भी यह आशा नहीं की जाती कि हर मनुष्य युद्धकला में निपुण होगा। करोड़ों की बस्ती वाले मुल्क की रक्षा के लिये कुछ थोड़े लाख मनुष्य काफी समझे जाते हैं। सौ में एक मनुष्य यदि सिपाही हो तो पर्याप्त माना जाता है। फिर उन सिपाहियों में से भी जो ऊपरी गणनायक होते हैं, उन्हीं की निपुणता पर सारा व्यवहार चलता है।

"आज इंगलिस्तान में कितने निपुण गणनायक होंगे, जो फौज के संचालन में अत्यन्त दक्ष माने जाते हैं, उससे तो इतनी ही आशा की जाती है कि उनमें अपने अफसरों की आज्ञा पर मरने की शक्ति हो। इसी उदाहरण के आधार पर हम एक अहिंसात्मक फौज की भी कल्पना कर सकते हैं, अहिंसात्मक फ़ौज के जो गणनायक हों, उनमें पूर्ण आत्म-शुद्धि हो जो अनुगामी हों वे श्रद्धालु हों, और चाहे उनमें इतना तीक्ष्ण विवेक न हो, पर उनमें सत्य-अहिंसा के लिये मरने की शक्ति हो। इतना यदि है तो काफी है।" महात्मा जी के इन शब्दों में अहिंसात्मक मार्ग के राजनैतिक क्षेत्र में क्रियात्मक रूप में ले जाने

की कितनी गम्भीर विवेचना और अनुभवपूर्ण गवेषणा की गई है सो समझ लेना कुछ कठिन नहीं है। ऐसा ही तो है अहिंसा का अविचल शास्त्र जिसे किसी अवस्था में अव्यावहारिक नहीं कहा जा सकता।" प्रोफेसर देवेन्द्र कुमार ने उत्तर दिया।

शैवलिनी खेड़ा कभी भी अपने विचारों पर आलोचना नहीं सह सकती थी, यहाँ तक कि किसी अशुद्धि के ठीक ठीक समझ लेने पर भी उसका स्वीकार करना कभी भी सहन नहीं कर सकती थी। किसी समय किसी के अँगुली आँख में डाल कर उसकी त्रुटि दिखा देने पर वह बिगड़ खड़ी होती थी, यही उसका वास्तविक चरित्र था। अधिक देर तक अपने मत पर कटाक्ष सुन सुन कर वह असहिष्णु हो उठी थी, किन्तु एक गांधीवादी अहिंसा के मानने वाले के सम्मुख अपना कठोर विरोध प्रकट करके वह स्वयं परास्त भी नहीं होना चाहती थी, अतः स्वर को कुछ कोमल करके बोली—"हो सकता है हिंसा बुरी हो, हो सकता है हिंसा मानव जाति के कल्याण के लिये उपयोगी सिद्ध न हो, किन्तु एक बात तो निर्विवाद सत्य ही है और वह यह कि व्यापक जनहित के लिये की जाने वाली हिंसा पाप कदापि नहीं हो सकती। हिंसा का वह रूप पाप है जो कि स्वार्थ के लिये ग्रहण किया जाय, किन्तु स्वयं कठोर कठिन भीषण कष्ट सह कर भी जो हिंसा केवल मात्र व्यापक जनहित, मानवहित के लिये की जाती है वह पाप हो ही नहीं सकती। कोई भी कर्म स्वयमेव पाप होता है और न पुण्य, किन्तु उसके पीछे छिपा हुआ उद्देश्य ही उसे पाप या पुण्य की कक्षा में बिठा देता, है स्वार्थ-परायणी हिंसा पाप है और सर्व हिताकांक्षा पूर्ण हिंसा पुण्य।" पर्याप्त मात्रा में कोमलता लाने का

प्रयत्न करने पर भी शैवलिनी के स्वर में आदि से अन्त तक कटुता भरी थी। किसी को युद्ध क्षेत्र में चुनौती दी जाने वाली भाषा थी।

"हिंसा हिंसा ही है, चाहे उसका उपयोग जनहित के लिये किया जाये अथवा स्वहित के लिये। रूस की क्रान्ति में और उससे पूर्व भी वर्तमान रूस के राज्य विधाताओं का किया हुआ त्याग, कष्ट सहन आदर की वस्तु है, उन मनुष्यों को, जो साईबेरिया के दुर्गम पथों को चोरों की तरह न जाने कितनी बार चुपके चुपके भाग कर धन्य कर गये, जो पिस्तौलों, तोपों और कारागार की भयंकरताओं के बीच भी अग्नि-परीक्षा देते ही रहे, हम आदर की दृष्टि से देखते हैं। उनका साहस उसी प्रकार पूजा की वस्तु है जिस प्रकार कि किसी भी देश और किसी भी जाति के वीर योद्धाओं का साहस, किन्तु उसके पश्चात जो भयंकर हत्या-काण्ड मचा, जो करुण रक्तपात हुआ, वह भारत के लिये कभी और कदापि भी अनुकरणीय नहीं है। साम्यवाद के सिद्धान्त अनेकों स्थलों पर स्वयं वेदों में भी वर्णित हैं, जिनके अनुसार रूस की क्रान्ति से हजारों लाखों वर्ष पूर्व वैदिक भारत के लोग साम्यवादी जीवन-यापन करते थे। वैदिक काल के ऋषि कह पाये थे :—

"सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते॥" अथवा "समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्त मेषाम्। समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥" अथवा "समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मना यथा वः सु सहासति॥" अथवा "दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्तां।

*मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।" आदि आदि

जिन आदर्शों को सम्मुख रख कर भारत का अपने समय का महान दार्शनिक, राजनैतिक नेता, योद्धा और एक विशाल साम्राज्य का अधीश्वर भी जनसाधारण के बीच उन्हीं का सा बन कर उनके हाथ से रंग की पिचकारी खाकर धन्य हो उठता था, जिन आदर्शों पर चल कर साधारण भिखारी तक राजा के समीप पहुँच कर उसके अनाचार के लिये उसे स्पष्ट शब्दों में धिक्कारने का अधिकार रखता था वे सिद्धान्त महान हैं। वे सिद्धान्त वन्दनीय हैं, माननीय हैं, अनुकरणीय

---

* ऋ. १०. १९१.२ ईश्वर सब प्राणियों को आदेश करता है कि हे मनुष्यों तुम सब एक होकर गति करो, कार्य करो, एक-सा बोलो; तुम ज्ञानियों के मन एक से हों। तुम उसी प्रकार व्यवहार करो जिस प्रकार उत्तम ज्ञानवान अपने भाग को करते हैं।

ऋग. १०. १९१.३. हे मनुष्यों तुम लोगों का विचार एक है, सभा एक है, मन के साथ चेतना भी समान है, मैं तुम को समान विचार से अभिमन्त्रित करता हूँ। समान ही अन्नादि देता हूँ।

ऋ. १०. १९१.४. तुम्हारा लक्ष्य एक हो, तुम्हारा हृदय एक हों, तुम्हारा मन एक हो, जिससे तुम्हारा बल उत्तम हो।

मानव फिर प्रार्थना करता है यजु ३६. १८.

"हे अज्ञान नाशक, मुझे दृढ़ कर। सब प्राणी मुझ को मित्र की दृष्टि से समान भाव से देखें। मैं सब भूतों को मित्र की दृष्टि से समान रूप से देखता हूँ। हम परस्पर मित्र की दृष्टि से देखते हैं।

है, किन्तु उन्ही के सम्मुख रखकर किसी भी मूल्य पर हम हिंसा को प्रश्रय नहीं दे सकेंगे। भारत को रूस के समान मानवरक्त में डुबा सकेंगे नहीं, भले ही वह रक्त मानव-हित के कल्याण के लिये ही क्यों न हो।" कुमार कहे जा रहा था। बैरिस्टर कुछ भी बोलने को उत्सुक न होकर केवल सुन रहा था। बैरिस्टर के ठीक पीछे बैठी हुई दो लड़कियाँ कुछ चंचल सी हो उठी थीं। शायद काफी समाप्त कर चुकने पर इस लम्बे व्याख्यान को सुनते सुनते ही ऊब उठी हों। स्वयं शैवालिनी भी बहुत शान्त नहीं जान पड़ती थी। आँधी जी की तो मानों, जिह्वा बड़ी देर से धड़धड़ा रही थी कुछ कहने के लिये, किन्तु केवल एक श्रोता कुछ टेढ़ी गर्दन किये कुमार के एक एक शब्द को ध्यानपूर्वक पी रहा था और वह थी शक्ति। शक्ति ने इससे पूर्व कुमार को कभी भी इस विषय पर इतनी गम्भीरतापूर्वक विचार करते नहीं देखा था। स्वयं भी कभी इस विषय पर उसने प्रोफेसर कुमार के साथ विवेचना नहीं की थी। आज अचानक ही इतनी सारी बातें सुन कर वह आश्चर्य चकित सी रह गई। स्वयं उसने देश की समस्याओं पर इतनी गम्भीरता से कभी विचार नहीं किया था। शक्ति के सम्मुख मानव-जीवन की वेदना की—मानव मन के दर्प की समस्या बड़े ही उज्वल रूप में आ खड़ी हुई थी, किन्तु समाज-व्यवस्था का, देश की स्वतन्त्रता की समस्या का उसने कभी स्वयं भी विवेचन नहीं किया था और कुमार को करते सुना भी नहीं था। कुमार कक्षा में सदा ही दरिद्रता, मानव-जीवन की आर्थिक अवस्था और उससे जनित मनोवैज्ञानिक दुःखों पर प्रकाश डालता था। शक्ति सर्वदा ही कुमार के उन विचारों पर अपने अनुभव के बल पर

अपना अविश्वास प्रकट करती थी, उनका विरोध भी करती थी व्यंग द्वारा, कटाक्ष द्वारा और यही शायद कुमार को विशेष रूप से आकर्षित कर सके थे, किन्तु इसके अतिरिक्त भी कुमार किसी अन्य समस्या पर विचार करते हैं सो उसे मालूम न था। आज कुमार का मूल्य उस की दृष्टि में बढ़ गया। इसी विषय पर शंकाएँ उसे भी उठ रही थीं, किन्तु उसके समझाने का समय नहीं था। वाद-विवाद में ही साढ़े दस बज गये थे। कुमार को दूसरे दिन का कक्षा के लिये व्याख्यान भी तैय्यार करना था। भाभी की भोजन-सम्बन्धी असुविधा का भी ध्यान था, अतः शक्ति स्वयं बोल उठी, आँधी जी को सम्बोधन करके—"क्षमा करें आँधी जी, रात अधिक हो गई है। अभी और भी अनेक कार्य्य हैं, फिर कभी अवश्य आपके विचार जानने का प्रयत्न करेंगे। प्रलोभन तो आज भी विशेष है, पर आज यहीं तक।" कह कर शक्ति उठ खड़ी हुई। शैवलिनी जल उठी। दोनों बड़ी बड़ी सुन्दर आँखों में ज्वालाएँ सी भर कर बोली—"वास्तव में आपके पास समय कम है। दुर्भाग्य हमारे देश का, देशवासियों में से मुट्ठी भर व्यक्तियों को भी देश की समस्याओं पर विचार करने का अवसर नहीं मिलता, समय ही नहीं होता।"

कोई और समय होता तो शक्ति बड़ा ही कठोर उत्तर देती, किन्तु अहिंसा की पति द्वारा की गई व्याख्या अभी उसके मस्तिष्क में ही गूँज रही थी। हँसकर बोली—"शैवलिनी बहिन, क्रोधित न हो। अगली मीटिंग की भी हमें सूचना देना। हम अवश्य आयेंगे।"

कुमार भी उठ खड़ा हुआ। नीचे सुरेन्द्र कुमार की कार खड़ी थी। देवेन्द्र कुमार भाई की कार पर ही आये थे। कुमार ने शिष्टाचार

से कहा—"चलिए मिस खेड़ा आपको मार्ग में छोड़ते चलें।"

अवज्ञा से सिर हिलाकर शैवलिनी ने कहा—"ओह, उससे मुझे सुविधा न होगी। मेरी बाईसिकिल नीचे खड़ी हुई है, मुझे अभी सतीश से कुछ काम भी है। न हो आँधी जी को सिविल हस्पताल के मोड़ पर उतारते जाइयेगा। इन्हें वहाँ से मार्ग आसानी से मिल जायेगा, अन्यथा हमें उधर इन्हें छोड़ने जाना पड़ेगा।"

"अवश्य, अवश्य चलिये आँधी जी।" कुमार बोले। आँधी जी साथ ही अपना खादी का थैला उठा कर गिरते पड़ते चल दिये कार की ओर।

शेष सदस्य भी कुछ बाईसिकिल और कुछ पैदल ही चले गये थे। मार्ग में आँधी जी कुछ बोलना चाहते थे, किन्तु कुमार या शक्ति कोई बोलने के लिये तत्पर न था। दोनों ही विचार-मग्न थे। थोड़ी देर प्रयत्न करके आँधी जी खिड़की से बाहर सिर निकाल कर चौड़ी सड़क की ओर ध्यानपूर्वक देखने लगे। कौन जानता है उसका मस्तिष्क उस समय किसी प्रगतिशील कविता की किसी एक पंक्ति विशेष की खोज में नहीं लगा हुआ था। न जाने कब बैरिस्टर सतीश और शैवलिनी खेड़ा अपने अपने घर गये।

उमा

"आ जा गुड्डी, भीतर आ जा। आ जा तेरे चाचा जी नहीं हैं।"

उमा शक्ति के पास आकर खड़ी हो गई। घर भर में यदि कोई शक्ति को आदर की–प्रेम की–दृष्टि से देखने वाला था तो वह उमा ही थी। गौरी के समान ही उमा अत्यन्त सुन्दर थी। स्थानीय स्कूल में आठवीं या नवीं कक्षा में पढ़ती थी। उस की अंग्रेजी भाषा पढ़ाने वाली अध्यापिका बी. ए. बी. टी. पास थीं। इतिहास पढ़ाने वाली अध्यापिका भी अत्यन्त विदुषी थीं, उन्होंने एम. ए. पास किया हुआ था। यही कारण था कि उमा उन्हीं आदरणीय अध्यापिकाओं के के समान ही एम. ए. तक पढ़ी हुई चाची को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखती थी। इसके अतिरिक्त एक कारण और भी था। भैया से मार खाकर प्रायः माँ के पास शिकायत करने की गुंजाइश नहीं रहती थी, वरन छिपने के लिये कहीं स्थान ढूँढना पड़ता था, और उसके लिये उपयुक्त स्थान चाची का कमरा ही था। फिर चाची उसे उसके अध्ययन में भी तो सहायता देती थी। स्कूल का सारा काम प्रायः

उमा प्रतिदिन चाची के पास ही बैठ कर करती थी। धीरे धीरे उमा को चाची पर गम्भीर विश्वास हो गया। उनकी बुद्धि पर तो उसे सदा से ही विश्वास था। उमा को कपड़ों का विशेष शौक नहीं था। सादा, स्वच्छ सफ़ेद खादी के वस्त्र उसे भाते थे। पर इस घर में वस्त्रों की कमी न थी। बहुमूल्य विदेशी वस्त्र प्रायः शक्ति उमा को ही दे डालती थी। उमा शक्ति को बड़ा प्रेम करती थी। समय समय पर माँ के पुराने दास-दासियों की शक्ति के प्रति उपेक्षा उमा को असह्य हो उठती थी, पर उपाय ही क्या था। बेचारी एकान्त में बैठ कर बहुत से उपाय सोच डालती थी, पर कोई भी उपयोगी सिद्ध न होता था। अन्त में चाची के गले में अपने दोनों कोमल श्वेत हाथ डाल कर लटक जाती थी, शायद चाची को शान्त करने के लिये। शक्ति मुस्करा कर कहती—"मेरी उमा, मेरी राधा, मेरी रानी क्या है ?"

उमा गले में लटके ही लटके कह देती "मेरी चाची, चाची रानी······"

"बेटी मेरी, उम्मी रानी।" शक्ति उमा को गोद में लिये ही लिये अपना सारा अपमान, सारी लाञ्छना, सारी वेदना भूल जाती। हँसती हँसती कहती "मेरी शिवप्रिया······उमा, किसी दिन जब कि सारा विश्व मुझे भूल जाये, नीलकण्ठ-प्रिया, तुम मेरे मस्तक पर हाथ रख कर, मुझे यही वरदान देना कि दुःख और सुख दोनों में ही मैं तुम्हारे अनुरूप ही हो सकूँ, मेरी उमा, मेरी गौरी।"

उद्गार निकाल कर शक्ति तो शान्त हो जाती, किन्तु उमा कुछ भी न समझ कर हँस पड़ती। शक्ति मधुर स्वर में गा उठती "ओ अम्बे गौरी मैया······तुझ को निशदिन ध्यावें हर ब्रह्म शिव

जी·····मांग सिन्दूर विराजत टीका···टीको हर नीको।······"

"चाची तुम बड़ा अच्छा गा लेती हो।"

"हाँ बिटिया।" और दोनों हँस पड़तीं। उमा शक्ति की सखि थी शक्ति-दायनी संजीवनी थी। दोनों में बड़ा ही सौहार्द्र था। मुन्नी उस दिन बाहर से ही ताक झाँक कर रही थी। रात के विचारों की गहनता में शक्ति चुपचाप बैठी हुई थी। कुमार अभी कालिज से वापिस लौटा नहीं था। मुन्नी झट से चाची के पास आन बैठी।

"मुन्नी पढ़ेगी क्या?" शक्ति ने पूछा।

"नहीं चाची, आज तो स्कूल में पढ़ाई हुई ही नहीं।"

"क्यों पढ़ाई क्यों नहीं हुई?"

"आज हड़ताल हुई थी।"

"क्यों आज क्या है? आज तो कोई विशेष समाचार ट्रिब्यून में भी नहीं आया है।"

"नहीं सो बात नहीं है। बात यूँ थी कि स्वतन्त्रता-दिवस पर हमने बड़ा ही अच्छा प्रोग्राम रखा था। हमारी वर्तमान हैड गर्ल बड़ी ही देश-भक्त है। देश-प्रेम के अतिरिक्त दृढ़ता भी उसमें कुछ कम नहीं है। हाँ तो स्वतन्त्रता-दिवस के अवसर पर मुख्याध्यापिका ने भी एक कोई गांधीवादी देवी को व्याख्यान देने के लिये निमन्त्रित किया था। उनके भाषण पर हमारी हैड गर्ल—वही सुनीति है न—जो मेरे जन्म-दिन की पार्टी में भी यहाँ आई थी।"

"हाँ, मैं उसे खूब जानती हूँ। वही शैवलिनी खेड़ा की बहिन है न?"

"हाँ, हाँ वही, शैवलिनी बहिन जी भी कभी कभी आती हैं

हमारे स्कूल में। वही उनसे कुछ प्रश्न करने लगी। प्रश्नोत्तर का सिलसिला ज़रा गरम हो गया और सुनीता कह गई कि आप जेलों में बैठ बैठ कर उन वेदनाओं की कल्पना भी नहीं कर सकतीं जो रूसी मज़दूरों के नेताओं ने अपनी छाती पर रात दिन सही थीं।"

"अच्छा ?" आश्चर्य से शक्ति ने कहा।

"हाँ, वह तो है ही बड़े ही गर्म मिजाज़ की। फिर क्या था व्याख्याता भी बिगड़ उठीं। उन्होंने रूसी नेताओं के विरुद्ध कठोर शब्दों का प्रयोग करना आरम्भ किया और थोड़ी ही देर में मामला गरम हो जाता यदि मिसिज़ चेट्टी मामला किसी प्रकार शान्त न कर देतीं।"

"सो तो ठीक हुआ, चिटिया, पर उसका आज की स्ट्राइक से क्या सम्बन्ध है।"

"सुनो तो सही चाची, वही तो कह रही हूँ।"

"अच्छा सुना।"

"हाँ, तो तब तो सब कुछ शान्त हो गया, पर दूसरे दिन मिसिज़ चेट्टी ने सुनीति को बुला कर डाँटा भी और उन देवी से अपराध की क्षमा माँगने को भी कहा। सुनीति ने तो अपने जीवन में क्षमा माँगना सीखा ही नहीं था। मिसिज़ चेट्टी से भी बहस करने लगी। मिसिज़ चेट्टी कहे जा रही थीं कि कुछ भी हो बड़ों का आदर करना ही चाहिये। वह बेचारी तो यह कहती ही नहीं थी कि दोष कुछ सुनीति की विचार-बुद्धि का है, पर इतना अवश्य था कि वह कहती थीं कि कुछ भी हो, तुम्हें अपने से बड़ों का और विशेषतया अतिथि का सम्मान करना ही चाहिये। सुनीति किसी प्रकार भी अपना दोष

मानने को तत्पर न थी। परिणाम यह हुआ कि मिसिज़ चेट्टी ने सुनीति को एक सप्ताह के लिये कक्षा में न आने का दण्ड दिया, फिर क्या था सुनीति की पार्टी तो प्रबल है ही। सारे स्कूल में स्ट्राइक हो गई। कुछ भी हो चाची, मिसिज़ चेट्टी ने दण्ड तो बड़ा ही कठोर दिया।"

"पर बिट्टो, सुनीति की जिद भी तो कुछ कम नहीं है।" शक्ति ने गम्भीरता से कहा।

"पर चाची, क्या किसी के लिहाज से हम सत्य भी न कहें। सुनीति का एक विश्वास था, यदि वह उसे ठीक ठीक प्रकट कर देती है, मन ही में छुपा कर किसी भी लिहाज के कारण स्वयं अपने को धोखा नहीं देती, तो यह क्या कोई अपराध है। इसके तो यह अर्थ हुए कि आजकल की शिक्षा और आजकल के शिक्षक गण हमें केवल मात्र अपनी आत्मा से हर प्रकार से दबाना ही सिखाते हैं। हम कभी और कहीं भी सत्य को खुले रूप में प्रकट नहीं करें, तब ही हमारी प्रशंसा होगी कि हम बड़ों का आदर करते हैं। छिः, यह भी कोई बड़ों का आदर है और यदि ऐसा बड़ों को आदर करना कोई धर्म हो भी तो उसे दूर से ही नमस्कार है।" एक ही साँस में उत्तेजित से स्वर में, छोटी सी लड़की उमा कहती चली गई। शक्ति हँस पड़ी पर तुरन्त ही सम्हल गई। कहीं उमा इसे अपनी बात का अपमान ही न समझ ले। फिर भी शक्ति बोल ही उठी—"मुन्ना, यह सब कुछ तुम्हारा अपना अनुभव भी नहीं है और इसका अर्थ भी तुम ठीक से समझ पाती नहीं हो। यदि कहीं समझ पाती तो शायद इस प्रकार यह सब कुछ न कह पाती। ग्रामोफोन के रिकार्ड की तरह केवल मात्र पुनरुक्ति करके सत्य की व्याख्या नहीं की जाती, उमा। आत्मा को

दबाना क्या है, सो भी तुम जानती नहीं, सुनीति भी नहीं जानती, स्वयं अपने को नियन्त्रित न कर सकने वाले कुछ युवक गण जिस भी किसी वस्तु को सत्य कह देते हैं, उसी को सत्य मान लेने से ही काम नहीं चल जाता। उमा रानी सत्य का अनुभव करना होता है स्वयं अपने हृदय में।"

"मैं तो यह कुछ भी समझी नहीं, चाची। यदि उसने यह अनुभव किया भी कि रूस के मजदूर नेताओं की कुरबानियों का मूल्य हमारे कांग्रेस के नेताओं के बलिदानों से अधिक है तो स्पष्ट रूप से यह कह देना क्या कुछ अपराध था? मिसिज चेट्टी कहती हैं कि उसे उन देवी जी से वैसा नहीं कहना चाहिये था, भले ही वह अपने मन में वैसा समझती रहती। यह क्या हिपोक्रैसी नहीं है। और यदि उसने कह भी दिया था तो क्या उन देवी जी को वैसा गरम हो उठना चाहिये था।" शंकित स्वर में उमा ने कहा। चाची पर उनका अटल विश्वास था, किन्तु वह वास्तविक सत्य तक भी पहुँचना चाहती थी। सुनीति उसकी प्रिय सखि थी। सुनीति के किसी भी कार्य्य में उसे उच्चता और देश-भक्ति की पर्याप्त श्रद्धा थी। प्रातःकाल प्रार्थना के पश्चात ही जिस समय सुनीति ने बालिकाओं को स्ट्राइक करने का निश्चय सुनाया था तो उसने कहा था—"जरा सी ही बात तो थी और वह भी सत्य। उसके प्रकट करने पर हमको कहा जाता है कि क्षमा माँगो। हम क्यों क्षमा माँगे केवल इसी कि जो हमने कहा है वह सत्य था। नग्न सत्य था। इस युग के हमारे गुरु कहते हैं कि या तो सत्य को ढके रखो। हृदय की अँधेरी कोठरी में ही घुट घुट कर मर जाने दो और यदि किसी कारण

वैसा न कर सको तो सत्य प्रकट करने, सत्य आचरण करने के लिये खेद प्रकट करके क्षमा माँगो और यदि वह भी न कर सको तो दण्ड माँगो। क्षमा माँगने में मेरी कोई भी हानि नहीं है, किन्तु सिद्धान्त हमारे सम्मुख है। मेरा कोई अपराध नहीं है, अतः मैं क्षमा नहीं माँगूँगी। दण्ड भी नहीं स्वीकार करूँगी। कल चाहे जो हो······ कामरेड्स, आप में से जो भी इस सत्य के नाम पर युद्ध में मेरा साथ दें उनका स्वागत है।" देखते देखते अनेक हाथ उठ गये। दो चार जो बच रहे थे वे भी शर्माशर्मी उठ ही गये, अन्यथा उन्हें खड़े होने को जगह ही कहाँ थी। कुछ छात्राएँ यह भी कह रही थीं, सम्भवतः अधिकांश यह कह रही थीं, कि यद्यपि हमें सुनीति की नीति में तनिक भी विश्वास नहीं है, क्षमा माँग लेना कहीं अधिक बुद्धिमानी का कार्य्य होता, किन्तु जब वह अपना मार्ग चुन ही चुकी है तो यूनिटी संगठन के नाम पर हम उसका साथ देंगी, स्कूल में इतना संगठन तो होना ही चाहिये, संगठन पर उमा का भी विश्वास था। निरन्तर पिछले दो तीन वर्षों से वह छात्राओं में इसी संगठन के उपदेश और महत्व सुनती आ रही थी। सुनीति की नीति पर उसका तनिक भी विश्वास न था, यहाँ तक कि जब मिसिज चेट्टी ने आकर स्वयं छात्राओं से बात की तो उमा मन ही मन उनकी युक्तियों की प्रशंसा कर रही थी। वह कह रही थी "सुनीति ने क्या किया, उसके गुण दोष निकालने की मेरी इस समय इच्छा नहीं है, किन्तु जो सत्य के नाम पर तुम लोग ढिठाई सीख रही हो उसका नाम सत्य कदापि नहीं है। सत्य है मनुष्य के अपने अनुभव-जनित अन्तर की आवाज। इस प्रकार में दूसरे की जूठन का अधिक महत्व नहीं होता,

वरन होता है अपने विश्वास की दृढ़ता का चित्र। केवल कुछेक शब्द सुनकर उन्हें दोहरा देने का नाम सत्य नहीं है, चाहे वे शब्द जो भी हों। सत्य का स्वरूप है अहिंसा, वास्तव में महात्मा गाँधी ने सत्य का वास्तविक अर्थ समझा है, किसी के शब्दों को रट लेने से नहीं, वरन सारे धर्म-शास्त्रों के मथन के बाद उन्हें अपने हृदय में अनुभव करके। उनके लिये सत्य और अहिंसा दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। जो वस्तु दूसरे के मन में अकारण ही दुख की उत्पत्ति करे, जिससे अकारण ही अपने या अपने विचारों के स्वार्थ के लिये दूसरे के मन में दुःख, हिंसा की उत्पत्ति हो, वह और भले ही कुछ हो सत्य तो कदापि भी हो सकता ही नहीं। 'सत्यम् ब्रयात प्रियं ब्रूयात, वास्तव में किसी के हृदय को अकारण दुखाने से बढ़कर और कोई पाप है ही नहीं। अकारण अपने बच्चों को मैं उस पाप का भागी नहीं बनाना चाहती और फिर सत्य प्रीमेच्योर (अविकसित) विचारों को बक देने का ही नाम नहीं है, उनकी गम्भीर विवेचना होती है मौन में, मन में, चुपचाप में, न कि शब्दों के जाल में।" अहिंसा मानसिक, वाचिक और कायिक सब प्रकार की अहिंसा ही सत्य की बुनियाद है, यह गांधी जी का सिद्धान्त कुछ फूंक से उड़ा देने की वस्तु नहीं है। और उसकी प्राप्ति होती है मौन में, कुछ शब्द-कटाक्षों में नहीं। वास्तव में उसका मार्ग ही है श्रवण, मनन और निध्यासन। तुमने तो अभी श्रवण ही किया है। किसी ने कह दिया है कि यह सत्य है, भला, उस पर बिना मनन और निध्यासन किये, तुम किस प्रकार उसे सत्य कह कर उस पर गर्व कर सकती हो!"……मैं इस प्रकार की झूठी शिक्षा को, मिथ्या ट्रेनिङ्ग को किसी

प्रकार भी प्रश्रय नहीं दे सकूँगी।" उमा ने उनका एक एक शब्द ध्यान से सुना था। बहुत सी छात्राओं की समझ में भी आ गया था। किन्तु विद्यार्थी जीवन के दो प्रधान तत्व होते हैं। एक तो नवीनता, परिवर्तन की चाह, भले ही वह परिवर्तन क्षणिक ही हो और दूसरे जोश, चाहे जिस सम्बन्ध में वह उठ खड़ा हो। इसी यूनिटी, एकता और संगठन के नाम पर अपने विचारों के विरुद्ध भी छात्राओं ने सुनीति का साथ दिया। एक श्रेणी उन छात्राओं की भी थी जिनमें जनमत के विरुद्ध अपने विचार को इच्छा करते हुए भी प्रकट करने की शक्ति ही नहीं होती। मन ही मन वह उन विचारों पर बिगड़ेंगे भी, गालियाँ भी देंगे, झल्लायेंगे भी, किन्तु प्रकट रूप से कह कुछ भी नहीं पायेंगे। अपने एकान्त कमरे में शायद अपने तकिये पर सिर रख कर विरोध भी कर लें, किन्तु सुनीति जैसी व्यक्तित्व वाली सहकारिणियों के सम्मुख एक शब्द भी नहीं कह पायेंगे। इसी श्रेणी की एक सीधी सादी लड़की उमा भी थी। इच्छा होते हुए भी वह न तो सुनीति को समझा ही सकी और न उससे प्रकट रूप से विद्रोह ही कर सकी। स्ट्राइक हो गई। दूसरे दिन छात्राओं ने फिर प्रार्थना के पश्चात विचार करना निश्चित किया। किन्तु उमा के मन में भीषण मानसिक संघर्ष छिड़ा हुआ था। कल प्रातःकाल के पूर्व ही उसे कम-अज-कम अपने विषय में पूर्ण, निश्चित निर्णय कर लेना था, ताकि घटना पर विचार के समय पर भी उसमें भाग ले सके। किन्तु स्वयं मस्तिष्क पर भार डाल डाल कर थक गई, कुछ परिणाम नहीं निकला। किससे सहायता लेती, अतः सोच-विचार कर चाची के पास दौड़ आई। उसकी इच्छा थी कि वह ऐसी आवश्यक युक्तियाँ

प्राप्त कर ले जो किसी प्रकार भी कोई कह न सके। ५.
अतिरिक्त और इतनी विद्वान कौन थी । चाचा जी तो.........
चाचा का विचार करते ही उमा हँस पड़ती थी। उन्हें तो कुछ भी नहीं आता। वह तो यूँ ही हैं, अभी साल पहले तक तो स्वयं माँ स्नान से पूर्व इनके सिर में तेल मल दिया करती थी। रात को ऐनक भी अकसर माँ ही उतार कर रखती थी। उमा देवेन्द्र कुमार को अपने से भी छोटा भोला भाला बच्चा मात्र ही समझती थी, किन्तु चाची के प्रति उसका गम्भीर आदर रहता था। अतः सोच-विचार कर इस गम्भीर समस्या की मीमांसा करने चाची के पास ही जा पहुँची।

शक्ति मन ही मन काँप उठी। कितनी भयानक शिक्षा है यह, जिसे हम कहते हैं "राजनैतिक ज्ञान" "पोलिटिकल कौन्शसनैस" जिस के लिये हम स्कूल कालिज के नन्हें नन्हें मस्तिष्क वाले छात्र-छात्राओं को बिना उनकी बुद्धि की उचित रूप से वृद्धि किये हुए ही उपयुक्त पात्र समझ बैठते हैं। शब्द कुछ भी हों किन्तु उनका बिना उचित अर्थ समझे हुए कोई भी अर्थ का अनर्थ कर बैठता है। शब्दों को समझने से कहीं अधिक आवश्यक है उनके भावों को समझना, अर्थों को समझना, जो कि अधिकार हुए बिना हो सकता ही नहीं। पूरी कचौड़ी खा लेना तो टाई-फ़ाइड से हाल के छुटकारा पाये रोगी के लिये भी कठिन नहीं है और अत्यन्त कोमल अमाशय वाले बच्चे के लिये भी नहीं, किन्तु उसका पचा सकना उतना आसान नहीं है। उसे पचा डालने के लिये अमाशय का उस योग्य होना भी आवश्यक ही नहीं वरन् अत्यन्त आवश्य है। वैसा हुए बिना नहीं

पुष्टि कारक अन्न केवल मात्र विष ही रह जायेगा। हम धरती को तैय्यार करने के प्रश्न पर ध्यान ही नहीं देते, वरन् निशिदिन केवल मात्र बीज ही डाल डाल कर धरती में पानी भरे जा रहे हैं, फल खायेंगे तो कहाँ से। देश में विचारों की कमी नहीं है, विचारवानों की भी नहीं। हमारे देश के बच्चों को विचार दे भी दिये जाते हैं, किन्तु उन्हें उन विचारों को ग्रहण करने योग्य और ग्रहण करने के पश्चात उन पर मनन करने, उन्हें हजम कर सकने योग्य मस्तिष्क बना सकने की शिक्षा की ओर किसी का ध्यान जाता ही नहीं, यही कारण है कि हमारे समस्त उपदेश अनेक अर्थ अनर्थ उत्पन्न कर डालते हैं। "राजनैतिक विचार-धारा" "राजनैतिक ज्ञान" "राजनैतिक बुद्धि" आदि बड़े ही सुन्दर शब्द हैं, इनकी शिक्षा देना भी प्रत्येक भावी नागरिक को आवश्यक रूप से चाहिये, किन्तु उसके लिये न तो उपयुक्त शिक्षक ही मिलते हैं और न उचित भूमि ही तैयार की जाती है। इस प्रकार राजनैतिक ज्ञान-धारा बहाते हैं अधकचरी बुद्धि के कुछेक कालिज में स्वयं शिक्षा ग्रहण करते हुए नवयुवक छात्र और नवयुवती छात्राएँ। उनकी देश-भक्ति--उनका साहस प्रशंसनीय है, किन्तु उनकी अपरिपक्व बुद्धि से उपजी हुई पोलिटिकल कोनसेन्स जितना अन्य छात्र छात्राओं का उपकार करती है उससे कहीं अधिक हानि अनजान में ही देश की कर बैठती है। अपराध करते हैं यद्यपि अनजाने ही वे लोग और उसका दण्ड भोगती है मातृ भूमि, चुपचाप, मौन, मूक भाव से युग-युगान्तर तक। और वह शिक्षा भी दी जाती है बिना उपयुक्त पात्र तथा उसकी पात्रता जाँचे हुए ही। किन्तु ऐसे शिक्षक भला आयें भी कहाँ से। भारत भूमि पर उसके उचित

शिक्षक थे जगद् गुरु शंकराचार्य्य। उसके शिक्षक थे योगी राज श्री कृष्ण—महान् कर्म योगी और आध्यात्मिक राजनैतिक नेता, उसके शिक्षक थे मर्यादा पुरुषोत्तम राम······अनेकानेक थे उसके नेता, किन्तु अब वह सब हैं कहाँ······आज तो इतने बड़े भारत वर्ष में राजनैतिक शिक्षा देने वाला एक ही उचित शिक्षक है भारत भूमि के उपयुक्त और वह है एक—केवल एक—महात्मा गांधी। वह है महात्मा, राजनीतिज्ञ, प्रतापी और प्रभाव शाली। कर्म के बड़े भारी कर्ता, किन्तु फल की परवाह न उन्हें कभी हुई है और न होगी। गीता-संसार की सब से श्रेष्ठ धार्मिक, नैतिक, आध्यात्मिक और राजनैतिक पुस्तक को समझने वाले महात्मा गांधी—उनका व्यक्तित्व विचित्र सम्मिश्रण है, भिन्नताओं का—फिर भी वह एक ही है। वह विश्वभर के मित्र हैं, किन्तु फिर भी भारत को विदेशी के हाथों में देख कर रो उठते हैं। विदेशी से उन्हें चिढ़ है, किन्तु फिर भी स्वयं चश्मे का उपयोग करते हैं। सत्य के हामी हैं, सत्य के व्यावहारिक वकील हैं, किन्तु उनका सत्य क्या है सो प्रायः सब लोग समझ पाते ही नहीं। गृहस्थ में रहे हैं, सन्तानोत्पत्ति भी की है, अनेकों बच्चों के पिता भी हैं, किन्तु फिर भी ब्रह्मचारी हैं। स्वयं उनके शब्दों में "मेरा जीवन क्या है—यह तो सत्य की एक प्रयगोशाला है। मेरे सारे जीवन में केवल एक ही प्रयत्न रहा है—वह है मोक्ष की प्राप्ति, ईश्वर का साक्षात् दर्शन।" किन्तु उनकी वह मुक्ति की साधना, वह ईश्वर का साक्षात्कार क्या है, सो वह स्वयं ही जानते हैं। ऐसा विचित्र, इतना विशाल व्यक्तित्व, जिसमें सब ही विरोधी भाव स्थान पा लेते हैं, लेकर वे हमारे सम्मुख आये हैं, यह राजनैतिक शिक्षक,

किन्तु उनकी शिक्षा हम में से कितने लोगों तक पहुँच पाती है और पहुँचने पर भी हम में से कितने उसे समझ पाते हैं। हमारा दुर्भाग्य''''''हमारे छात्र-छात्राओं का दुर्भाग्य-देश का दुर्भाग्य। शक्ति की विचार-धारा बही जा रही थी और शान्त रूप से उमा चाची के तेजपूर्ण मुख की ओर देख रही थी। उसकी माँ अत्यन्त सुन्दर थी उसका मुख-मण्डल अत्यन्त ही आकर्षक था, किन्तु न जाने कौन-सा आकर्षण है इस सदा ही वेदना पाने वाली, सदा की दुखिनी काली लड़की के मुख में जिसे उमा एक टक चुपचाप देख रही थी, बिना कुछ बोले चाले, बिना कुछ भी कहे हुए। एकाएक शक्ति जाग उठी। न जाने भावों में कहाँ से कहाँ बह गई थी। फिर भी उसने विचार-धारा को फिरा लिया। उमा अब भी उसकी ही ओर देख रही थी। शक्ति कहने लगी—"सुनो मुन्नी, रूस के मजदूर नेताओं की तुलना महात्मा की फौज के सिपाहियों के साथ की ही नहीं जा सकती। हो सकता है दोनों के ही उद्देश्य महान हों किन्तु हिंसा और अहिंसा दो भिन्न मार्गों के पथिकों की तुलना की ही नहीं जा सकती। दोनों मार्ग पृथक हैं, उनके लक्ष्य पृथक हैं। शक्ति न होने पर सिर झुकाना—रोगी दुर्बल शक्तिहीन का अपने नश्वर शरीर की रक्षा के लिये सिर झुकाना कायरता है। शरीर में जो भी कुछ बल है उसका उपयोग करना, आततायी के साथ जूझना, उससे अपनी रक्षा करने का यत्न करना, या यत्न में अपने प्राणों की बाजी लगा देना, बड़े से बड़े घाव अपने शरीर पर सह जाना, जेल की यातनाएँ, मार-पीट समस्त कठोरताएँ स्वयं ही उनका विरोध करते हुए हाथ-पैर मारते हुए, आततायी पर आक्रमण करते हुए, अत्याचार का बदला लेने की

भावना से सह लेना। स्वयं भी अत्याचार का बदला ले पाने पर छाती पर गोली सहते हुए मर जाना और मरते समय कह सकना कि मुझे सन्तोष है कि अत्याचारी का अत्याचार करने वाला हाथ आज निर्जीव है, भी वीरता है; किन्तु शरीर में शक्ति रहते हुए भी, मन में साहस होते हुए भी, प्राणों में जीवन होते हुए भी, निरपराध, निर्दोष लातें खाकर, जूते खाकर, लाठी खाकर और गोली खाकर भी आँखों में केवल दो बूँद आँसू ही भर पाना और वह भी केवल इसलिये कि हाय मेरा यह भाई मेरे समस्त मानव-हृदय-जनित कोमल प्रेमल भावों का अधिकारी, आज मानव के कोमल भावों के विरुद्ध हिंसक भावों से भरा मेरे सम्मुख खड़ा है, इस के हृदय में शान्ति नहीं है, यह क्रोध से जल रहा है; अपने कष्ट को भूल कर केवल मात्र दूसरे के मानसिक क्लेश के लिये ही दुःख करना; मैं ही ब्रह्म हूँ संसार भर के किसी भी प्राणी से रत्ती भर भी मैं भिन्न नहीं हूँ, सब प्राणी मेरी ही तो आत्मा है, सब में मैं उस सच्चिदानन्द नारायण के ही तो दर्शन पाता हूँ, आततायी बन कर मेरा आराध्य देव, मेरा नारायण ही तो मेरे सम्मुख कष्ट, मानसिक क्रोध, ईर्षा, द्वेष-जनित कष्ट पा रहा है; इसी सिद्धान्त को जीवन में ग्रहण करके मुक्त भाव से पापी, कठोर, आततायी और अत्याचारी को न केवल क्षमा, वरन् प्रेम कर पाना महान है, देवत्व है। एक का महत्व न समझ कर दूसरे को प्रशंसा तो बहुत से लोग दे सकते हैं, किन्तु क्या इसी कारण से कि वह उन्हें समझ नहीं पाये हैं, उनका कथन सत्य हो उठेगा। क्षमा, जिसे हम अपनी दैनिक भाषा में अनजाने, बिना अपने हृदय में अनुभव किये हुए ही, सत्य कह उठते हैं, वह सत्य नहीं भी हो सकता है। उस पर

फिर विचार करने की सलाह, तुम्हें प्रवंचना सिखाने की शिक्षा नहीं है, फिर भला यह हिपोक्रैसी कैसे होगी ? स्वयं को धोखा न दो, पर सत्य को समझे बिना किसी वस्तु को सत्य मान बैठना भी तो एक प्रकार का मिथ्या ही है। फिर यदि उस मिथ्या से किसी का दिल दुखता हो तो वह और भी भयंकर हो उठता है। हिंसा का रूप चाहे जितना भी 'शुगर कोटेड' क्यों न हो, है वह पाप ही। रही उन देवी जी के गरम होने की बात, तो यदि वह गरम हो उठी तो वह भी महात्मा गांधी की शिक्षा समझ पाई ही नहीं, ऐसी हालत में तो वह सचमुच न केवल क्षमा की पात्र हैं, वरन दया और सहानुभूति की भी। अब प्रश्न है केवल सुनीति के क्षमा माँगने का। सो क्षमा माँगने से किसी का भी महत्व बढ़ता है, घटता नहीं। वह छोटी थी, समाज के नियमों के अनुसार उसे बड़ों का आदर करना ही चाहिये, फिर क्षमा माँगने में स्वयं भी उतना ही महत्व है जितना कि क्षमा देने में। देवी जी को, यदि वह उसके भावों के विरुद्ध भी भाव रखती थी, उनकी कठोरता के लिये, मन से क्षमा करना तथा अपने ही कठोर शब्दों के लिये क्षमा माँगना दोनों ही सुनीति के लिये गौरव का कारण हैं। सचमुच ही तुम्हारी मुख्याध्यापिका मिसिज चेट्टी ही ठीक पथ पर हैं, उमा रानी।"

बहुत लाड़ में कभी कभी शक्ति उमा को सुधा या उमा रानी ही कहा करती थी। बहुत कुछ समझ कर भी अन्तिम वाक्य उमा को कुछ भला नहीं लगा। छोटी आयु में विद्रोह की एक अज्ञात भावना बालकों के मन में उठती ही है। बड़ों का एकाधिपत्य उन्हें बार बार यह सोचने को विवश करता है कि हम क्यों इनका कहना

मानें। बड़ों की आज्ञा का पालन करना ही क्यों पुण्य है? उनका निरादर करना ही क्यों पाप है? हमें भगवान ने छोटा बनाया है क्या इसीलिये? हम से कुछ वर्ष पूर्व पृथ्वी पर आने से ही क्या ये हम से अधिक अधिकारों के स्वतः सिद्ध स्वामी बन गये? उमा भी इन्हीं भावों में डोल रही थी।

"सो तो ठीक है चाची, किन्तु उनके बड़े होने से ही हम उनसे क्यों न अपने भाव कह सकें, सो मेरी समझ में नहीं आया। यह ठीक है कि हमें महात्मा जी के त्याग का मूल्य किसी कारण भी कम नहीं कर देना चाहिये, किन्तु मैं बहस उस एक वाक्य के लिये नहीं कर रही, मैं तो आप से पूछती हूँ कि हम बड़ों का सदा आदर ही क्यों करें? यह बात सुनीति रोज ही अपनी सहपाठनियों से कह कर झगड़ती है, किन्तु कभी तो मिसिज चेट्टी ने, यदि जान पाई भी तो, क्षमा माँगने को कहा नहीं, तब उनके सामने ही क्यों नहीं कहना चाहिये था? और यदि कहा तो क्षमा माँगनी ही क्यों पड़ेगी?" विरोधी स्वर में उमा कह गई। इस बार शक्ति हँस पड़ी जोर से, खूब जोर से, बड़ी जोर से। अट्टहास का शब्द कमरे में गूंज उठा। अपनी कुर्सी पर बैठी ही बैठी शक्ति लोट गई।

"तो यह बात है, उमी।" शक्ति हसे जा रही थी। उमा ने रूठ कर मुँह फेर लिया। "अच्छा, जाओ हम तुम से अब कभी नहीं बोलेंगे चाची, तुम तो हमारा मजाक करती हो।"

"नहीं, नहीं भला मुआ का कोई मजाक भी करता है। वाह, हमारी उमा रानी तो बड़ी ही सयानी है।" शक्ति ने मनाने के से

स्वर में कहा। उमा को रूठने देने की इच्छा शक्ति की न थी, यद्यपि वह जानती थी कि उमा स्वयं भी अधिक देर तक उससे रूठी हुई नहीं रह सकती। उमा का भी मान पिघल गया। शक्ति फिर कहने लगी—"तू तो हुई न डरपोक लड़की झट से कह उठी, उ···माँ··· तब ही तो तेरा नाम रख दिया उमा। अरी रूठने डरने वाली, जब नील कण्ठ को देखोगी तब भी क्या मान किये मुँह छिपाये ही रहोगी, गौरी ?" जब तब शक्ति उमा को इसी प्रकार छेड़ा करती थी। कभी कभी उमा भी कह उठती थी तो क्या मैं ही एक श्रीपार्वती जी की नाम-राशि हूँ ? तुम और माँ भी तो श्रीपार्वती जी की ही नाम-राशि हो, फिर भला मुझे ही क्यों छेड़ा करती हो ? शक्ति के पास उलाहने का उत्तर तो कुछ भी न था, किन्तु छेड़ना उसी प्रकार जारी रहता था। इस बार भी कुछ चिढ़कर उमा ने कहा—"तुम से बोलता ही कौन है ?" और फिर पलंग पर मुँह छिपा कर लेट रही।

"अच्छा भई, हम से तो कोई बोल रहा ही नहीं, पर हम भी तो किसी से नहीं बोल रहे हैं। अरे भई सुनलो दीवारो, हम तो तुम से बोलते हैं। अच्छा आजा तकिये, तुझे गीत सुनाऊँ—यामाङ्के च विभाति भूधर सुता देवापगा मस्तके······" शक्ति गाने लगी बड़े ही मधुर स्वर में। मुस्कराती मुस्कराती उमा हँस पड़ी। शक्ति ने झट पट उमा को उठा कर उसका मुख चूम लिया। बालिका उमा खिलखिलाकर हँस पड़ी। थोड़ी देर पूर्व ही बड़े-बूढ़ों की तरह स्कूल की गम्भीर राजनैतिक अवस्था पर विवेचना करने वाली छात्रा चाची की गोद में इस समय एक नन्हीं सी मुन्नी सी बनी पड़ी हुई थी। एक क्षण के लिये शक्ति बिना सोचे न रह सकी कि अवस्था

से पूर्व ही गम्भीर विवेचना में उलझने वाली छात्रा से यही गोद में पड़ी हुई खिलखिलाकर हँसने वाली मुन्नी कहीं अधिक सुन्दर है, कहीं अधिक प्यारी है। हँस चुकने के बाद उमा ने पूछा—"हैं तो चाची तुम तो हँसती हो, सची बात बताओ हम क्यों आखिर बड़ों का आदर करें।"

"इसीलिये कि वह बड़े हैं।"

"वाह, वाह यह भी कोई तर्क है ? डाक्टर साहब मैं पूरी क्यों न खाऊँ ? इसीलिये कि यह पूरी है। दूध क्यों पियूँ ? इसीलिये कि वह दूध है। यह भी कोई तर्क हुआ ?"

"तो तू मेरे साथ तर्क करेगी ? न बाबा, इतनी तर्क-बुद्धि कहाँ से लाऊँगी ?" कह कर शक्ति ने बड़ा ही विचारपूर्ण मुख बना लिया, मानो उस पर कोई बड़ा ही कठिन समय आ पड़ा हो।

"चाची, तुम तो मज़ाक करती हो। मैं फिर रूठ जाऊँगी।"

"न लल्ली, ऐसा कभी भूल कर भी न करना।" हँसी को दबाने के कारण शक्ति का स्वर फूला जा रहा था। शक्ति के मुख पर के भाव को देख कर उमा फिर हँस पड़ी।

"मुन्नी, बड़ों ने संसार में बहुत दिन रह कर संसार का बहुत सा......" शक्ति का स्वर काटता हुआ कुमार का स्वर आ पड़ा—"किसी ने संसार में बहुत दिन रह कर संसार का क्या बहुत सा काम कर डाला, मुन्ने ?"

साथ ही हँसते हुए प्रोफेसर कुमार ने कमरे में प्रवेश किया।

मुन्नी भागने लगी थी चाचा को देख कर। उसे डर था कि चाची उसके सामने ही चाचा से कहीं उसके स्कूल की सारी बातें न कह डालें। चाची के सम्मुख छोटी बनकर कुछ पूछ पाने में उसे लज्जा न थी, पर भला लापरवाह अस्त-व्यस्त स्वयं अपने होश न रखने वाले चाचा के सम्मुख उसकी सखि सुनीति की नीति की चर्चा उस की उपस्थिति में करे यह उसे कब सह्य था। पर शक्ति ने बरबस पकड़ जो रखा था। अब भला छुटकारा था ही कहाँ ? आते समय कुमार भाभी को ऊपर ही नाश्ता भेज देने के लिये कहता आया था। नाश्ता आ गया। उमा की कुछ भी खाने पीने की इच्छा न थी, पर कुमार के साथ खाने के निमन्त्रण की वह कभी भी उपेक्षा नहीं कर पाती थी। कुमार के साथ खाते हुए जब तक उसे झिड़क कर उमा को अपना बड़प्पन और गौरव दिखाने का अवसर जो मिल जाता था। जन्म के दो वर्ष बाद से और आज तक उमा सदा ही कुमार की गोद में बैठ कर अपने हाथ से उसके मुँह में नाश्ता देती आई है और उसके हाथ से अपने मुँह में आया हुआ खाद्यपदार्थ भी उसके लिये बड़े ही लोभ की वस्तु है, किन्तु बीच बीच में कहीं चाय बनाने में त्रुटि होने पर या काफी की बूँदें उसकी फराक या साड़ी पर छलक कर गिर पड़ने पर, या कुमार के कोट या कुर्ते पर आम का छिलका गिर जाने से दाग पड़ने पर या ऐसी ही और छोटी मोटी त्रुटियों पर उमा उन्हें झिड़कियाँ भी खूब देती है। कुमार को डाँट देने का अधिकार उमा किसी मूल्य पर भी छोड़ना नहीं चाहती। कुमार को भी उमा की यह झिड़कियाँ बड़ी ही प्यारी लगती हैं, वह उसके इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि जानबूझ कर खाते समय कुछ न कुछ

गिरा कर उमा की झिड़कियाँ खाये बिना उन्हें खाने का स्वाद ही नहीं आता। बचपन में उमा जब रात को सो जाती थी तो अक्सर देवेन्द्र उसे जगा कर, उसे रुला कर, जब तक दो चार बातें भाभी से या उमा के रुदन के साथ के चार वाक्य सुन नहीं लेता था, खाना नहीं खाता था। बड़ी होने पर भी कभी कभी छेड़ भी दिया करता था—"बिट्टी सुसराल से भी क्या मुझे यूँ ही शिक्षा देने आया करोगी? सास चुटिया पकड़ कर कोठरी में बन्द कर देगी, पता है? छोटी नन्हीं सी उमा हाथ की मुट्ठी बाँध कर कुमार को दिखाती हुई मानो संकेत करती कि उसे सब पता है और वह उसका उपाय भी जानती है। उसके कुछ दिन बाद तक यूँ ही कुछ अंट संट उत्तर दे देती, किन्तु अब तो केवल भाग जाती है। यूँ तो नन्हें की भी कुमार के साथ बहुत बनती थी। चाची के पास भी माँ की डाँट से त्राण पाने या कभी कभी कोई खेल का हल पूछने या पाठशाला का काम करने या गाना और कहानियाँ सुनने आ जाया करता था, किन्तु उमा तो कुमार और शक्ति की प्राण ही थी। उसके बिना तो इन्हें चैन ही नहीं पड़ता था। गौरी भी यद्यपि शक्ति पर विशेष प्रसन्न न थी, आने जाने वाली स्त्रियों से शक्ति का न मिलना और दिन भर अपने कमरे में ही बन्द रहना भी यद्यपि गौरी को नहीं भाता था, किन्तु उमा के लिये शक्ति का साथ उसे किसी दिन भी बुरा नहीं लगा था। शक्ति की संगति से उमा के व्यवहार में जो एक रस सा आ गया था, सो भी गौरी से छिपा हुआ नहीं था। शक्ति का व्यक्तित्व किसी दिन भी कोई मधुर नहीं कह पाया था। विश्व भर में यदि किसी ने उसके हृदय का कोमल अंग पहचाना था तो वह एक-

मात्र कुमार ने और उसी अंग की उस कोमलता को जो कि संसार की निर्दयता से अकाल में ही कठोर हो कर झड़ पड़ी थी, यदि किसी ने फिर से जीवित किया था तो उमा ने, बालिका नन्हीं उमा ने। घर के कठिन करुण वातावरण में शक्ति ने ग्रहण की थी कठोरता, परेशानी, झुँझलाहट और वेदना। माँ के दयनीय सहवास ने उसे दिया था रुदन, कारुण्य, बेबसी और घृणा। निराश, रोगी, दीन, हीन भाइयों के सहवास से उसे मिली थी विपत्ति पर हँसने की शक्ति, शब्दों की नीरसता और दृष्टि की भयंकर शून्यता। बुढ़िया, किन्तु मानवोचित हृदय वाली, मजदूरिन के सहवास से उसने पाया था ईश्वर पर अद्भुत विश्वास, प्रत्येक कार्य में भगवान का अदृश्य हाथ देख पाने की शक्ति और उपासना द्वारा हृदय में बल लाने की युक्ति। कुमार के सहवास से उसने पाया था मन का आनन्द, दृष्टि में सरसता और भावों में दृढ़ता। इन सब से भिन्न गौरी के सम्बन्ध ने उसे दी थी अद्भुत सहनशीलता, विचित्र क्षमा-शक्ति, किन्तु इन सब से ऊपर इन सब से भिन्न, इन सब से परे उमा के सहवास ने उसके जीवन में एक विचित्रता, कोमलता भर दी थी। सब कुछ पा कर भी शक्ति अधूरी थी। रमणी वह भले ही बन चुकी हो। पर नारी—सम्पूर्ण नारी—नहीं बन पाई थी। उमा के सहवास ने, उमा के शान्त कोमल स्वर में चाची सम्बोधन ने, उमा के गले में हाथ डाल कर सहसा लिपट जाने ने शक्ति को नारी से माँ बना डाला था। उमा को सम्मुख पा कर शक्ति अपनी समस्त भूत वेदना को भूलकर नारी, नहीं नहीं, केवल मात्र माँ, रह जाती थी। उमा ने दिया था सहज मातृत्व पूर्ण प्यार। उमा को देख कर शक्ति कह उठती थी स्वयं अपने आप से "मैं मा

हूँ, ऐसे ही सुन्दर, चंचल, कोमल बच्ची की जननी। यह मेरी है केवल मेरी।" और कठोरता की प्रतिमा के स्थान पर उसके हृदय में कोमलता का संचार हो उठता था। शून्य दृष्टि के स्थान पर दृष्टि में ममत्व भर उठता था। शक्ति का समस्त व्यक्तित्व ही बदल चला था। शक्ति को अपने जीवन में अद्भुत मधुरता का सा प्रवेश होता जान पड़ता था। कुमार भी शक्ति के व्यक्तित्व का यह नया परिवर्तन देख कर प्रसन्न ही था, बहुत प्रसन्न। कालिज से दिन भर के व्याख्यान देने के पश्चात, कालिज पालीटिक्स के भले और बुरे झगड़ों से निबट चुकने के पश्चात थके हुए घर पहुँचने पर जब वह इस किलकिलाती हुई नन्हीं मैना को अपनी रानी के साथ चुहल करता हुआ देखता तो सारी दिन भर की थकान, मानसिक चिन्ता सब कुछ क्षणों में ही उड़ जाती। वह फिर प्रफुल्लित हो उठता।

उमा और कुमार चुहल कर रहे थे नाश्ता भी करते जाते थे। शक्ति उन दोनों की बाल-क्रीड़ा प्रसन्न मन से देख रही थी। शक्ति का नारीत्व एक दिन अकाल में ही विपत्तियों में, परिस्थितियों के चक्कर में, पड़ कर कुचला अवश्य जा रहा था, किन्तु फिर भी अभी तक उसके कुछेक कीटाणु शेष थे। अनुकूल वायु पा कर वह फिर पनप उठे। शक्ति सोच रही थी पति के साथ उमा की उत्सुक बाल-आनन्द-क्रीड़ा देख कर, "ऐसा ही एक नन्हा पौधा मेरे शरीर में भी पल रहा है। कितना सुन्दर होगा उसका स्वरूप, कितना उज्ज्वल होगा उसका शरीर, कितना कोमल होगा [उसका मन, कितना जीवित होगा उसका मस्तिष्क।" नारी सम्पूर्ण रूप से जाग्रत हो चुकी थी शक्ति आस पास के सम्पूर्ण

वातावरण को भूल कर केवल मात्र सोचने लगी अपनी भावी सन्तान के विषय में। उत्सुक हो उठी आज ही वह कोमल मुख चूमने को, उस नवश्याम उज्ज्वल शरीर को अपने शरीर के साथ सटा कर उसके मुख को अपने मुख के साथ लगा कर चुम्बन लेने को। पर नहीं, नहीं क्या यही उसकी कल्पना थी''''''वह इससे कहीं आगे बढ़ चुकी थी साधारण नारी की तरह सन्तान केवल उसके नेत्रों का आनन्द ही नहीं था उसने मन ही मन न जाने किसे अज्ञात वन्दना करके कहा—"सुनो, नारायण, मुझे सन्तान चाहिये। पत्नी हो कर माता होना ही रमणीत्व की पूर्णता की चरम सीमा है। मैं पत्नी हो कर ही रहना नहीं चाहती, माता भी होना चाहती हूँ, किन्तु प्रभु सूरदास के जीवन का सुन्दर स्वप्न 'मैया मोरी कबहूँ बढ़ेगी चोटी' 'आँगना में खेलो मेरे लाल' 'जेंवत श्याम नन्द की कनियाँ' आदि स्वप्नों के नायक तुम्हीं मेरी गोद में खेल सको तब ही मुझे माता बनाना। माता तो मैं बनूँगी ही, क्योंकि मुझे माता बनना ही पड़ेगा, किन्तु मैं माता बनना चाहती हूँ उस सन्तान की जिसके जीवन पर मुझे कहना पड़े कि प्रभु तुम्हीं ने मेरी गोद में आ कर मुझे धन्य कर दिया, जो महानात्मा हो, उदाराशय हो, वीर हो, धीर हो और साहसी हो।" स्वप्नों में शक्ति डूब सी गई। कब चाय की एक एक प्याली समाप्त हो गई और कब कुमार ने स्वयं ही उमा की हँसी का सामना करते हुए दूसरी प्याली भी बना डाली, सो उसे जान पड़ा ही नहीं। किन्तु चौंक कर जब उसने देखा तो उमा हँस रही थी।

"चाची दिन में स्वप्न देखती है, वाह चाची।"

शक्ति हँस पड़ी।

"हाँ बिटिया तेरी चाची दिन में ही स्वप्न देखती हैं और वह भी खुली आँखों से।"

तीनों प्राणी जोर से हँस पड़े। परिवार में यूँ ही आनन्दमय दिन व्यतीत होते जा रहे थे।

विद्रोहिनी

"कहती तो हूँ बहिन, उन से कहूँगी, पर वह सुनेंगे या नहीं, कह नहीं सकती।" गौरी भाभी का स्वर था।

"तुम्हारी न सुनेंगे तो विश्व भर में और किस की सुनेंगे, बहू ? तुम्हारे आगे भी लड़के-बाले हैं। भगवान तुम पर दया करेंगे, न होगा हज़ार पाँचसौ से मैं भी ऐसी गई-गुज़री तो हूँ नहीं, पर दुखिया के मन की आग तो ठंडी हो जायेगी।" दूसरा स्वर रो पड़ा वाक्य समाप्त होते न होते।

"आग तो भाभी जी क्या ठंडी होनी है। हाँ अन्याय होना चाहिये नहीं। और सुनने की बात तो यह है कि जब तुम खुद उन्हें कह चुकी हो तो तुम्हें नाहीं करके मेरी क्या सुनेंगे ? वैसे भी वह अपने मामले-मुक़द्मे के विषय में कभी मेरी सुनते नहीं। मैं ने कभी कहा भी नहीं। फिर भी अपनी तरफ़ से तो कुछ उठा रखूँगी नहीं। चुप करो, चुप करो, भाभी जी, लल्ला रोने बिलखने से तो आने से रहा। अब भगवान ने विपत्ति डाली है तो सहनी ही पड़ेगी।" पर रुदन का स्वर वैसा ही तीव्र था। ज़ीने में से उतरती हुई शक्ति ने यह बात

चीख सुनी और काँप उठी। धीरे धीरे स्वयं भी नीचे उतर आई स्तब्ध भाव से और आकर बैठ गई जिठानी के पास ही। गौरी के पास एक और अधेड़ अवस्था की सी स्त्री बैठी थी। वेश-भूषा से विधवा जान पड़ती थी। स्वच्छ सफ़ेद साड़ी पर ओढ़ी हुई सफ़ेद चद्दर एक ओर रखी थी। चद्दर कुछ मैली सी थी। हाथों में एक छल्ला तक भी न होना उसके विधवा होने का सूचक था, किन्तु बाहों में मोटे मोटे अनन्त उसके धनी घर की विधवा होने की घोषणा कर रहे थे। स्त्री अधेड़ होने पर भी बड़ी ही सुन्दर थी। यौवन अभी तक मचल मचल कर उसके गले पड़ा हुआ था, पर मुख-श्री अत्यन्त उदास थी। न जाने क्यों शक्ति को जान पड़ा कि उसकी स्वर्गीय माँ की यह वही प्रतिमा है जब कि वह घर, गाँव का घर छोड़ कर यहाँ आई थी। आँखों के आँसुओं ने शक्ति की दृष्टि रोक ली। धुँधली आँखों से उसने पहले जिठानी के और फिर नवागन्तुका के चरण छू लिये और फिर वहीं पर गलीचे के एक किनारे बैठ गई। नवागन्तुक के आँसू थम गये थे, पर उसने उदास मुख से ही कहा—"बहू, तुम्हारी देवरानी है ?"

"हाँ" भाभी जी ने विमन से ही कहा। किसी से भी शक्ति का परिचय अपनी देवरानी के रूप में देते हुए वह कुण्ठित हो उठती थी, पर और उपाय भी क्या था। कुछ देर तक विधवा रोती और बात चीत करती रही। अन्त में कहने लगी—"अच्छा, चलती हूँ बहू। सुरेन्द्र के सामने तो भाभी जी भी रो पड़ी थीं, पर वह यही कहते रहे कि भाभी तुम्हारा बेटा तो गया ही है अब दूसरे के प्राण क्यों लेने पर तुली हुई हो, वह भी तो आखिर तुम्हारा ही देवर है, न हुआ धन

उसी के पास रहेगा। अब तुम्हीं कहो बहू" कह कर अधूरी बात भी स्त्री पूरी न कर सकी रोने लगी। रूदन का वेग कुछ कम होने पर उसने फिर कहा—"धन तो यूँ भी उनके ही लड़के वालों को मिलेगा। हमारा दो माँ बेटी का क्या ? विधवा का ओढ़ना क्या और बिछौना क्या ? दो मुट्ठी अन्न मिल ही जायेगा पर ख़ून का बदला तो ख़ून ही है। हाय मेरा भैय्या" कह कर वह फिर रो उठी। उस हाहाकार के भीतर नारी का कितना बड़ा अभिमान, पर कितनी दीन लाचारी छिपी हुई थी, सो शक्ति ही पढ़ पाई। गौरी भी रो पड़ी थी। शक्ति की आँखें भी सूखी न रह सकीं। न जाने कैसे उनकी दृष्टि आँगन में खुले बाल खड़ी हुई उमा पर पड़ गई। किसी दिन यह नारी भी कुसुम-कली सी बालिका होगी। एक दिन उमा जैसा ही अलभ्य रूप लेकर इसने अपने मुक्त हास्य से किसी घर को गुंजारित किया होगा और आज......शक्ति की कल्पना-शक्ति ने जवाब दे दिया। वह वहाँ ठहर भी न सकी। गौरी के पास किसी काम से आई थी, उलटे पाँव लौट गई।

कुमार उस समय भी नैटशे की गम्भीर विवेचना में लीन था। शक्ति का मन दुसह्य वेदना से भरा हुआ था। पति को पूर्ण स्वतन्त्रता देकर किसी समय भी अकारण उनकी शान्ति भंग न करने वाली स्त्रियों में से शक्ति थी। उसने यह गुण गौरी की शान्त निरन्तर एक सी रहने वाली प्रतिमा से ही सीखा था। किन्तु आज उसका समस्त मन प्राण विषाद से भरा हुआ था। पति को नैटशे की रचनाओं में लीन देख कर शक्ति दूसरे कमरे में चली गई। नारी का सब से बड़ा बल है सहन-शीलता और सब से बड़ी शान्ति है आँसू।

सचमुच ही जो व्यक्ति आँखों के पानी से कभी भी अपनी आत्मा को सींच नहीं सकता, वह किसी दिन भी हृदय का मल धो नहीं पायेगा। करुण नेत्रों से विषाद भरे हृदय को लिये वही अधेड़ नारी-मूर्ति आज शक्ति की आँखों के सम्मुख घूम रही थी। उसकी कथा यद्यपि शक्ति की माँ की करुण कहानी से भिन्न थी, फिर भी शक्ति मन-प्राण से मानो चिल्ला चिल्ला कर कह रही थी कि ओ अभागी नारी तुम्हारी व्यथा सब कहीं वही है, वैसी ही है, भले ही उसका बाह्य रूप बदल जाये, पर अन्तर में आकर कभी और कहीं भी उसमें अन्तर नहीं पड़ता। बात चीत के सिलसिले में उस दुखिनी ने जो अपनी कहानी आंशिक रूप में कही थी, वही एक बार मन ही मन सिलसिले वार शक्ति देखने लगी—अपनी उमा के समान ही एक दिन सुन्दर थी एक बालिका, अछूती कोमल कलिका। शुभ और पवित्र। धनी पिता की लाड़ली एक मात्र पुत्री········दीपज्योति सा उज्ज्वल एक पुरुष, एक युवा आया उससे विवाह करने········ कल्पना तीव्र थी शक्ति की। शक्ति ने कमरे के भीतर आराम-कुर्सी पर लेटे लेटे ही देखा सालू में लिपटा हुआ एक सुन्दर, दया, स्नेह, करुणा, ममता भरा हुआ एक देवी स्वरूपिणी बालिका का मुख। उछाह का अन्त न था, घर भर में शंख-ध्वनि, आनन्द-ध्वनि गूँज रही थी। बालिका अब बन गई थी देवी, एक गृह की आनन्दमयी लक्ष्मी, गृहिणी। कितनी कल्याणी, शुभदर्शिनी होगी वह प्रतिमा······ फिर अभी गौना भी नहीं हुआ था। लज्जा से सिमटी हुई बाला ने पति का मुख भी नहीं देखा था। गौना होना था वर्ष भर बाद······ और फिर एक दिन वही कल्याणमयी प्रतिमा अकल्याणी विधवा रूप

में बदल ही गई। उस अभागे नवयुवक ने आत्म-हत्या कर ली थी, परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाने पर···बेचारी अधखिली कली·····पिता सुधारवादी थे। नवयुग के विचारों से उन्हें सहानुभूति थी······उस बालिका का उन्होंने एक बार फिर विवाह रचना चाहा। माँ पौराणिक विचारों की थी, यह विचार सह नहीं सकती थीं, किन्तु फिर भी अपनी प्यारी अल्पवयस्का बालिका की मांग बिना सिन्दूर के धुली-पुँछी देख कर अपने वृद्ध माथे पर भी सिन्दूर न रख पाती थीं। बालिका की आयजीवन सूनी रहने वाली गोदी का ध्यान करके अपने हाल में ही वृद्धावस्था में जन्मे पुत्र को भी गोद में नहीं ले पाती थीं, अतः उन्हों ने भी सम्मति दे दी। नातेदार रिश्ते दार भी इस अक्षतयोनि बालिका के पुनर्विवाह से सहमत थे, किंतु वही प्रियदर्शिनी बालिका, सत्तरह वर्ष की अनुभवहीन छोकरी स्वयं सहमत न हो सकी। कल्पना-प्रधान थे उसके विचार। वह कह उठी—"और कुछ क्यों न हो माँ, वह मेरी प्रतीक्षा अवश्य करेंगे। उनकी स्मृति कह सकने योग्य यद्यपि मेरे पास कुछ भी नहीं है, अणुमात्र भी नहीं, रंचमात्र भी नहीं, फिर भी मौर मुकुट धारण किये हुए मेरा हाथ ग्रहण करते समय अग्नि को साक्षी करके उन्होंने जो मेरा स्पर्श किया था, वही उनकी स्मृति मुझे बाध्य करती है इस लोक और परलोक में उनकी प्रतीक्षा करने को। मैं विवाह नहीं करूँगी।" कितना तर्क-रहित कितना अपूर्ण था उत्तर। सम्बन्धियों ने समझाया। यौवन की विकलता का रूप भी दिखाया, पर बालिका अचल थी, अटल थी। पिता ने कहा—"बेटा मरने पर भी कहीं कोई सम्बन्ध रह जाता है। आत्मा का भला, किस किस आत्मा से जन्म-जन्मान्तर में सम्बन्ध

होता रहता है, फिर भला वह सारे सम्बन्ध क्या बने रहते हैं मरने के बाद भी। भूल में भ्रम में पड़कर अपना जीवन नष्ट न करो। स्वप्न जगत छोड़ कर वास्तविकता के जगत में आओ।" पर बालिका धीरे से बोली—"आत्मा का सम्बन्ध स्थिर न होता तो सती को क्या कभी प्राण देने के पश्चात दूसरे जन्म में भी शिव मिलते ?"

"यह सब झूठे तर्क हैं पौराणिक। स्त्रियों पर मनमाना अत्याचार कर सकने की रीतियाँ हैं।"

"हो सकता है, पर संयम का महत्व भोग-विलास से कहीं अधिक है, यह तो अमर सत्य है।"

"बेटा, यौवन के उद्दाम काल में स्त्री का कोई रक्षक भी तो चाहिये। हम भला कब तक बैठे रहेंगे।" बौद्धिक तर्क के असफल होने पर वृद्ध पिता ने व्यावहारिक कठिनाई सामने रखी। बालिका के शुष्क होठों पर हलकी सी मुस्कान आ गई।

"संसार में स्त्री अथवा पुरुष हर किसी का रक्षक ईश्वर होता है, मनुष्य नहीं, बाबू जी।" लड़की तर्कों की व्यावहारिक कठिनाइयों के बीच भी अटल थी। विवाह नहीं हो सका, नहीं हुआ। ससुराल की कठिनाइयाँ, कठोरता और करुण कथाएँ शक्ति अपनी काल्पनिक दृष्टि से देख गई। उस नारी की सहनशीलता भी उसने देखी और उसकी आत्मा का महत्व भी। पिता के घर से पाया हुआ बहुत सा धन था और कानून की शक्ति से पतिगृह के भी एक भाग धन की अधिकारिणी थी, यह जानते हुए भी स्वेच्छा से सब कुछ सास को ही सौंप कर वह नारी यह कह पाई कि माँ जी मुझे अब इन सब चीजों का क्या करना है। विधवा करके ही भगवान ने शायद नारी को

त्याग का पाठ सीखने का मौका दिया है, उसका हृदय कितना विशाल होगा, उसकी आत्मा कितनी निर्मल हो चुकी होगी, सो शक्ति समझ गई। ईर्षा, द्वेष, देवरानी-जिठानियों के झगड़ों के ठीक बीचों-बीच रह कर रात्रि से प्रातः पर्यन्त केवल तीन चार घंटे ही विश्राम करके, प्रातः से सायं तक केवल घर के कामों में ही जुटी रहने वाली रमणी-हिन्दू विधवा—जब अपने मन को सब व्याधियों से दूर रख सकी है तो अवश्य उसके जीवन में एक बहुत ही बड़ा आध्यात्मिक बल होगा। श्रद्धा से मन ही मन शक्ति ने उस हिन्दू विधवा के चरणों में सिर झुका दिया।......बीच का दृश्य शक्ति ने नहीं देखा, किन्तु फिर......फिर उसने देखा चाचा द्वारा अपने एक मात्र छोटे भाई की कारुणिक मृत्यु, उस ही के शब्दों में "युवक घर पर एक प्रोफेसर से पढ़ा करता था। न जाने कितने रुपये देकर चाचा ने जायदाद, धन के लोभ से मास्टर को दुष्कर्म करने पर राजी कर लिया। दोनों परिवार बहुत दिन से अलग ही रहते थे। माँ को ऐसी बातों की शंका भी थी, अतः भैया वहाँ आता जाता भी नहीं था। उस दिन कालिज में ही मास्टर बाबू ने जा कर भैया से कहा कि माँ ने उसे इसी समय बुलाया है, भैया का प्रोफेसर पर विश्वास था उसके साथ—ब्राह्मण कहलाने वाली अध्यापक जाति के प्रतिनिधि के साथ—वह चला गया। बालक चाचा को सौंप दिया गया। उसके बाद किस प्रकार उस दुखिनी माँ के पास उसके बालक का मृत शरीर सी० आई० डी० विभाग ने पहुँचाया सो कल्पना शक्ति सहज में ही न कर सकी। और फिर चला मुकदमा। सुरेन्द्र बालक के हत्यारे चाचा का पक्ष ले रहे थे। उन्हें एक मोटी रकम जो मिली थी। फिर वह इस प्रकार के किसी प्रकार के दूर के

सम्बन्धी भी तो लगते थे। इधर सुरेन्द्र जैसा चतुर बैरिस्टर और कोई भी न था। दुखिनी विधवा अपने पुत्र के हत्यारे को दण्ड दिलाना चाहती थी। उस ने सुरेन्द्र से न्याय का पक्ष लेने को कहा। पर बैरिस्टर—न्याय का प्रतिनिधि—देखता है मुवक्किल की जेब के रुपये तथा उसका समाज में प्रभाव। न्याय किधर है इस की खोज करने को कानून के मोटे मोटे पोथे और पेशे के हथकण्डों में उलझने के पश्चात, उसे बहुत कम ही समय मिलता है। सुरेन्द्र भी ऐसे ही न्याय के प्रतिनिधियों में से था। लक्ष्मी की कृपा थी, वरुण के कोप या हर्ष की उसे विशेष चिन्ता करने का समय ही नहीं मिलता था। धर्म-भीरु गौरी को उसने इन सब झमेलों से अलग ही रखा हुआ था, स्वयं गौरी भी पति की शान्ति किसी कारण भी नष्ट नहीं करना चाहती थी।

शान्त, सहनशील बाईस वर्ष तक ब्रह्मचर्य निभाने वाली विधवा बहिन भी भाई की उस अकाल मृत्यु से विचलित हो उठी। उसी सम्बन्ध में लगभग पच्चीस तीस वर्ष का पुराना रिश्ता फिर से नया करके अपनी प्रार्थना करने को देवी आई थी। अपने जेठ को को ठीक ठीक जानती हो सो बात तो नहीं, किन्तु उसे गौरी की इस संबन्ध में सफलता पर पूरा पूरा सन्देह था। व्यथा से गले तक भर उठने पर शक्ति कमरे में अनगिनित आँसू बहा कर आँखें पोंछ कर बाहर ही कुमार के पास आ बैठी। कुमार इस समय नेटशो को एक ओर रखकर चुपचाप कुछ सोच रहे थे।

शक्ति पास ही पड़ी कुर्सी पर बैठ कर बोल उठी—"कितनी दयनीय, कितनी असह्य है भारतीय नारी।" कुमार कुछ चौंक से उठे

पर तुरन्त ही बोल उठे,—"नारी की असहाय दशा के साथ भारतीय लगाना क्या आवश्यक है ? और फिर नारी असहाय है ही कहाँ ?"

"तुम उस पर मनमाना अत्याचार करते हो और फिर पूछते हो नारी असहाय कहाँ है ?"

"नारी पर कौन अत्याचार कर पाता है। आदर्श की बातें करने की मुझे आदत तो है, किन्तु, शक्ति, सच मानो इस समय तो बिलकुल ठीक ठीक ही कह रहा हूँ। अनेकों घरों में मैंने पुरुष और नारी दोनों ही देखे हैं, कभी कभी पास से अध्ययन करने का अवसर भी मुझे मिला है, किन्तु अधिकतर मैंने यही देखा है कि पुरुष और स्त्री दोनों ही समान भाव से रहते हैं; कहीं कहीं जिस किसी का भी व्यक्तित्व अधिक दृढ़ होता है उस का ही प्रभाव दूसरे पर अधिक पड़ जाता है। हमारे हैं एक मित्र जज, कहा जाता है कि वह अपने फैसले तक बिना अपनी पत्नी से सलाह लिये नहीं लिखते और भी अनेकों घरों में मैंने पत्नी का ही विशेष प्रभाव देखा है। यह सब क्या पुरुष पर अत्याचार नहीं है। सचमुच कहीं कहीं तो पुरुष को अपने घर में कोई भी अधिकार नहीं दिये जाते। फिर हम भी चलते हैं अदालत में अपने अधिकारों की माँग करने, पर आश्चर्य है कि हमारे अधिकार कोई अदालत भी दिलाना नहीं चाहती।" अन्तिम वाक्य की ध्वनि केवल व्यंग मात्र ही थी। "पर यह सब कुछ होता तो है पुरुष के संकेत पर ही न। यदि वही पुरुष चाहे तो स्त्री को केवल बन्दी मात्र बना कर छोड़ सकता है। उसकी इच्छा ही नारी के लिये विधि का विधान है, कठोर ताना शाही विधान।"

"अनुभव से कह रही हो या केवल सुनी सुनाई बात। अपने पिता से अपनी माता का सम्बन्ध देखा था। भाई और भाभी को भी देखती हो और स्वयं अपना भी अनुभव तुम्हारे सामने है, इस सब की बिना पर क्या यही सब कुछ कह पाती हो, शक्ति ?"

"जानती हूँ यहाँ वह जुल्म नहीं है, किन्तु यह तुम्हारी कृपा पर ही तो निर्भर है। यदि आज ही तुम मुझे ठुकरा दो तो मैं रो-धोकर बैठ रहूँगी न। और कर सकती ही क्या हूँ ?"

"वैसी इच्छा होना भी तो कोई पुरुष के बस की बात नहीं और यदि तुम भी वैसा ही करो तो मैं ही क्या कर सकता हूँ।"

"पर हम नारियाँ वैसा कर सकती ही नहीं।"

"यह तो कोई तर्क नहीं।" तर्क केवल मात्र एक हँसी-मजाक सा था। शक्ति बहुत कुछ उत्तेजित थी। वह तर्क में वाद-विवाद में गम्भीरता—कुछ उष्णता—लाना चाहती थी। वह कुछ अपनी कहना चाहती थी, कुछ कुमार से सुनना चाहती थी। कुमार को मन ही मन वह अपना गुरु मानती थी। उसे कुछ सुनना था, कुछ समझना था, पर कुमार यूँ ही टाल सा रहा था। शक्ति ने तेजी से कहा—"भारतीय नारी को, उसी शक्तिप्रदायिनी को, जो अपने रूप और यौवन के बल से न जाने कितने अकर्मण्य पुरुषों को कर्मठ बना सकती है, जिसका रहस्य केवल योरुप ने समझा है, केवल मात्र "देवी" बना कर जीवन के दायरे में से अकारण ही हटा दिया है, मन्दिर में रख कर उसकी पूजा की जा सकती है, घर की रानी कह कर उसे बाहर के संसार से एक दम निर्वासित किया जाता है। हृदय की रानी कह कर उससे हर प्रकार की सेवा ग्रहण की जा सकती है, किन्तु बाजार से

खरीदी हुई सुगन्धित फूल-माला से अधिक उसका मूल्य है ही कहाँ, जिसे कि रात में पहन कर सुबह मुरझाने पर फेंक दिया जाता है। उसकी शक्ति उसमें ही कुचल दी जाती है।" कुमार काँप उठा, यही आदर्श भारतीय ललना है! यही भारतीय नारी है!

"शक्ति, मन्दिर का देवता पत्थर है, किन्तु वही पत्थर भक्तों के हृदय में शक्ति का प्रवाह करता है। उसी पत्थर को देख कर मीरा बावली हो उठी थी। जिसे तुम निर्जीव कहती हो, उसी पत्थर को लेकर रामकृष्ण परम हंस समस्त मानसिक शक्ति का संचय किया करते थे। वही पत्थर चैतन्य महाप्रभु को बावला कर सका था। उसी पत्थर की उपासना ने महाराणा प्रताप, शिवाजी जैसे वीर उत्पन्न कर डाले थे। असंख्य व्यक्ति भारत की इस भूमि पर केवल पत्थर को ही आराध्य मान कर विकट सुभट वीर, अनन्त धैर्य शाली, प्रचुर मात्रा में धीर विनयी और प्रकाण्ड विद्वान हो चुके हैं। पत्थर आज भी पत्थर ही है और उस दिन भी पत्थर ही था, किन्तु आज जो वह हमारे लिये निर्जीव अचेतन पत्थर मात्र रह गया है वही किसी दिन उन्हें भिन्न भिन्न आदेश भी दे गया है। फिर भिन्नता कहाँ है? पत्थर तो वही है न? उसमें अन्तर कहाँ पड़ गया? अन्तर, शक्ती, पत्थर में नहीं है, वरन है स्वयं मानव-मन में। शक्ति तो स्वयं मन में, आत्मा में, भरी पड़ी है, वहीं से शक्ति वह प्राप्त करता है, साकार और निराकार किसी की भी उपासना करके। उस पत्थर में भिन्न भिन्न व्यक्ति भिन्न भिन्न वस्तुएँ देखते हैं। 'जा की रही भावना जैसी प्रभु मूरत देखी तिन तैसी' यह तो भावना है न? पत्थर तो वह हमारे लिये है, किन्तु भक्त के लिये तो वही आनन्द-स्वरूप

निरंकार है। भक्त पत्थर की आँखों के बीच ही आनन्ददायिनी ज्योति देखता है। तुम देवता का महत्व समझ नहीं पाती हो। नारी को किसी दिन जो भारत में देवी का पद दिया गया था सो उसे संसार के कार्य्य-क्षेत्र से निकाल बाहर करने के लिये नहीं, मेरी रानी। वरन् मन्दिर में स्थापित उसकी शक्ति से ही समस्त विश्व-संघर्ष में भाग लेने के लिये ही। संसार के पत्थर युग में और उससे भी पूर्व समस्त मानव-संसार के सम्मुख यही प्रश्न था कि प्रकृति ने जब नारी को स्वभावतः ही शारीरिक बल पुरुष से कम दिया है तो इस संघर्ष-मय जीवन में उसका क्या उपयोग किया जाय। सचमुच ही शरीर-विज्ञान के विद्वान कह देंगे, रिसर्च के खोज के बल पर, कि, नारी की शारिरिक शक्ति पुरुष से न्यून है। भिन्न भिन्न देशों ने भिन्न भिन्न उपाय निकाले, किन्तु सब ही देशों ने प्रायः नारी को बाह्य कर्म क्षेत्र से खदेड़ कर घर के पिंजरे में बिना कुछ भी विशेष अधिकार दिये बन्द कर दिया। विश्व के अन्य देशों की यह कहानी सत्य है, किन्तु भारतवर्ष उस समय भी अस्थिर प्रकृति न था। उसने नारी के मन की परीक्षा भी की और उसे पाया पुरुष से कहीं अधिक शक्ति-शाली, मानसिक बल की दृष्टि से। पुरुष में शारीरिक बल अधिक अवश्य है, किन्तु विश्व-नियन्ता अन्यायी कदापि नहीं है, उसने स्त्री को उतनी ही मात्रा में मानसिक बल दे डाला। और भारतवासियों ने उसका उपयोग किया उसे देवी बना कर। देवी से आध्यात्मिक बल प्राप्त किया जाता है शारीरिक नहीं। पुरुषों को आध्यात्मिक, मानसिक बल की ही आवश्यकता थी। कठोर शारीरिक बल के प्रदर्शन के पश्चात उन्हें प्रेम की, स्नेह की, कोमलता की, सहनशीलता की, धैर्य्य की

और शान्ति की आवश्यकता थी, यह सब कुछ उन्हें मिला नारी के निकट। नारी ने श्रम से थकित उसके मुख पर अपना कोमल हाथ रख दिया। श्रम कहाँ रह गया थकान कहाँ रह गई! इस आश्चर्य जनक व्यापार से पुरुष चिल्ला उठा आश्चर्य-चकित होकर 'देवी, तुम सच ही मन्दिर के देवता की कान्ति हो, दामिनी हो, सुखदा हो।' भारतीय अकृतज्ञ नहीं हैं। उन्होंने गाय से दूध लिया और उसे कह डाला माँ, पूजा की वस्तु। उसने पीपल से औषधि ली और उसे कह डाला देवता, देने वाला और इसी प्रकार उसने नारी के निकट स्नेह पाया, सुख पाया और उसे कह डाला देवि, सुखदा। यही तो कहानी है देवीत्व के आगमन की, जिसे तुम अब कितने कर्णकटु निर्दय रूप में उपस्थित कह रही थीं। वह कहानी ठीक है, सर्वथा ठीक है यूरूप के नारी समाज के लिये, किन्तु उसे भारतीय नारियों ने किस प्रकार अपने सम्बन्ध में यूरूप की नकल करते हुए लगा लिया सो समझ में नहीं आता। रही घर की रानी की बात सो सच तो यही है कि नारी जिस प्रकार घर में बैठ कर वह पति पुत्र की सृष्टि करके संसार भर का शासन करती है, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्वयं लक्षित रूप से, सांसारिक संघर्ष में भाग लेकर उतनी भली प्रकार वह कर पायेगी भी नहीं। स्वयं बाहर के जीवन में लिप्त रहने पर पति पुत्र का निर्माण तो वह सर्वथा अपने ढंग पर कर सकेगी ही नहीं और स्वयं भी प्राकृतिक ममत्व के कारण उन्हीं का अधिक ध्यान रखने के कारण बाहर का काम भी उतनी पूर्णता के साथ कर सकेगी नहीं। बाहर का क्षेत्र केवल उन्हीं नारियों के लिये ठीक हो सकता है जो अपने व्यक्तित्व को घर के बन्धन से बचा सकती हैं, किन्तु इतनी निस्वार्थ, इतनी अछूती, इतनी

संयमी नारियाँ होती ही कितनी हैं ? पुरुष अपने आपको सर्वथा बाहर के काम में ही लगा कर अपनी नीति निर्मित कर पाने का समय ही नहीं पाता, केवल मात्र थक कर अपने आप को नारी की गोद में थकित, अशान्त डाल देता है, और नारी फिर उसे नवजीवन प्रदान करके नव दिवस के लिये फिर शक्ति प्रदान कर देती है, तब ही तो उसे शक्ति कहते हैं। यही मूल था नारी को देवी बनाने का, इसी लिये नारी को घर की रानी बनाया गया था। मैं यह नहीं कहता कि आज भी प्रत्येक घर की गृहणियाँ ऐसी ही देवियाँ हैं किन्तु सिद्धान्त यदि कार्य्य रूप में आते आते कुछ परिवर्तित हो जाए या उसका प्रभाव सब कहीं एक सा न पड़े तो दोष सिद्धान्त का नहीं है, वरन है अन्य अनेकों भिन्न भिन्न कारणों का, और प्रभावों का। योगीराज कृष्ण की नीति यदि आज हजारों वर्षों के पश्चात सारे मनुष्यों, उसी पवित्र भारत के वासियों के ऊपर एक सा प्रभाव नहीं कर रही है तो दोष उस नीति, उस गीता के उपदेश का नहीं है, कदापि नहीं है। मर्य्यादा पुरुषोत्तम राम का स्थापित राम राज्य का सिद्धान्त यदि आज उतना उज्वल न रह कर उस की कल्पना भी धुँधली हो उठी है तो दोष सिद्धान्त का कहाँ है ? कहाँ तक कहूँ सृष्टि के इतिहास से ढूँढ़ने पर उदाहरणों की कमी नहीं रहेगी, यहाँ तक कि रूस के मजदूरों की क्रान्ति के समय जो सिद्धान्त थे आज उनका रूप जो एक हद तक परिवर्तित हो गया है और होता जा रहा है सो क्या दोष सिद्धान्त का ही है ? कुनीन यदि गुणकारी होने पर भी सब मलेरिया ज्वर के रोगियों पर एक सा गुण नहीं करती, तो दोष क्या कुनीन का है ? जब सब कहीं ही हमें यह मानना पड़ता है तो आज सिद्धान्त रूप शरीर में रोग

घुसा देख कर उस सिद्धान्त को ही समाप्त करने की सलाह कहाँ तक उचित है तुम स्वयं ही सोच लो।"

कुमार के मुख पर गम्भीर विचार के चिन्ह थे। शक्ति ने यह लक्ष्य नहीं किया।

"तब क्या विवाह नारी के लिये बन्धन नहीं हो उठता है? उसका विद्रोही मन क्षण क्षण पर दैनिक जीवन में अपने को पति रूपी व्यक्ति के आधीन पाकर हाहाकार नहीं कर उठता है? विद्रोह से नहीं भर उठता है ?"

"रानी मेरी, बन्धन कहाँ नहीं है? मानव-शरीर के साथ ही स्त्री और पुरुष दोनों ही के लिये ही बन्धनों की सृष्टि हो जाती है। मुक्त आत्मा, जीवन मुक्त हुए बिना किसी प्रकार भी स्त्री या पुरुष कोई भी हो उस की बन्धन से मुक्ति नहीं होती, किन्तु वह बन्धन कुछ अपवादों को छोड़ कर सदा ही स्नेह कर बन्धन होता है। पुरुष पर भी वह बन्धन वैसा ही कठोर होता है जैसा कि स्त्री पर प्रकृति ने पुरुष के लिये भी बन्धन ढीला नहीं छोड़ा है, किन्तु भेद केवल इतना ही है कि नारी स्वभावतः ही अधिक शांत है, अधिक ममतामयी है, अधिक सहनशील है और सब से अधिक सब से ऊपर है अधिक स्नेहकारी। यही कारण है कि वह स्वयं स्नेह के बन्धनों को, भले ही वे वेदना से भरे हों, अपने ऊपर ओढ़ लेती है। यही है नारी की स्नेह भरी मूर्ति विश्व के एक छोर से दूसरे छोर तक। पुरुष की बराबरी का दावा भले ही क्षणिक परिवर्तन उस के इस सहज कोमल स्वभाव में ला दे, किन्तु कभी और कहीं पर भी नारी को देखकर मैं यह नहीं भूल पाता कि कितनी भी कठोर वह भले

ही कृत्रिमता का आवरण ओढ़ कर बन जाये, किन्तु इस के भीतर जो स्नेहमयी माता छिपी हुई है उस की जान बूझ कर यह कभी भी अवहेलना नहीं कर सकती। इच्छा करके भी कर पायेगी ही नहीं। यही नारी का विश्व-मोहन रूप है। यही उसका नारीत्व है। शक्ति, इसी नारीत्व की भारतीय नारी ने युगों से रक्षा की हुई है। इसी एक वसीयत को लेकर वह विश्व भर की वेदना को, पीड़ा को अत्याचार को अपनी कोमल छाती पर ओढ़ कर भी हँसकर कहती है, 'कुछ और भी शेष है क्या ?' इसी दावेके बल पर पुत्र की गालियाँ खाकर भी माँ उसे किसी दिन भी शाप नहीं दे पाती। इसी अधिकार से 'आँचल में दूध और आँख में पानी' लेकर भी वह सब को क्षमा, स्नेह और ममत्व का दान ही दे पाती है। अन्य तुच्छ-से अधिकारों के नाम पर यदि किसी भी दिन वह इस अधिकार को खो बैठेगी, तो फिर उसमें रह ही क्या जायेगा ? चाहो तो तुम नारी को आज भी घर, घाट, सड़क, गली में यूनीफार्म पहने फिरने वाली क्लर्क या अन्य ऐसी ही कोई आजकल प्रतिदिन दीखने वाली प्रतिमा बना डालो, भले ही उससे युद्ध-क्षेत्र में नारी सुलभ नर्स के काम से लेकर युद्ध-संचालक वीर तक का काम ले लो; किन्तु किसी दिन भी उसके भीतर बैठी हुई इस सुरक्षित नारी को कुचल डालने का यत्न न करना। सचमुच ही जिस दिन नारी की ममत्व भरी, स्नेह भरी शान्त आँखें सूख कर मरुस्थल बन जायेंगी, जिस दिन उनमें स्नेह का एक भी अश्रु-बिन्दु शेष न रहेगा, उसी दिन विधाता की सृष्टि उथल पुथल हो जायेगी। वह दिन लाने का प्रयत्न तुम कभी भी न करना, शक्ति।" बड़ी देर से शक्ति सिर झुकाये सुन

रही थी। इच्छा करके भी वह बीच में कुमार को टोक पाई नहीं।

"किन्तु सुना जाता है कि विदेश में, विशेषतया रूस में नारी को समानाधिकार दे दिये गये हैं, उनकी स्वतन्त्र स्थिति क्या लोभनीय नहीं है?"

"प्रथम तो रूस में अभी एक एक्सपेरीमेन्ट ही हो रहा है, वह जाँच सफल होगी अथवा असफल इसके उदाहरण तो अभी से दीख पड़ते हैं। अभी से उन्हें अपनी नीति में पर्याप्त परिवर्तन करने पड़े हैं और आगे भी करने पड़ेंगे। सिद्धान्त रूप में जो कुछ माना गया था आरम्भ में व्यवहार रूप में अक्षरशः वही कुछ माना जा सकता ही नहीं, अतः परिवर्तन अवश्यंभावी है। यहाँ तक कि सहशिक्षा जैसे महत्व पूर्ण प्रश्न पर भी वह अब अपनी राय बदल रहे हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि भारत जिन सिद्धान्तों को युगों पूर्व मान चुका है, उन्हें ही अन्य देश मानने को बाध्य होता है। दूसरे विदेश का आदर्श भारत का आदर्श है भी तो नहीं। विदेश की नारियों के साहस, वीरता और धैर्य्य को मैं उतनी ही आदर की दृष्टि से देखता हूँ जितनी कि महारानी दुर्गावती, माता लक्ष्मी बाई या अन्य वीर भारतीय रमणियों को जो योद्धा हुई थीं, किन्तु उनके स्वतन्त्रता के आदर्श में महत्व होते हुए भी उनका लक्ष्य है केवल मात्र भौतिक जड़-स्वतन्त्रता, केवल मात्र शरीर की स्वतन्त्रता, जब कि भारत का लक्ष्य है आत्मा की, अध्यात्मिक स्वतन्त्रता, स्वयं अपने ही हिंसा, ईर्षा, द्वेष आदि भयंकर शत्रुओं से भी छुटकारा केवल मात्र कानून द्वारा स्वतन्त्रता दिलवा कर नहीं किया जा सकता। वहाँ की स्त्रियाँ चाहती हैं मताधिकार, जीविका-उपार्जन और स्वयं अपनी

इच्छानुसार पति चुनने की स्वतन्त्रता। उसी से वह सन्तुष्ट हो जायेंगी और वही उनका उद्देश्य है, किन्तु भारतीय लक्ष्य है राजनैतिक पारिवारिक और औद्यौगिक स्वतन्त्रता से भी बढ़ कर आध्यात्मिक स्वतन्त्रता। उनकी स्वतंत्रता क़ानून से मिल गई, किन्तु हमारी स्वतन्त्रता को पाना उतना आसान नहीं है। हमारी स्वतन्त्रता मिलेगी सतत कठोर तपस्या से, निरन्तर श्रवण, मनन और निध्यासन से। वह उतनी सरल नहीं है, न स्त्री के लिये भी और न पुरुष के लिये भी ? हमारा लक्ष्य है। सामाजिक जीवन में भी पवित्रता लाना इस महान लक्ष्य की साधना का ही एक भाग है। संयम—सब प्रकार के संयम—का हमारे देश में बड़ा भारी महत्व है। वहाँ संयम का कोई महत्व है ही नहीं यह मैं नहीं कहता, किन्तु भारत में आत्मा की शुद्धि के लिये हर प्रकार के संयम की बड़ी भारी महत्ता है, जो प्रायः अन्य देशों में नहीं पाई जाती। भले ही इन विचारों को प्रगतिशील कहलाने वाले कुसंस्कार कह कर हँस लें, किन्तु उनका महत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। भारतीय नारी को सोवियट नारी बना डालना ठीक वैसा ही है जैसे किसी नारी को मातृ पद छीनकर केवल रमणी मात्र ही बना डालना। नारी में साहस का संचार करो, किन्तु आध्यात्मिक साहस का संचार मानसिक साहस से पहले करो, अन्यथा मानसिक साहस तीव्र तो अवश्य होगा, परन्तु चिर स्थायी नहीं होगा। चिर स्थायी मानसिक बल तब ही आ सकता है जब कि वर्षों तक की गई तपस्या, श्रद्धा भावना सर्वाङ्ग रूप से मन-प्राण में जाग्रत हो उठे। तब ही हमारे मन में अलौकिक साहस का संचार होगा। जूठा मीठा तो बहुत लगता है, किन्तु जब तक केवल भारतीय पुरुष ही इस

जूठन की ओर अपनी परोसी हुई थाली छोड़ कर बिना देखे सुने भागते रहेंगे तब तक गनीमत है, तब तक देश की संस्कृति चाहे बची सी रहे, किन्तु जिस दिन देश की नारी भी पुरुष की देखादेखी उस ही ओर दौड़ पड़ेगी तो फिर देश की संस्कृति का उससे भी कहीं अधिक भयंकर रूप से सर्व नाश हो जायेगा जितनी कि हमारे श्वेतांग महाप्रभुओं की कल्पना या इच्छा थी।"

कुमार को कालिज जाना था समय हो गया। वह उठ कर तैय्यार होने चले गये। शक्ति बैठी उन्हीं विचारों पर विचार कर रही थी। कुमार कालिज चले गये। शक्ति दिन भर घर में बैठी अपना तर्क निश्चय करती रही, उसे पूर्ण विश्वास था कि सुरेन्द्र गौरी के कहने पर भी हाथ में आये हुए रुपये छोड़ेंगे नहीं तब क्या किया जाये। विद्रोह अथवा सर्वनाश, आज्ञा-भंग अथवा सत्याग्रह ? बहुत देर तक सोचते रहने के पश्चात उसने यही निश्चय किया कि वह विद्रोह ही करेगी, कठिन विद्रोह, यदि यह अन्याय यह पाप उसके जेठ द्वारा हुआ हो। किन्तु शंका अभी शेष थी, विद्रोह की सत्यता के विषय में। उस ने कुमार से ही आधार, आश्रय पाने का निश्चय किया। इसी समय उमा आ गई। गम्भीर परिस्थिति खेल कूद में बदल गई।

फिर ?

भइया, धन का प्रश्न आपके लिये उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि उनके लिये न्याय का।" कुमार ने विनम्र स्वर में कहा।

"उनके लिये न्याय का प्रश्न भी कुछ वैसा महत्व पूर्ण नहीं है। जो चला गया है वह किसी प्रकार भी लौटने का नहीं, अतः जीवित को काल के मुख में क्यों डाला जाये ?" सुरेन्द्र ने लापरवाही से सिगार मुँह से निकाल कर हाथ में लेते हुए कहा।

"आपके लिये यह तर्क ठीक हो सकता है, किन्तु लड़के की माँ को, देश के क़ानून को यह तर्क उतना भला लगेगा नहीं। और फिर आपका काम तो है न्याय—वर्तमान क़ानून के अनुसार न्याय—के पक्ष को प्रबल करने के लिये लड़ना। आपके तर्क उसी लिये होने चाहिये।" देवेन्द्र का स्वर अत्यन्त नम्र था। वह भाई के सम्मुख कभी बोलता नहीं था, प्रेम से भी नहीं और काम से भी नहीं। गौरी के बहुत कहने सुनने पर भी जब विलायत के लौटे हुए बैरिस्टर साहब ने केवल यही कहा—"गौरी मैं तुम्हारी स्वतन्त्रता में कभी भी किसी प्रकार का व्याघात नहीं करता, कभी किया भी नहीं, आगे भी नहीं करना चाहता

हूँ तो तुम मेरे काम में हस्तक्षेप क्यों करो ?" गौरी के कहने पर कि तुम्हारे पाप पुण्य की साथी भी तो मैं ही हूँ। मैं कुराह चलूँ तो क्या तुम मुझे हाथ पकड़ कर हटाओगे नहीं ? फिर मैं किस तरह तुम्हें कुराह चलते देखूँ और हटाऊँ नहीं। फल तो पाप का मेरे बच्चे ही भरेंगे, उन्होंने यही कहा,—"गौरी, यह सब झूठ है। न कोई किसी के पाप का साझेदार है और न जिम्मेदार। हिन्दुस्तानी स्त्रियों के दिमाग़ में ही यह दुनिया भर की मूर्खता की बातें भरी पड़ी हैं। मेरा जो कर्तव्य है सो मैं ख़ूब समझता हूँ, तुम अपना देखो।" हार कर गौरी समस्त क्षोभ अभिमान मन ही मन पी कर चुप हो रही। किन्तु शक्ति सब कुछ सुन कर सहज ही शान्त न हो सकी फल स्वरूप देवेन्द्र को भी कथा का प्रथम परिच्छेद कहा गया। देवेन्द्र भइया से स्वयं बात करने चल दिया।

"देश के क़ानून को मैं तुमसे कहीं अधिक अच्छी तरह समझता हूँ। लड़के की माँ की व्यर्थ ज़िद है। तुम्हारे मतानुसार उसे हिंसा कहना चाहिये, न हो उसको जा कर ही अहिंसा का पाठ पढ़ाओ।" व्यंग से बैरिस्टर सुरेन्द्र कुमार ने कहा और फिर बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये ही सिगार पीने लगे, अभी उन्हें क्लब भी जाना था। पर देवेन्द्र को भी तो आख़री फ़ैसला करना ही था। बात सुरेन्द्र के लिये चाहे जितनी छोटी हो, पर देवेन्द्र के लिये बड़ी भारी बन गई थी। सिद्धान्त का प्रश्न था। देवेन्द्र ने फिर कहा,—"अहिंसा का अर्थ मन ही मन क्रोध द्वेष को पालते हुए लाचारी में बदला न लेना नहीं है। यदि लड़के की माँ सम्पूर्ण हृदय से अपने पुत्र को हत्यारे को क्षमा कर पाये तो न्याय जो भी कुछ कहे मैं अवश्य कहूँगा कि

यह शुभ हुआ, सुन्दर हुआ, किन्तु यदि वह मन से ऐसा नहीं कर पाती तो उसे केवल मात्र इस लिये कि वह और कुछ कर ही नहीं सकती अहिंसा का पाठ पढ़ाना अहिंसा का उपहास करना मात्र है।" सुरेन्द्र सुनकर भी कुछ देर चुप ही रहे। फिर एकाएक खड़े हो गये।

"देखो देव, मुझे अब क्लब जाना है, पर जाने से पूर्व तुम्हारे कौतूहल की मीमांसा कर जाना चाहता हूँ। मेरे सामने बढ़ती हुई लड़की है, मुझे उसका विवाह करना है। मैं चाहता हूँ कि उसे भला घर मिले, किन्तु जिस स्टैन्डर्ड का भला घर मैं चाहता हूँ उसका मूल्य बहुत है जो कि मुझे चुकाना ही होगा। पिताजी कुछ बहुत जायदाद नहीं छोड़ गये थे। कैसे कौशल से तुम्हारी भाभी आज तक घर की मर्यादा निभाये चली आती हैं सो भी मुझे मालूम नहीं, किन्तु लड़के को मैं उच्च शिक्षा देना चाहता हूँ उसके लिये भी धन की आवश्यकता है। यह सब खर्च मुझे ही पूरे करने पड़ेंगे यह जानते हो। मेरा पेशा है वकालत, घर आई हुई लक्ष्मी को सहज ही ठुकरा नहीं सकता, किसी की सलाह से भी नहीं। और सुनो कालिज में तुमने एक ही प्रकार की पीड़ा की कहानी सुनी है भूख की। सच ही भूख की ज्वाला बड़ी ही तीव्र है, किन्तु मध्यवर्ग के लिये, लखपतियों की बात नहीं कहता, अपनी मर्यादा को निभाना भी कठिन होता है। पिछले दो वर्ष से मैं डायबेटीस के रोग में ग्रस्त हूँ। रोग की भयंकरता तुम जानते हो अथवा नहीं, किन्तु अपनी मृत्यु से पूर्व मैं तुम्हारी भाभी और उसके बच्चों को जीविका के प्रश्न से निश्चिन्त कर देना चाहता हूँ। अन्याय मुझे भी प्रिय नहीं है। यावज्जीवन मैंने यथासम्भव झूठे मुकदमे नहीं लिये। कई बार भारी भारी रकमों का त्याग भी कर चुका हूँ, गौरी के सत्संग

से क्या पुण्य है और क्या पाप यह मैं खूब समझ गया हूँ। किन्तु उसी देवी को अन्न के लिये तुम्हारा या किसी अन्य का मुँह जोहना न पड़े सो प्रबन्ध करने के लिये ही आज मुझे रुपयों की आवश्यकता है। बैंक बेलेन्स नाम मात्र का है। मुझे मालूम नहीं किस दिन कारबंकल के चंगुल में फँस जाऊँ। मुझे धन की आवश्यकता है। मैं यह मुकदमा नहीं छोड़ सकता। ऐसे मुकदमे रोज नहीं मिला करते। फिर भी यदि समझ में नहीं आता है तो अपने कमरे में जाकर चुपचाप कल का लेकचर तैय्यार करो। यह सब कुछ मैं स्वयं ही सोच लूँगा।" सुरेन्द्र बिना ही उत्तर की प्रतीक्षा किए चला गया। कुर्सी में बैठा बैठा ही देवेन्द्र सोचने लगा, कैसी विचित्र धैर्यशालिनी है यह नारी। पति को पिछले दो वर्षों से आजीवन रोग ने पकड़ रखा है। गौरी का पति से कैसा गहरा स्नेह था, यह भी देवेन्द्र से छिपा हुआ नहीं था, किन्तु कभी माथे पर शिकन नहीं आई, किसी से शिकायत नहीं की, कभी रोई-पीटी नहीं, साधारण स्त्रियों की तरह मुँह भी नहीं लटकाया। जोड़ने गाँठने के लिये पैसे को लेकर कभी पति को तंग नहीं किया, यहाँ तक कि एक घर में रहते हुए कभी कुमार को साथ लेकर भी इस विपत्ति के विषय में सलाह भी नहीं की। पति उस ही की चिन्ता में व्यस्त है, किन्तु नारी निष्काम भाव से मन के भीतर भारी वेदना सम्हाले हुए भी उसी प्रकार निरन्तर शान्त है। यही क्या बन्धन है? इसी को दाम्पत्य जीवन-भारतीय दाम्पत्य जीवन-में नारी का दासत्व, नारी का बन्धन कहते हैं क्या? विचारों में बह कर देवेन्द्र लक्ष्य से बहुत दूर चला गया। उसने देखा गौरी भाभी को एक आदर्श हिन्दू नारी के रूप में, न जाने कब उसकी आँखों से दो बूँद

आँसू चू कर पृथ्वी पर गिर पड़े। देवेन्द्र मोह की सी अवस्था में उस समय तक बैठा रहा जब तक तैय्यार होकर सुरेन्द्र फिर बाहर जाने को आ गया। गौरी को गहरी श्रद्धा की दृष्टि से देखने पर भी देवेन्द्र अपने सिद्धान्त को छोड़ने को तत्पर नहीं थे। भइया को देखते ही बोल उठे,—"भइया, आप चाहें तो यही कीजिये आपको अधिकार है, किन्तु मैं तो अन्याय-अर्जित अन्न मुख में दे सकूँगा नहीं।"

सुरेन्द्र पर इसका क्या प्रभाव पड़ा देखने को देवेन्द्र ने मुख ऊपर उठाया, किन्तु सुरेन्द्र के मुख की ओर देख कर काँप उठा। सुरेन्द्र ने कभी उसे प्यार नहीं किया था, किन्तु किसी दिन अप्रसन्न भी नहो हुए थे कभी क्रोध भी नहीं किया था। आज उनकी आँखों में जो भाव उसने पढ़ पाया, उसे पढ़ते ही वह काँप उठा। यह तो उद्वेग भी नहीं है, क्रोध भी नहीं है, कठोरता भी नहीं है, तब है क्या? शायद एक मात्र निराशा, गम्भीर नीरसता, गम्भीर अन्धकार। एक क्षण ठहर कर सुरेन्द्र ने कहा,—"पढ़-लिख चुके हो। बड़े हो गये हो, विवाह भी हो चुका है, कमा-खा भी रहे हो। एक ही घर में रहकर मैं विचारों का मत भेद नहीं पालना चाहता। तुम्हारे विचारों पर भी अपने विचारों का बोझ नहीं लादना चाहता, गौरी पर भी नहीं, अपने बच्चों पर भी नहीं, किसी पर भी नहीं। तुम नगर में कहीं भी मकान लेकर रह सकते हो। कहो तो जायदाद भी अलग कर दूँ, तुम्हारा भाग सुरक्षित है। आपदविपद में भी कभी मैंने उसमें हाथ नहीं लगाया है।" बड़े ही दर्द से निराशा से सुरेन्द्र ने कहा।

देवेन्द्र चिल्लाहट के स्वर में कह उठा—"भइया।"

"नहीं, नहीं देवू, मैं सैन्टीमेन्ट्स में न स्वयं ही बहता हूँ और

न अन्य किसी का बहना पसन्द ही करता हूँ। भावनाएं जीवन में महत्व रखती हैं, पर केवल स्त्रियों के लिये ही। फिर भी कहे जाता हूँ, किसी दिन कभी भी भइया की आवश्यकता पड़े तो निस्संकोच यह समझ कर आ जाना कि उमा और तुम गौरी के लिये एक से ही हो, दो नहीं; किसी दिन भी इस घर पर तुम उसकी सन्तान की तरह ही अधिकार कर सकते हो।"

शायद आँखों के आँसू छुपाने के लिये सुरेन्द्र झटपट बाहर जाकर कार में बैठ गये, किन्तु अन्तिम वाक्य में गले का कम्पन नहीं छिपा सके। देवेन्द्र तो सचमुच ही रो पड़ा। बात कुछ दिन के लिये दब गई, किन्तु परिणाम-स्वरूप देवेन्द्र के मन ही मन भावना और तर्क का गम्भीर संघर्ष छिड़ गया। सचमुच ही पापार्जित अन्न उसे विष के समान ही लगता था। यद्यपि जिस दिन से वह कमाने लगा था तब से हर मास की प्रथम तिथि को वेतन पाते ही गौरी को ही लाकर देता था, किन्तु उसे भली प्रकार मालूम था कि गौरी सीधे ही उसके नाम से वह धन बैंक में जमा करवा देती है, यहाँ तक कि उसकी पत्नी के वस्त्र-आभूषण पर भी जो कई हजार रुपया खर्च हुआ वह भी गौरी ने अपने ही रुपये से किया, यहाँ तक कि जब सुरेन्द्र ने इतना अधिक अपव्यय करने को मना करना चाहा तो उसने हँस कर केवल इतना ही कहा—"क्यों? अपनी उमा पर न खर्च करूँगी। दिवू लड़का है इसी से क्या उसकी बहू को कुछ भी न दूँ? एक तो बेचारी कुछ अपने ही घर से नहीं लाई है, मैं भी न दूँ तो क्या देखने-सुनने में भला लगेगा?" किन्तु सुरेन्द्र भली प्रकार जानता था कि यह देखने-सुनने में भले

लगने का डर रत्ती मात्र भी नहीं है, किन्तु फिर वह कुछ बोला नहीं। थाली सामने आते ही देवेन्द्र को जान पड़ता था कि व्यंजन के पास ही एक युवक का सुकुमार शव पड़ा हुआ है और वह भली प्रकार भोजन भी नहीं कर पाता। घने संघर्ष के बाद देवेन्द्र ने यह घर छोड़ देना ही निश्चित किया। सचमुच ही छाती पर मन भर का पत्थर रख कर। जिस दिन उसने अपना निश्चय शक्ति को सुनाया तो शक्ति केवल यही कह पाई, "भाभी बिना तुम से रहा जायगा ?"

"रहना ही पड़ेगा,, शक्ति। उन्हें भाभी न कहो, वही तो मेरी माँ हैं, पर तो भी सत्य के—अपनी आत्मा की पुकार के—लिये उन्हें भी छोड़ना पड़ेगा।"

"तब चले चलो।" और शक्ति शान्त थी। इतने दिनों में उसने पति के सत्य मार्ग में बाधा न देना, वरन उस पर चुप चाप चलना सीख लिया था।

भाभी ने सुनकर आँसू रोक कर कहा—"सो तो पहले ही जान गई थी।" कटाक्ष शक्ति पर था, किन्तु इतनी जल्दी तुम पराये हो जाओगे, दिवू, सो नहीं जानती थी, खैर भगवान तुम्हें सुखी रखे। जहाँ भी रहो, अपनी भाभी से कभी कभी अवश्य मिल जाया करना।"

"भाभी, तुम क्या पराई हो ? तुम्हें छोड़ते हुए जो व्यथा मुझे हो रही है सो क्या तुम जानती नहीं।" गौरी चुप ही रही। एक दिन देवेन्द्र कुमार शक्ति को लेकर अपने नये घर में आ गये। शक्ति को भी उमा को छोड़ते हुए बड़ा ही दुख हो रहा था। जिठानी ने पैर छूते हुए शक्ति की आँखों की दो बूँदें पृथ्वी की मिट्टी में गिर कर मिल गई। गौरी ने यह नहीं देखा। विमन से बोली—"सदा सुखी

रहो ।" पर उसका हृदय जले जा रहा था, तुरन्त ही फूट पड़ी, "बहू, बाल-बच्चे वाली होगी तब मेरी व्यथा समझोगी ।" शक्ति की इच्छा हुई कि जिठानी से स्पष्ट रूप से कह दे कि इस विच्छेद-परिच्छेद में उसका तनिक भी हाथ नहीं है, यहाँ तक कि सचमुच ही वह नये जीवन से नये अकेले घर में जाने से घबरा रही थी, किन्तु और चारा भी क्या था। इच्छा करके भी शक्ति कुछ अधिक कह न सकी, केवल मात्र यही कहा—"भाभी जी, तुम्हें तो किसी दिन भी प्रसन्न नहीं कर पाई, सदा कष्ट ही दिया है, फिर भी छोटी बहन हूँ, क्षमा तो क्या माँगू, भुला न देना।"

गौरी फिर प्रसन्न तो नहीं हुई, किन्तु आँखों के आँसू भी उनके सम्मुख गिरा नहीं सकी, केवल होठों को बारबार दाँतों से चबा कर ही रह गई। शायद एकान्त में बहाये जाने के लिये आँसू सुरक्षित रखने के लिये। उमा के गले मिल कर शक्ति ऊपर ही काफी रो ली थी। चलते समय देवेन्द्र ने उमा को दो चार दिन के लिये ले जाना चाहा अपने साथ, किन्तु गौरी ने जाने नहीं दिया, शायद यह सोच कर कि ऐसा करने से पति का अपमान होगा। गरम गरम आँसुओं को आँखों में लेकर गौरी ने उस दिन देवेन्द्र को बिदा करके फिर कभी देवेन्द्र का नाम भी मुख पर आने नहीं दिया। दास-दासियों में कहीं चर्चा भी होती तो गौरी तुरन्त टाल देती या उठ कर चली जाती। किसी कारण भी वह उसका नाम नहीं लेती थी। गौरी बड़ी ही अभिमानिनी थी, यही कारण था कि शक्ति के प्रसव काल में भी, सूचना पाकर भी, उसने अपनी जानी-सुनी लेडी डाक्टर को भेज दिया, घर की दासी को भी समझा-बुझा कर भेज दिया, किन्तु स्वयं क्षण

भर को भी नहीं गई, यहाँ तक कि "कमल-फूल सा सुन्दर बालक हुआ है।" "बिल्कुल कुमार भैय्या पर पड़ा है।" आदि आदि सुनकर भी गौरी ने जाने का नाम नहीं लिया। एक दिन पान मुख में भरे चार पाई पर बैठे ही बैठे सुरेन्द्र ने कहा—"जब मन में इतना प्यार लिये बैठी हो तो एक बार अपने पोते को जाकर देख ही न आओ।" गौरी पीछे मुँह फेरे अलमारी में धोबी के कपड़े रख रही थी, कुछ देर चुप ही रही। शायद इसी बीच उसने धोती के छोर से दो-चार आँसू आँखों के भीतर ही भीतर सुखा डाले। आलमारी के पल्ले की आड़ पड़ती थी, इसी से सुरेन्द्र नहीं देख पाये। फिर तुरन्त ही गला सम्हाल कर बोली—"सो सब मैं तुम से अधिक अच्छी तरह समझती हूँ।" कहकर भारी मन से गौरी चली गई कमरे से बाहर, शायद रोकर मन का भार हलका करने के लिये। बच्चे के लिये गौरी ने उपहार आदि भेजा, देवेन्द्र ने वह स्वीकार नहीं किया। गौरी क्रोध से जल उठी, पर वह निष्फल क्रोध था बेचारी शक्ति पर, उसी दुष्टा की यह गति-विधि है, नहीं तो मेरा देवेन्द्र तो ऐसा न था। यही प्रायः सभी माताओं का विचार होता है पुत्र से मतभेद होने पर, यदि उस समय तक वधु का आगमन हो चुका हो। प्रायः दो वर्ष तक बिना किसी विघ्न बाधा के, बिना किसी मेल-जोल के, दोनों परिवार चलते रहे। फिर एक दिन अकस्मात छुट्टियों में जब कुमार शक्ति तथा नन्हे बच्चे के साथ काश्मीर गया हुआ था, उधर से लौटते देवेन्द्र को दस्त और कै आने लगे। शक्ति हैजे का रूप पहचानती थी। डाक्टर आये, वैद्य भी आये, उपचार भी हुए, किन्तु मृत्यु की दवा किसी के पास भी न थी। संध्या को ही कष्ट आरंभ हुआ था। मध्यरात्रि को डाक्टर

की उपस्थिति में ही देवेन्द्र ने शक्ति को संकेत से पास बुला कर कहा, "शक्ति, घबरा न जाना।"

"घबराऊँगी क्यों ? किन्तु स्वर में कम्पन तो था, विश्वास कहीं रंच मात्र भी न था, निर्भयता भी न थी।

"तुम्हें कुछ समझा कर तुम्हारी वेदना बढ़ाऊँगा नहीं, किन्तु गौरी भाभी को दुख में कभी भी न भूलना।" दुर्बलता के कारण स्वर बड़ा ही मन्द था, कुछ ठहर कर कुमार ने फिर कहा—"नन्हें को बड़ा होने पर सुना देना कि उस का पिता मृत्यु-काल में भी यही प्रार्थना करता था उस जगत-नियन्ता से कि यदि उसे मुक्ति न मिले तो अहिंसा सत्य आदि की उपासना करने के लिये उसका जन्म फिर भी भारत वर्ष में ही हो।"

शक्ति की आँखों में भरे आँसू भीतर ही भीतर सूख रहे थे। शक्ति की मौत से जान-पहचान थी। उसका हृदय भी फटा जा रहा था, किन्तु पति के अन्तकाल को, अपना अधैर्य दिखा कर, कष्टमय बनाना नहीं चाहती थी। शान्ति से सुनती रही। डाक्टर देख रहा था उस नारी के अद्भुत शान्तिमय मुख की ओर, जिसे अभी कुछ ही क्षणों में विधवा हो जाना था, किन्तु जिस के मुख पर इस समय भी एक अद्भुत शान्ति विराज रही थी। यह वही शक्ति थी जिसे स्वयं उस के पति ने गीता पढ़ाई थी रातदिन निरन्तर। "तुम्हारे लिये क्या कहूँ, शक्ति, तुम्हें सान्त्वना होगी ही कैसे, किन्तु फिर भी यह याद रखना, सुख में भी और दुख में भी, कि महान है वह जो अकारण अत्याचार नहीं सह पाता, किंतु उससे भी कहीं अधिक महान है वह जो बिना किसी भी मानसिक विकार के सब कुछ अपनी मानव-छाती पर सह

जाता है।"

शक्ति चुप ही रही एक दम चुप। केवल उसने अपने साँवले मुख को पति के चारपाई की पाटी पर रखे हुए रक्तहीन हाथ पर रख दिया। रात के दो बजे। डाक्टर की उपस्थिति में ही विश्व भर के सारे उपचार करने के पश्चात भी प्रो. देवेन्द्र कुमार चल दिये। कहाँ? कौन जानता है? विवाह के दो ढाई वर्ष बाद ही, एक बच्चे को गोद में लेकर विधवा हो जाने वाली इस नारी को, सुखी दाम्पत्य जीवन का आस्वादन कर चुकने के पश्चात पति-वञ्चिता जन्म-दुखिनी नारी को, जिसके जीवन के ये दो वर्ष उसके समस्त दुखी जीवन के बीच चमकने वाले एक मात्र प्रकाश-बिन्दु थे, कौन सान्त्वना दे सकता है? डाक्टर ने चाहा कि उसे सान्त्वना दे, किन्तु उसके पास शब्द ही न थे। आँखों के मौन आँसुओं के बीच ही शान्ति से शक्ति ने कहा—डाक्टर साहब परदेश में मेरा कोई मित्र नहीं है और परिचित भी नहीं। ऐसा करिये जिससे इनके शरीर के प्रति अपने अन्तिम कर्तव्य से मैं छुटकारा पा सकूँ।" विचित्र था यह अनुभव डाक्टर के लिये। डाक्टर मन ही मन कह उठा नारी-प्रतिमा तुम या तो राक्षसी हो और या देवि। कौन हो सो नहीं जानता, किन्तु जो भी कोई हो, तुम्हें मेरा शतकोटि प्रणाम है। दुख जिसे विचलित नहीं कर पाता। वेदना जिसके मस्तिष्क की समस्त शक्ति को छीन नहीं लेती, वही मानव धन्य है, वही प्रणम्य है। उसने मन ही मन शक्ति को प्रणाम करके कहा,—"बहिन, अपने समस्त कर्तव्य भली प्रकार पालन करने की शक्ति का तुम में अभाव नहीं है। वेदना शायद तुम्हारे जीवन को अधिक उज्वल, अधिक उपयोगी, कर देगी।" शक्ति का हृदय

भरा हुआ था, आँसू आँखों से निरन्तर बह कर पाटी पर पड़े कुमार के मृत हाथ को भिगो रहे थे, वही हाथ जो कभी शक्ति के नेत्रों में एक बूँद आँसू पाकर भी उस साँवले मुख को अपने गोरे मुख के समीप ला अपने लाल होठों से उस आँसू की बूँद को पोंछ डालता था। वही हाथ आज अनेक अश्रु-बिन्दुओं से स्नान करके भी निश्चेष्ट था।

अन्त्येष्टि क्रिया हो गई। शक्ति वापिस लौट भी आई, किन्तु उस घर में उससे फिर गया नहीं गया। जिस घर से आनन्द पूर्वक छुट्टियाँ बिताने को पति के साथ निकली थी, उसी घर में अकेले प्रवेश करने का साहस शक्ति जैसी साहसी स्त्री को भी नहीं हुआ। फिर पति के पिता की सम्पत्ति से उनके पुत्र को वञ्चित करने का उसे अधिकार भी कहाँ था। पेट भरने का प्रश्न तो उतना भयंकर न था, किन्तु पुत्र को उचित शिक्षा-दीक्षा भी तो देनी थी। दुख में गौरी भाभी की शरण जाने की पति की सलाह वह भूली भी न थी। एक दिन सन्ध्या समय अचानक ही स्टेशन से ही गौरी भाभी के द्वार पर जा खड़ी हुई। भाभी तुलसी को दीप चढ़ा कर खड़ी हुई ही थी। ऐसी ही एक सन्ध्या को उसने गौरी भाभी के घर में—अपने पति के घर में—सर्व प्रथम प्रवेश किया था। आज पति को खो, नवजात पुत्र को गोद में लिये, वो ढाई वर्ष पश्चात वह लौट आई, फिर ऐसे ही समय, उसी घर में। (इसीका वर्णन प्रथम अध्याय में किया गया है) गौरी को पति से गौरवान्वित रमणी पर क्रोध था, किन्तु आज इस पतिहीना, दुखिनी, विनम्र बालिका पर गौरी का तनिक भी क्रोध नहीं रह गया था। उसने नन्हें से बालक को छाती से लगा कर कहा—"फिर आगये मेरी गोद में मेरे नन्दलाल, बाल गोपाल।"

घर की बहू

"तनिक आम तो छील डालो, छोटी बहू, बरसात के दिन लग गये हैं। पड़े पड़े सड़ जायेंगे तो बड़ी बहू बिगड़ेंगी।" पुरानी दासी ने कुछ झुँभलाये हुए से स्वर में कहा।

"अभी छीलती हूँ, बड़ी जिया, तनिक उमा का सिर गूँथ दूँ।" कटोरी में तेल लिये हुए शक्ति ने कहा। उसी समय कल दिन भर निर्जला एकादशी रखने के पश्चात, आज ज्यों ही नहा कर शरबत पीने बैठी शक्ति को याद आ गया कि कल उसने ही उमा को सिर धोने के बाद तेल नहीं लगाने दिया था, आज स्वयं लगाने के लिये। उमा को चाची के सिवाय और किसी का लगाया तेल भाता ही नहीं था। यद्यपि चाची का इस प्रकार विधवा होकर लौट आना शुभ नहीं था, किन्तु फिर भी उमा चाची को पाकर धन्य हो गई थी। कभी कभी दोनों बैठ कर कुमार को याद करके रो लिया करती थीं। उमा का प्रेम चाचा पर आज भी उतना ही था। वह अपने चाचा-चाची को एक दिन भी भूली नहीं थी, घर भर में यदि कोई कुमार का नाम लेकर कभी खुल कर रो नहीं पाती थी तो वह गौरी ही थी। चुपचाप शान्त भाव से

कभी कभी शक्ति की ओर देख कर एक ठँडी साँस भर छोड़ देती थी, किन्तु उसका अर्थ विश्व भर में कोई भी नहीं जान पाता था। एक दिन जिस प्रकार चार वर्ष के देवेन्द्र को लेकर उसने अपने जीवन में मातृत्व की सृष्टि की थी, आज चौबीस पच्चीस वर्ष पश्चात उसी देवेन्द्र के पुत्र को गोद में लेकर उसने वही प्रकरण फिर उधाड़ लिया, बिना किसी दुविधा के, बिना किसी ननू नच के।

उस दिन स्वामी से शक्ति के आने का हाल कहने पर उन्होंने कहा था—"गौरी क्यों यह रोग फिर पालती हो? देवेन्द्र के बीमे के दस हजार रुपये मिल ही जायेंगे। कुछ हम दे देंगे। ज़मीन-जायदाद में भी अपना हिस्सा ले और जहाँ भी हो बैठ कर अपना गुज़र-बसर करे। इच्छा हो तो कुछ और भी सहायता कर देना।"

गौरी तमक उठी। गौरी में यूँ तो स्त्रियों के सभी गुण-दोष थे। "वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि" का वह साक्षात् उदाहरण थी। क्रोध उसे आता था, किन्तु वह उसे सहज ही पी जाती थी। मन ही मन झुँझला भी उठती थी, पर अपने घर की—उसी घर की जिसे रूस के नकलची सहज ही पिंजरा कह देंगे—मर्यादा पर प्राण देती थी। पन्द्रह वर्ष की आयु से आज पचीस वर्ष तक इस घर की मर्य्यादा को उसने प्रत्येक आँधी और तूफ़ान से अपने आराम और शान्ति के मूल्य पर भी बचाया था, किसी कारण भी वह सास के सौंपे हुए इस भार को हटा देना नहीं चाहती थी। भले ही जो नारियाँ देश पर प्राण देती हैं वे विश्व के—देश के—इतिहास में अपने नाम अमर अक्षरों में लिखवा जायें, किन्तु वह नारी जो कि अपने सीमित कर्तव्य को, भले ही वह अत्यन्त सीमित हो, संसार की दृष्टि में तुच्छ

हो, अत्यन्त उत्तरदायित्व पूर्ण ढंग से पालन करती हैं, वे किसी प्रकार भी महत्व में उन से छोटी नहीं हैं। महत्व होता है निष्काम कर्म में न कि उस कर्म की गुरुता में। केवल मात्र निष्काम भाव से कर्म करने वाला, (कर्म कितना ही तुच्छ क्यों न हो) महान हो उठता है, न कि महान परिणाम वाले कर्म को सकाम भाव से करने वाला। महत्व है मन की भावना में, हृदय के उद्देश्य में, जिसे अंग्रेजी भाषा के कर्तव्य-शास्त्र के पंडित इंटेंशन कहते हैं। इंटेंशन ही कर्म-क्षेत्र में एक निष्काम भाव को लेकर बढ़ उठता है। भारतीय नारियों को जब कि वह विदेश की नकल नहीं किया करती थीं यही शिक्षा घर के भीतर ही अपने अन्तः-पुर रूपी राज्य में ही मिल जाया करती थी। चाहो तो इसे नारी का बन्धन कहलो, किन्तु कितना उदार था, कितना सजीव था यह स्नेह-बन्धन। उनकी गोद से सहज ही उनके स्नेह के पात्र को जब इस अनजान लड़की ने अचानक ही एक दिन आकर छीन लिया तो गौरी का मन उस लड़की के प्रति स्वभावतः ही घृणा से, द्वेष से, भर उठा। फिर जब एक दिन वह गौरी के उस लाल को उसके हाथों से भी छीन कर दूर दूर सुदूर ले गई तो गौरी ईर्षा से जल उठी। उसका समस्त क्रोध इस अनाथ लड़की पर ही जा पड़ा, किन्तु वही उसकी क्रोध पात्री जब एक दम निस्सहाय होकर उसकी ही शरण में उस स्नेह-पात्र को खोकर पहुँच गई, तो गौरी समस्त द्वेष, ईर्षा, घृणा भूल गई। नारी ही नारी की वेदना समझ सकती है। दोनों नारियों की एक सी ही तो वेदना थी न। इस श्यामा युवती की वेदना में गौरी का अभिमान खो गया। आज वही युवती दुखिनी उसका प्राण बन गई। कितनी विचित्र है नारी-प्रकृति। कल तक जिसे घृणा की, क्रोध की दृष्टि से

देखती आ रही थी आज क्षण में ही उसे क्षमा करके निस्पृह हो गई। इसी प्रकार की स्थिति में कभी कभी नारी उपायहीन, वेदना से पागल होकर, राक्षसी भी बन उठती है। शक्ति इसी अवस्था की कल्पना करके पुत्र को खाने वाली डायन का सा व्यवहार पाने की आशा से मातृ-तुल्य, सास-तुल्य जिठानी की शरण में ऐसे व्यवहार के लिये अपने आपको तत्पर करके ही आई थी, किन्तु विचित्र है नारी-प्रकृति पति को खोकर शक्ति को जिठानी का स्नेह मिल गया।

"हाँ, तुमने तो कह दिया अलग बैठ कर गुजर बसर कर लें गे। पहले भी यूँ ही अपनी जिद से लड़के को घर से निकाल बाहर किया, अब मैं बहू से हाथ न धोऊँगी। मेरा देवू बच्चा बनकर मेरी गोद में फिर आ गया है, उसे फिर भगा दूँ। चार जगह मुँह तो मुझे दिखाना पड़ता है, अब जैसे भी आई हो इस घर में, है तो इसी घर की बहू, उसे भगाया तो नहीं जा सकता।" यही रमणी एक दिन इसी घर की बहू को घरफोड़नी कह कर देवेन्द्र के अलग होने का सारा दोष बहू को देकर कह रही थी सुरेन्द्र से, "कभी इस द्वार पर अब पैर तो रख पायेगी नहीं। झाड़ू मार कर भगा न दूँ, कभी देहली पर चढ़े भी तो।" आज वही उसी घरफोड़नी को घर की बहू बनाकर ग्रहण करने का आग्रह कर रही है। नारी-स्वभाव की विचित्रता का ध्यान करके सुरेन्द्र बोले—"तुम फिर मुझ से क्या पूँछती हो? जो इच्छा हो करो। जब फेडरेल कोर्ट से ही फ़ैसला हो गया है पक्ष में तो बेचारी डिस्ट्रिक्ट कोर्ट क्या करेगी।"

शक्ति को सादर स्थान मिल गया। गौरी ने तो शक्ति को छोटी बहू के रूप में स्वीकार कर लिया था, उमा की तो

वह चाची ही थी। मही भी शक्ति को बहुत मानता था और विशेषतया उसे नन्हा खिलौना जो मिल गया था। उसी की अँगुलियाँ पकड़ कर वह बड़ी देर तक खेलता जो रहता था, उसके नन्हें नन्हें लाल लाल पैर उसे बड़े ही भाते थे। जब तब नन्हा उसे देखते ही बड़े जोर से हुँकार कर उठता था। पर घर की पुरानी दासियों को मालकिन का यह मानसिक परिवर्तन अज्ञात भी था। वैसे भी घर के पुराने दास-दासी सहज ही किसी का प्रभुत्व नहीं मानते, फल-स्वरूप समय-असमय नये आने वाले व्यक्ति को अपमानित करते उन्हें बड़ा ही भला लगता था। शक्ति अपनी सहनशीलता की परीक्षा ले रही थी। कभी भी उसने किसी से भी इस व्यवहार की चर्चा नहीं की। केवल रात में अकेले बिस्तर पर नन्हें को हृदय के समीप ही रख कर वह कह उठती थी—"सुनो, तुमने मुझे एक दिन अहिंसा का पाठ दिया था, आज उसी की मैं परीक्षा कर रही हूँ। मेरे नारायण, मेरे गुरु, तुम चाहे जिस लोक में भी क्यों न हो, मुझे शक्ति दो, ताकि किसी के भी दुर्व्यवहार से मेरे मन में तनिक भी ईर्षा, द्वेष और क्रोध की भावना तक भी न आये। मैं उन पर जान-अनजान में ही क्रोध कर बैठती हूँ कि प्रभु मेरे, चाहे तुम भौतिक शरीरधारी मेरे पति की ही प्रतिच्छाया हो अथवा मृत पति स्वयं ही हो, किसी भी रूप में मेरे हृदय में बल दो, मुझे शक्ति दो कि मैं काम, क्रोध, लोभ, मोह से मुक्ति प्राप्त कर सकूँ।" इसी प्रकार की प्रार्थना करते करते सो जाती। फिर कार्य्यक्रम वही होता। कभी कभी उमा ऐसी ही छोटी मोटी घटनाओं को लेकर पुरानी दासियों से झगड़ उठती थी। जब सब सुन पाते पर मालकिन भी अप्रसन्न हो

जाती थी, किन्तु शक्ति के माथे पर कभी शिकन भी नहीं पड़ती थी, कभी वह अस्थिर भी नहीं होती थी, किसी दिन कुछ कहती भी नहीं थी। उसकी शान्ति अनन्त थी, धैर्य अविचल था। यही क्षमा, सहनशीलता और अहिंसा ही तो हिन्दू विधवा की तपस्या है। शक्ति उन्हीं का शान्ति-पूर्वक अभ्यास कर रही थी। आज भी ऐसी ही घटना हुई।

"बिटिया का ही सारे दिन शृँगार करती रहती हो या कुछ घर का भी काम-काज करोगी, छोटी बहू, ऐसा तो ढंग कहीं देखा नहीं।" तनखकर बूढ़ी दासी ने कहा।

"बड़ी जिया, तनिक ठहरो, यह तो कहती नहीं कि नहीं करूँगी। आम बिगड़ जायेंगे सो तो मैं जानती ही हूँ। अभी बिटिया के तेल लगा कर आती हूँ, पहले आम छील कर ही पानी पियूँगी।" शक्ति ने शान्त स्वर से कहा, पर बड़ी जिया अनखा उठी।

"तो लो, मैं क्या? बहू, कोई दण्ड दे दूँगी। मैं हूँ ही कौन? तुम हुई घर की मालकिन, मैं ठहरी दासी-बाँदी। हाँ रे, दासी चाहे जितने भी हाड़ तोड़े, रहेगी तो दासी ही, भला उसे अधिकार ही क्या है, घर वालों को कुछ कहने का। हाँ मैं तो घर की चीज बिगड़ती देख नहीं सकती, भला मैं यह कब कहती हूँ कि तुम पानी न पियो। हाँ तो भला······" बुढ़िया बड़बड़ाये ही जा रही थी। उमा पहले से ही छज्जे पर खड़ी थी, उसे दासी का यह व्यवहार किसी प्रकार भी क्षम्य नहीं जँचा, चिल्ला ही तो उठी—"बड़ी जिया, दिमाग की दवा करो। चीज बिगड़ती है तो हमारी ही न, हम बिगाड़ें तो भले ही बिगाड़ें तुम्हें क्या? चाची से कहने वाली तुम कौन होती हो?

उनका जी करेगा तो वह करेगी, नहीं जी करेगा तो नहीं करेगी और अभी तो मैं उन्हें हाथ लगाने भी नहीं दूँगी। कल तो दिन भर उपवासी रही हैं, आज उठते ही पूजा-पाठ कुछ नहीं, तुम्हारे आम ले बैठें। तुम्हीं हाथ पर हाथ धरे क्या कर रही हो? छीलो न आम बैठे बैठे······"उमा और भी कुछ कहती, पर शक्ति ने तब तक ऊपर पहुँच कर उससे कहा—"मुन्ना, चुप भी करो, बस बहुत हुआ, बूढ़ी बेचारी दुखी होगी। किसी का रोयाँ दुखाना ठीक नहीं।"

"पर चाची, इसी तरह तो इनका मन बढ़ जाता है। छोटी जात है न, सिर जितना चढ़ाओ उतना चढ़ती ही जाती है, भला बताओ छोटे मुँह बड़ी बात। कहाँ वह और कहाँ तुम और तुम भी तो उन्हें कुछ कहती ही नहीं, तरह ही दिये जाती हो।"

"मुन्ना बेटी, कौन बड़ा है कौन छोटा है, इसका निर्णय यहाँ नहीं होता, निर्णय होता है भगवान के दरबार में, जहाँ सब एक से हैं छोटा बड़ा कोई भी नहीं। सब ही शरीरों में नारायण का एक सा प्रकाश है। एक ही आत्मा भिन्न भिन्न शरीरों में है—एक भगवान का ही प्रकाश है, ब्रह्म एक ही है, फिर भला भिन्नता रह ही कहाँ गई? हम सब केवल मानव ही तो रह गये और मानव भी क्यों केवल मात्र ब्रह्म ही तो रह गये। हम शरीर थोड़े ही हैं जो कि मालिक और नौकर, ऊँच और नीच, धनी और निर्धन बनाता है। हम तो हैं केवल मात्र आत्मा, जो न पुरुष है, न स्त्री, न धनी, न निर्धन। वह तो निर्लिप्त, निर्गुण, केवल मात्र चैतन्य है, शुद्ध चैतन्य किसी प्रकार के भी भेद-भाव की उसमें गुंजायश ही नहीं है। यहाँ तो 'जात-पात पूछे नहीं कोई हरि को भजे सो हरि का होई' वाली मसल है। जिस

प्रकार नारायण तुम्हारी इन सुन्दर आँखों के भीतर से झाँक रहे हैं उसी प्रकार हरि की आनन्दभरी दृष्टि बड़ी जिया की बूढ़ी आँखों में से भी देख सकूँ, यही तो मानव-जीवन का लक्ष्य है—सर्वोत्तम सच्चा लक्ष्य। इसके अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या तो है ही। नारायण ही यदि मुझे कुछ कठोर वाक्य कहने लगते हैं तो मैं क्या उन्हें वैसा ही कुछ कहूँ। उन पर क्रोध करना तो मुझे भाता नहीं। बड़ी जिया है ही कौन? विश्व भर में तो केवल एक मात्र विश्व-नियन्ता की माया से उन्हीं का पसारा फैला है, इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, फिर किसे कुछ कहना और किसे डाँटना, किस पर क्रोध करना?" शक्ति तेल लगा रही थी और उमा ध्यानपूर्वक सुन रही थी।"

"चाची, ये तो बड़े ऊँचे ज्ञान की बातें हैं। न होगा मैं भी बुढ़ापे में सीख लूँगी, पर अभी तो अन्याय सहा नहीं जाता, जो भला नहीं लगेगा उसका विरोध करूँगी ही।"

"अवश्य करो, किंतु जो अशिव हो, असत्य हो, हिंसा हो, किसी को दुख पहुँचाने वाला हो, इस के अतिरिक्त और कुछ भी विरोध करने योग्य नहीं है। बड़ी जिया की बात से मुझे दुख नहीं हुआ, होता तो शायद विरोध करने की बात भी सोचती।"

आश्चर्य से कुछ देर उमा चुपचाप ही रही। बोलने का उसे साहस ही नहीं हो रहा था। फिर सहसा बोल उठी। "चाची, यह इतना सब ज्ञान पाया कहाँ से?"

"सब कुछ तुम्हारे चाचा जी के चरणों में बैठकर ही सीख पाई हूँ। यदि इतनी विद्या, इतना ज्ञान और इतनी बुद्धि लेकर वह

मेरे जीवन में नहीं आये होते तो शायद मैं इतनी जल्दी आत्म-समर्पण भी न कर देती।"

कितना ऊँचा था दाम्पत्य आदर्श। विवाह का नाम शारीरिक भोग-विलास की तृप्ति का एक नियमित साधन मात्र ही नहीं है, वरन गुण-कर्म-स्वभावानुसार विवाह करने की वैदिक पद्धति इसीलिये श्रेयस्कर थी कि उस से न केवल दो मानव-हृदय ही मिलते थे, वरन दो मानव-मस्तिष्क मिल कर एक नवीन जगत की सृष्टि करते थे। युवावस्था का प्रेम केवल मात्र शारीरिक क्षणिक आकर्षण—वासना-जन्य आकर्षण—का ही नाम है। जब दो युवक शरीर एक दूसरे के निकट खिंच जाते हैं तो अधिकतर आकर्षण उनके दो भिन्न सेक्स से संबन्ध रखने के कारण ही होता है। इन्द्रियाँ अत्यन्त प्रबल होती हैं, किंतु उस से भी अधिक द्रुत गतिवान चंचल होता है मानव-मन। कोई भी युवा मन दूसरे सेक्स के प्राणी को अपने अत्यन्त निकट पाकर, मनोविज्ञान के विद्यार्थी जानते हैं, चंचल हो उठता है। उस में विचार-शक्ति का हाथ कम ही होता है, अन्ध प्रकृति का ही अधिकतर होता है। एक समय में गुण-कर्म-स्वभाव का मिल जाना केवल घटनावश ही हो जाता है, किंतु नहीं भी हो सकता है। यही यूरुप की विवाह-पद्धति है। भारत में इस के विरुद्ध क्षणिक आकर्षण को महत्व न देकर समाज-व्यवस्था की पुष्टि के लिये कल्याण के लिये, गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर खोजने की पद्धति थी, यद्यपि उत्तरदायित्वपूर्ण युवतियों को स्वयंवर करने की भी पूरी स्वतन्त्रता थी। आज का रूस का नक्काली यदि दो चार भद्दे विवाह सामने करके ही भारतीय विवाह-पद्धति को संपूर्ण रूप से हेय

प्रमाणित कर बैठे, तो उस की बुद्धि पर दया करने के अतिरिक्त और उपाय ही क्या है ? कोई भी सिद्धान्त का, एक अरसा बीत जाने के पश्चात, दोषपूर्ण हो जाना ही इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि उस पद्धति की जड़ में केवल अनर्थ और अकल्याण ही भरा पड़ा है, वरन जड़ खोजने से ज्ञात हो कि अभी तक उस की सुगन्धित फूल देने वाली गुण-गरिमा-पूर्ण शक्तियाँ जीवित हैं तो उनका पुनरुद्धार ही अधिक श्रेयस्कर है। लेनिन का रूस कैसा भी हो, पर मेरा भारत अपने उच्चादर्श लेकर मेरे लिये कहीं अधिक पूर्ण है, कहीं अधिक महान है। कहाँ है यहाँ दासीत्व का आदर्श। यहाँ तो स्वयं ही नारी में दासी नहीं, वरन सर्वस्व बनने की भावना पाई जाती है ? पुरुष तो नारी को 'बेटर हाफ' ही बनाता है न, पुरुष का अच्छा हिस्सा नारी है और शायद उनकी समझ से नारी का या उस एक का बुरा हिस्सा पुरुष है, लेकिन ऐसा क्यों है सो आज तक मेरी समझ में नहीं आया, शायद नारी को दुर्बल जाति का समझ कर केवल खुशामद मात्र ही है यह बेटर हाफ—श्रेष्ठ अर्ध—पर भारत में अच्छे और बुरे भाग का कोई प्रश्न ही नहीं, एक ही वस्तु के ये दो समान भाग हैं, न एक अधिक अच्छा है और न दूसरा उस से बुरा, दोनों बिलकुल समान हैं, तब ही तो यहाँ कहते हैं उसे अर्द्धांगिनी। बिलकुल ठीक ठीक आधा, न बुरा और न अच्छा ही, बिलकुल एक सा।

सारे विचार क्षण मात्र में नन्हीं उमर के मस्तिष्क में घूम गये। कालिज के प्रथम वर्ष में पढ़ने वाली उमा अब दाम्पत्य जीवन, विवाह आदि शब्दों के अर्थ समझने लगी थी। अंग्रेजी साहित्य की लोकचरार मिस जोरपड़े को उसने भारतीय विवाह-पद्धति को "शिकार पकड़ना"

और भारतीय पत्नी को "शिकार" कहते भी सुना था, किन्तु उसका अस्तित्व वह उन दोनों ही विवाहिता स्त्रियों में नहीं पा सकी थी। जिन के कि वह निकट सम्पर्क में रहती थी। एक तो थीं उसकी तेजस्विनी घर भर पर शासन करने वाली उसकी माँ और दूसरी अहिंसावादिनी अद्वितीय सहनशील, शान्त प्रकृति उसकी चाची। माँ में तेज था, शासन-शक्ति का साहस था, अपनी मनवा लेने की शक्ति थी। उनका रूप उमा को भला लगता था, वह नारी का स्वतन्त्र, जीवित और गृहिणी का वास्तविक रूप था। चाची का रूप शान्त, सहने वाली, धैर्यवान, मौन का रूप था। उसमें कहीं भी कोई चाञ्चल्य या कठोरता नहीं थी, इस रूप में भी उमा सोच-विचार कर भी कोई दोष नहीं निकाल पाती थी। यह रूप मानव का रूप था, देवी का रूप था। उमा देवत्व की उपासना करती थी, पर तो भी स्वयं मानव ही बनना चाहती थी, देवी नहीं। देवी बनने में बड़ा कष्ट होता है, बड़ी तपस्या की आवश्यकता पड़ती है न! उमा सोचती ही रही। शकित काम समाप्त करके नीचे चली गई।

न्याय

"दीदी,"......शक्ति इधर गौरी को दीदी ही कहती थी। कभी कभी भाभी जी भी कह देती, उस दिन शक्ति प्रातःकाल से ही उदास थी। रह-रह कर कुछ कहने की इच्छा मन में होती थी, पर कह पाती नहीं थी। कल ही फिर एक अनाथा स्त्री गौरी के पास अपना दुखड़ा रोने आई थी, शक्ति भी वहीं थी, उसने भी सब कुछ सुना था। गाँव में रहने वाली सीधी-सादी उस स्त्री को उसके नातेदारों की धूर्तता ने उसी प्रकार उसके न्यायोचित अधिकार से वञ्चित कर दिया था, जिस प्रकार कि एक दिन स्वयं उसकी माँ अनाथ और निराश्रय होकर इस नगर में परिस्थितियों द्वारा लाई गई थी। स्त्री युवती थी। उसकी गोद में एक नन्हें की आयु का ही बच्चा था। हाल ही में उसका सुहाग लुट चुका था। धन के नाम उसके पास कुछ भी न था। यहाँ भी एक चचेरे भाई के घर भोजन-वस्त्र मात्र पर ही पड़ी हुई थी। न्यायोचित भाग के लिये लड़ना चाहती थी। परन्तु आजकल का न्याय भी तो राज-कर्तव्य की दृष्टि से नहीं मिलता, भीख में भी नहीं मिलता, यदि मिलता है तो केवल मात्र धन-बल से ही, बेचारी सद्यविधवा के पास

धन-बल न था। श्वशुरालय में उसे खड़े होने को भी स्थान न था। भाई स्वयं एक साधारण सा क्लर्क था। मँहगी के काल में भी भाई अलाउन्स आदि मिलाकर सौ-एक रुपये घर ला पाता था, कठिनता से बाल-बच्चों के मुख में अन्न-भोजन-जल पड़ता था। चचेरी बहिन का आगमन उसे कोई बहुत भला तो नहीं लगा, किन्तु हिन्दू घरों में कुछ भी हो भोजन यथा शक्ति दे ही दिया जाता है, अतः बेचारी न्यायोचित भाग पाने के लिये अदालत की गुहार लगाने के लिये अर्थ-बल कहाँ से पाती। कहाँ है वह काल, कहाँ है वह राम-राज्य, जब कि दीन-हीन दरिद्र ब्राह्मण भी चक्रवर्ती सम्राट राजा राम के घर पर, उनके महल के द्वार पर, खड़े होकर कह पाता था कि हे राम, तेरे राज्य में होने वाले किसी पाप के फल से, तेरे किसी दुष्कर्म से अकाल में ही मेरे पुत्र की मृत्यु हो गई, तू उसके लिये उत्तरदायी है। कहाँ है वह यादवेन्द्र का काल, जहाँ एक नारी के अपमान की ज्वाला में समस्त भारत के वीर भस्म हो गये, जहाँ एक अन्यायी के "सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन केशवः" कहने पर ही अन्याय के हनन के लिये महाभारत मचा दिया गया। कहाँ है वह होली जहाँ दरिद्र और धनवान दोनों ही समान भाव से महाराज के ऊपर रंग छोड़ पाते थे, कैसा था वह काल! दूर क्यों जाओ‥‥‥अभी कल तक ही तो अशोक के राज्य में न्याय सब के लिये ही सुगम था और तो क्या जहाँगीर के काल में भी दरिद्र धोबिन सहज ही राज्य की दुहाई दे सकती थी, किन्तु आज कहाँ है वह युग? आज का न्याय तो प्रायः उतना ही मँहगा है, जितनी कि अन्य सद्भावनाएँ। बेचारी दुखिनी बैरिस्टर सुरेन्द्र की शरण में आई, किन्तु बैरिस्टर साहब

किसी प्रकार भी बिना फ़ीस पाये केस लेने को तत्पर नहीं हुए। फ़ीस में कमी तो वह कर सकते थे, किन्तु बिलकुल छोड़ देना उन्हें स्वीकार न था और उस विधवा के पास आभूषण के नाम भी तो एक छल्ला भी नहीं था। अतः हताश, निराश रमणी का मुख देखने की ही वस्तु थी, दुखी तो गौरी भी हुई, किन्तु यह दृश्य उसके लिये नवीन न था। ऐसे दृश्य देखते देखते उन्हें देखना उनका स्वभाव ही बन चुका था। उस स्त्री की निराशाभरी, वेदना से चूर कड़वी बातें कठोर वाक्यावली सुन कर गौरी तो उठ कर चल दी अन्यत्र, पर शक्ति सोचती ही रही कि इसी प्रकार एक दिन उसकी माँ भी न जाने किस किस के सम्मुख न्याय की भीख के लिये झोली पसारे खड़ी थी, किन्तु वह भीख उसे नहीं मिली और नहीं मिली केवल इसलिये कि उसका मूल्य चुकाने की शक्ति उस में न थी। फिर शक्ति के आँसू भी प्रायः चुक गये थे। फिर दुखिनी जीवन के न जाने कितने उतार-चढ़ावों में से निकल कर एक दिन रोगी पतित, और समाज की दृष्टि में घृणित शरीर को यहीं छोड़ कर चली गई—दूर—सुदूर—क्षितिज के उस पार...। कौन जानता है एक दिन यह रमणी भी उस की माँ के समान ही समाज या राज्य की दुर्भेद्य न्याय-नीति के कारण असमय, अकारण ही पतन के गहरे गढ़े में बरबस ठेली जाकर मृत्यु को न प्राप्त हो जायेगी। शक्ति सदा से ही बुद्धिवादिनी थी। भावनाओं का वह सदा ही मज़ाक किया करती थी, किन्तु कुमार के प्रभाव से कुछ कुछ भावुक भी हो गई थी। उस ने सोचा कि जब यह सद्य विधवा अपने नन्हें पुत्र को लेकर इस अथाह सागर में जीवन-संघर्ष में बिना पाल-पतवार की नौका में ही कूद पड़ने को विवश कर दी गई•

है, तो मुझे ही क्या अधिकार है, कि मैं अपने पुत्र को अन्यायार्जित धन के सिंहासन पर अर्थजनित अकल्याणकर आदतों का शिकार बनने के लिए बैठा दूँ।··· माना कि धन उस में पूर्वजों का भी कुछ संचित है, किन्तु जो उस ने स्वयं संचित किया नहीं उसे उपयोग करने का उस को अधिकार भी क्या है ? माँ होकर मैं पुत्र को असत्य मार्ग पर नहीं डाल सकूँगी। मैंने उसे जन्म दिया है। उस के पिता का अन्तिम आदेश था सत्य और अहिंसा का पालन। मुझे किसी प्रकार भी हो उसे इस पथ को दिखाना ही पड़ेगा। किन्तु मैं कर ही क्या सकती हूँ ? बच्चे को पालना तो होगा ही उसके लिये भी तो धन की आवश्यकता है, उचित शिक्षा ही के लिये भी तो धन की आवश्यकता है······छिः, मेरा पुत्र क्या कालिज में न पढ़ेगा तो मनुष्य ही नहीं बन पायेगा। नहीं, नहीं मुझे अपने नन्हें को मानव बनाना है ग्रेजुएट नहीं, संसार में ग्रेजुएट, पोस्ट ग्रेजुएट बहुत से मिलते हैं, बेचारे भारत की जर्जर छाती इन्हीं भाड़े के टट्टूओं से बरबस भर दी गई है। मेकडोनेल्ड का बाबू बनाने का स्वप्न सच्चा हो गया है। स्कूलों और कालिजों से हम भी धड़ाधड़ यूरुप के—रूस के—नकलची केवल कापी मात्र ही पैदा कर रहे हैं, किन्तु आज तक इन स्कूलों कालिजों ने मानव कितने बनाये हैं, इन्सान कितने पैदा किये हैं, आदर्श कितने सम्मुख रख डाले हैं। प्रायः नहीं के बराबर······ तब क्या मेरा नन्हा भी इन्हीं कापियों, नकलचियों में से एक बन कर ही रह जाय······नहीं, नहीं उसे प्रोफेसर नहीं बनाना, वकील भी नहीं बनाना, डाक्टर भी नहीं बनाना, यदि बनाना है तो केवल मनुष्य-केवल मात्र इन्सान—इस से अधिक कुछ भी नहीं, तनिक भी नहीं। यदि

किसी दिन इस मांस के छोटे से लोथड़े को मनुष्य बना कर इस से कह पाई कि तेरे पिता मृत्यु-शैय्या पर लेट कर भी अहिंसा और असत्य की उपासना के लिये इसी देश में फिर जन्म लेने की इच्छा करते थे, तो मेरा जन्म सफल हो जायेगा। विदेश की नारी के सम्मुख देश की स्वतन्त्रता ध्येय हो सकता है, सोवियट नारी का अन्तिम लक्ष्य देश में मजदूर राज्य स्थापित करना हो सकता है, किन्तु भारतीय नारी का एक मात्र ध्येय तो अपनी सन्तान को मनुष्य बना देना ही है, फिर वह चाहे स्वयं इन्सान बन कर देश की उपासना करे अथवा न्याय की, विश्व-प्रेम की अथवा जाति-प्रेम की। सन्तान के शरीर का निर्माण अपने रक्त से करके—उसकी आत्मा का—उसके मन का—निर्माण भी मानवोचित ढंग से करना ही भारतीय नारी का कर्तव्य है। इस से अधिक मेरा और कोई भी लक्ष्य नहीं है, कोई भी उद्देश्य नहीं है। इसी एक ध्येय को लेकर मैं भाभी के कोमल मन का ठेस पहुँचाऊँगी, विस्तृत संसार में न जाने कहाँ कहाँ की ठोकरें खाऊँगी, किन्तु किसी मूल्य पर अपनी सन्तान की आत्मा की रक्षा मुझे करनी ही होगी, उसका चरित्र का निर्माण मुझे करना ही होगा। इस घर में रह कर उस की सुविधा नहीं। इस घर में रह कर तो वह अपने आप को अन्य प्राणियों की श्रेणी से दूर—बहुत दूर—केवल मात्र मोटर में बैठकर उसी मोटर के पहियों द्वारा निकलती हुई धूल में नहाते हुए मानवों को अपने से बहुत निम्न समझ कर ही रह जायेगा। यही तो उसे मानवत्व से बहुत दूर लेजाकर फेंक देगा। तब शक्ति किस मुख से उसे उस के पिता का स्वर्गीय संदेश दे सकेगी और फिर लौटाने का कोई मार्ग भी नहीं होगा इस जीवन में।...... नहीं नहीं।

मुझे इस संकल्प के लिये सब कुछ सहना होगा। मेरा एक मात्र संकल्प मेरा एक मात्र केन्द्र, स्वप्न है अपनी सन्तान, अपने रक्त मांस की सन्तान अक्षय कुमार को मनुष्य बनाना। इस संकल्प पर बड़े से बड़े आनन्द को, बड़े से बड़े आराम को बड़ी से बड़ी भावना को मुझे निछावर करना ही होगा। यही मेरा कर्तव्य है। यही नारायण के चरणों में मेरी निष्काम उपासना होगी। सहसा शक्ति को जान पड़ा कि यह उन्हीं प्रभु का आदेश है। उस के बड़े बड़े नयनों से आँसू बहने लगे, उस ने स्वयं बार बार कह उठना चाहा "त्वया हृषिकेष मया हृदयस्थिते यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।" उस के हृदय में घूम उठा" ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुनतिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया।"

नचाओ मुझे नारायण, खूब नचाओ, काठ पुतली की रस्सी अपने हाथ में ही रखो। केवल मात्र मेरे हृदय में स्थित रहो फिर जो भी नाच नचाओगे, मैं नाचूँगी, खूब नाचूँगी। मीरा नाची थी एक दिन, सूर को नचाया था प्रभु, तुलसी को नचाया, चैतन्य को नचाया, राम कृष्ण को नचाया, ज्ञानेश्वर को और न जाने किस किस को नचाया, नारायण। इस युग में भी निरन्तर हृदय में पैठ कर महात्मा गाँधी को भी नचा रहे हो। आश्रमवासी सर्पों में भी उन्हें तुम्हारे ही दर्शन होते हैं।......सब को ही तो नचा रहे हो, मैं भी तो एक काठपुतली ही हूँ। नचाओ मुझे भी नारायण, नचाओ, किन्तु डोरी तुम्हारे ही हाथ में रहे, प्राण मेरे.........

"सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रजः।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥"

शक्ति के हृदय में अद्भुत शक्ति का संचार हो रहा था। उसने धीरे धीरे गौरी के पास जाकर कहा—"दीदी।"

"क्या है बहू ?"

शक्ति को शब्द ही नहीं सूझ रहे थे अपने भाव गौरी पर प्रकट करने को। बड़े यत्न से बड़ी कठिनाई से शक्ति केवल इतना ही कह पाई—"दीदी, अब इस घर को छोड़ने की आज्ञा दो।"

"छिः, बहू, जाकर काम करो और अधिक न जलाओ।" कह कर झट पट गौरी भंडार घर में घुस गई। हत-ज्ञान सी शक्ति बाहर ही खड़ी रह गई।

किन्तु निश्चय दृढ़ था। आन्तरिक प्रेरणा जिसे एक बार मार्ग सुझा देती है, जिसके अन्तर में पैठ कर स्वयं नारायण उसे प्रेरणा देते हैं, तो विश्वभर में कोई भी कठिनाई उस व्यक्ति का मार्ग रोक नहीं सकती। शक्ति की यही अवस्था थी। उसके अन्तर में स्वयं हृषीकेश आदेश दे रहे थे, उनके संकेत पर उसे चलना ही था। आधी रात को नन्हें अक्षय को गोद में उठा कर ज्यों का त्यों घर छोड़ कर केवल मात्र एक साधारण सी पोशाक पहने बच्चे को छोटे से खुरदरे कम्बल में लपेटे शक्ति गौरी के बन्द द्वार पर आकर रुक गई।

अक्षय को गोद में लिये लिये ही उसने बन्द द्वार के सम्मुख पृथ्वी पर माथा टेक कर प्रणाम किया, फिर मन ही मन कह उठी—"जाती हूँ, दीदी, किन्तु कभी और कहीं भी भारतीय नारी की यह मूर्ति भूल न सकूँगी। भारत की रमणी दुर्बल कही जाती है, अबला कही जाती है, पिंजरे का पक्षी भी कहने वाले हैं, किन्तु उसके

कर्कश स्वर और झगड़ालू, झुँझलाये हुए स्वभाव के भीतर जो दया-मायापूर्ण नारी छिपी बैठी रहती है उसे सब देख पाते नहीं। तुम चाहे जो हो हृदयहीन नहीं। तुम्हारे स्वर में कठोरता थी, शासन की गन्ध थी, अधिकार की भावना थी, किन्तु तुम्हारे हृदय में भरा हुआ अशेष स्नेह कितने लोग पा जाते हैं इसकी कोई गिनती है ही नहीं। आशीर्वाद दो कि तुम्हारे जैसा ही स्नेहपूर्ण हृदय तुम्हारा स्नेह का यह नन्हा सा पात्र भी पा जाये। दीदी······" शक्ति का गला भर आया एक बार मोहभरी दृष्टि से उसने अपने कमरे की ओर देखा फिर अपने कमरे में अपनी चारपाई के पास पड़ी हुई चारपाई पर सोती हुई उमा का ध्यान किया। इच्छा हुई कि लौट चलूँ, अभी जानता ही कौन है, देखा ही किसने है। दीदी का स्वभाव कठोर अवश्य है, किन्तु इतना स्नेह कहीं विश्वभर में ढूँढे भी मिलेगा, नहीं······। चलूँ लौट चलूँ अपने कमरे में, बिस्तर बिछी हुई अपनी चारपाई पर,······नहीं, नहीं माया! तू छिन्न-भिन्न हो जा, मोह! तू फट जा······प्रभु, मुझे शक्ति दो, मुझे "अक्षय" को मनुष्य बनाना है, केवल मनुष्य, धनी भी नहीं, ग्रेजुएट भी नहीं, विद्वान भी नहीं······ ज्ञानवान भी नहीं, मुझे तो केवल मात्र, एक मात्र मानव बनाना है। उसके लिए चाहे कितना भी कठिन मूल्य मुझे क्यों न चुकाना पड़े। खड़े खड़े शक्ति मानसिक संघर्ष का सामना कर रही थी। अन्तिम बार उसने गौरी के द्वार पर सिर टेक कर प्रणाम किया। कितनी भक्ति, कितनी श्रद्धा थी और कितना स्नेह था उस प्रणाम में, कब किसी देवता ने भी इतना स्नेहपूर्ण अज्ञात मौन मूक प्रणाम पाया होगा।

दूसरे ही क्षण शक्ति अक्षयकुमार को गोद में छिपाये द्वार से बाहर हो गई। शून्य में रात्रि के उस काले अन्धकार में किसने जाना कि वह रमणी गन्तव्य स्थान-सम्बन्धी विचार करने के लिये अरुणोदय तक कहाँ प्रतीक्षा करती रही। उदित सूर्य्य ने उसका मुख कहाँ चूमा, कौन जानता है।

"कठिनाई"

"रुक्मणी, जैसे भी हो अपना मार्ग तो संसार में बनाना ही होगा।"

"सो मैं जानती हूँ शक्ति, किन्तु मैं तो तुझे अब भी यही सलाह दूँगी कि तू अपने जेठ के पास ही रह। तेरे कहने से जान पड़ता है तेरी जिठानी अच्छी है और भी कोई कठिनाई नहीं है, फिर अकारण ही क्यों निश्चित को छोड़ कर अनिश्चित के पीछे बावली हुई फिरती है। बहिन इन आदर्शों में कुछ नहीं धरा है। वास्तविकता ढूँढो।"

"रुक्मणी, मैं जानती हूँ कि तू मेरी हितचिन्तिका है, किन्तु मैं इस समस्या पर बहुत कुछ विचार कर चुकी हूँ। विचार करने के पश्चात ही अनिश्चित की ओर चली हूँ।"

"किन्तु अनिश्चित का मार्ग उतना सुगम नहीं है, जितना तुम समझे बैठी हो।"

"अनिश्चित का मार्ग निश्चित की अपेक्षा कभी भी अधिक सुगम नहीं हुआ करता, किन्तु फिर भी मनुष्य को कभी कभी अनिश्चित की ओर भी जाना ही पड़ता है। राम जब वन-गमन कर रहे थे तो

पथ उनका देखा-सुना हुआ नहीं था। महात्मा बुद्ध जब अचानक एक दिन घर से निकल गये थे, तो किस पंथ पर जाना है सो निश्चित नहीं था। बड़े लोगों से सामना करने की क्षमता तो मुझ में नहीं है, किन्तु मेरा विश्वास है कि अनिश्चित पथ पर भी लोगों को जाना ही पड़ता है, चाहे वह सफल हो परिणाम में अथवा असफल।"

"शक्ति, एक दिन बिना जाने-सुने ही जिस समय तू अनजान लड़की के वेश में स्कूल में प्रविष्ट हुई थी तो अचानक ही मैं तुझ से प्रेम करने लगी थी। तेरी दृष्टि की वेदनाभरी मुस्कान मुझे बड़ी ही भाती थी। उसी बचपन के प्रेम के नाते तेरी भलाई की बात सोच रही थी, किन्तु जब तू अपना मार्ग स्वयं बनाने पर ही तत्पर है तो क्या कहूँ।"

"पर यह बताओ तुम मुझे सहायता दोगी। मैंने बी. ए. तुम्हारे साथ ही पास किया है। फिर तुम बी. टी. करने चली गई और मैं एम. ए. करने लगी। सदा ही मैं जैसी छात्रा रही हूँ सो तुम्हें ज्ञात ही है। अब क्या मैं तुम से यह आशा कर सकती हूँ कि तुम अपने स्कूल में मुझे पढ़ाने का कोई स्थान दे दोगी।" शक्ति ने विश्वास भरे स्वर में कहा। सुनते ही मिसिज चट्टे व्यंगभरी मुस्कान से मुस्करा उठी। कितना दर्द भरा व्यंग छिपा था उस मुस्कान में सो और किसी ने न जाना हो तो भले ही न जाना हो, किन्तु शक्ति ने स्पष्ट रूप से पढ़ लिया फिर भी जानकर भी वह अनजान ही बनी रही। मिसिज चट्टे कुछ देर ठहर कर बोली—"शक्ति, मैं एक स्कूल की प्रधान अध्यापिका हूँ। विद्या बुद्धि में सचमुच ही मैं कम आज कम अपने शिक्षा-संबंधी विषय में किसी भी गवर्निंगबोडी के सदस्य से कम नहीं हूँ, वरन

हद तक अधिक समझदार हूँ, किन्तु फिर भी हमारी बच्चियों को शिक्षा देने के कौन अधिक उपयुक्त है सो मैं प्रबन्ध कारिणी सभा की समझ में नहीं जान पाती हूँ। वही लोग जो दिन भर किसी दूर सुदूर स्थान में शिक्षा से परे बिताते हैं, यह मुझ से अधिक अच्छी तरह समझने का दावा करते हैं। उनका दावा सच्चा है अथवा झूठा मैं नहीं जानती, किन्तु यह अवश्य जानती हूँ कि हर बार उनकी उपयुक्तता का माप-दंड केवल मात्र आवेदक का उनका सम्बन्धी या अधिकाधिक परिचित होना अवश्य होता है। ऐसे व्यक्तियों के अतिरिक्त भी योग्य व्यक्ति संसार में हैं यह मानना उनकी दृष्टि में एक भयंकर अपराध है, दोष है। अब तुम स्वयं सोच सकती हो कि मेरा मुख्याध्यापिका होना क्या अर्थ रखता है ?"

"तब मैं क्या इस दिशा में काम करने की इच्छा का ही त्याग कर दूँ ।" शक्ति ने कुछ देर तक सोच कर कहा।

"सो तो भला मैं कैसे कहूँ ? शिक्षा के अतिरिक्त और कोई दिशा भी तो भारत में हम लोगों के लिये उचित नहीं है। जो है भी तो केवल मात्र उपहासजनक। हाँ डाक्टरी भी है, सो उस में अब तुम्हारा साधनहीन होकर जाना कठिन है। शक्ती, तू आवेदन-पत्र तो भेज दे, मैं एक बार फिर देख लूँ न्याय का पक्ष कहाँ तक प्रबल है ? मैं जानती हूँ तूने एम. ए. तक पढ़ा है, तेरी जैसी विस्तृत ज्ञानवाली छात्राएँ भी गिनी चुनी ही होती हैं। बी. ए. में तू प्रथम भी आ चुकी है, गणित और तत्वज्ञान जैसे कठिन विषय लेकर। हमारे स्कूल में एक गणित पढ़ाने के लिये अध्यापिका की आवश्यकता भी है, किन्तु प्रार्थी है एक बी. ए. तक पढ़ी हुई हमारे प्रधान की किसी

सम्बन्ध की एक भान्जी। किसी भी परीक्षा में यावज्जीवन उसने तृतीय श्रेणी से अधिक पाई ही नहीं है। किन्तु वही महिला तेरी प्रतिद्वन्द्वी होगी और मैं आज कह रखती हूँ कि लखपती से विवाह की प्रतीक्षा करने वाली, लखपती की पुत्री, इस सौ रुपये की नौकरी के प्रश्न में तुझे पीछे छोड़ जायगी परास्त करके।"

"हूँ।" पीछे से शक्ति ने कहा।

"फिर भी मैं प्रयत्न करूँगी। तू आवेदन-पत्र तो दे।"

"सुनो मैं तुम्हारा भी अहसान नहीं चाहती। जो कभी भी किसी का अहसान उतारने की शक्ति अपने में नहीं पाती उसका किसी का अहसान लेना भी बड़ा ही अपमानजनक है। तुम रहने दो, मैं तुम्हारी दया की पात्री न बन सकूँगी, कुछ और ही उपाय सोचना पड़ेगा।" शक्ति का निराश थका हुआ स्वर भी खूब दृढ़ था।

"शक्तो, यह दया नहीं है, अहसान भी नहीं है। शायद तू बुरा मान गई, किन्तु मैं तो अपनी व्यथा-कहानी, अपने बड़े ही भारी अपमान की अत्यन्त दुसह्य किन्तु गूढ़ गाथा तुझे सुना रही थी। विश्व भर में किसी से यह कह पाती भी तो नहीं, फिर भी दासत्व की—नौकरी की—ज्वाला अपने हृदय में दबाये फिरती हूँ, यद्यपि यह बड़ी ही कठिन है, किन्तु और उपाय भी क्या है? उसे तो सहना पड़ेगा ही। न सहने पर भी तो गुजारा नहीं। कम्यूनिस्ट कहते हैं विश्व भर के सारे अत्याचार धनियों की ही ओर से होते हैं, दरिद्रों पर, किन्तु उन्हें क्या मालूम है कि अनेक अत्याचार संसार में धनियों द्वारा नहीं वरन केवल मात्र उनके निर्धन प्रतिनिधियों द्वारा ही मानव के तन पर नहीं, धन पर नहीं, वरन मन पर होते हैं।

जिनका प्रतिकार करने के लिए किसी क्रान्ति की व्यवस्था भी नहीं होती और कहीं आवाज भी नहीं उठाई जाती, किन्तु वह किसी अंश में भी दूसरे प्रकार के अत्याचारों से न्यून कष्टकर नहीं होते। शरीर का अत्याचार कठिन है, किन्तु उससे भी कई गुणा अधिक असह्य है मन की सद्‌भावना पर किया हुआ अत्याचार, सो मुझसे अधिक और शायद कोई भी नहीं समझ पायगा।" वास्तव में मिसिज चेट्टे का मन गहरे विषाद से भर उठा।

शक्ति सहम उठी।

"अच्छा बहिन, आवेदन-पत्र दे दूँगी। तुम्हारे निकट बैठ कर प्रतीक्षा भी कर लूँगी उत्तर की, किन्तु······"

"सो किन्तु-परन्तु रहने ही दो, बालपन की सखियों में किन्तु-परन्तु नहीं हुआ करते।"

"अच्छा।" कह कर शक्ति चुप हो गई। मिसिज चेट्टे नन्हें अक्षय को गोद में लेकर प्यार करने लगी। अक्षय तब तक माँ कहना खूब सीख गया था। "बीबी" "उमा" भी कह लेता था। आज प्रातः ही उसने माछी कहना भी सीखा था।

"माछी का बेटा है न, अक्षय" मिसिज चेट्टे कहने लगी। शक्ति नन्हे की सरल बाल-क्रीड़ा में स्वयं अपने व्यक्तित्व को—उस व्यक्तित्व से लगी वेदना को—सहसा भूल गई। अचानक ही उसका हृदय कह उठा, "मेरे बाल गोपाल, मेरी गोद में जब आये ही हो तो केवल गोद तक ही सीमित न रहना, मेरे मन में बैठ जाना, नारायण।" बाल-गोपल उस समय कह रहे थे "माछी, माँ माए" और मिसिज मुस्करा रही थी।

"उत्तरार्ध"

श्री

"इच्छा के विरुद्ध भी मैं उधर खिंचती ही जाती हूँ। पर क्यों ? उसमें ऐसा है ही क्या ? एक दुर्बल सा, लम्बा सा, सदा चुप रहने वाला बीस-एक वर्षीय युवक, बस यही तो ? बोलते समय उसकी दृष्टि स्थिर रहती है किसी अज्ञात दिशा के अज्ञात प्रकाश की ओर। जान पड़ता है कि उसे आँखें बन्द करके भी कुछ देख पड़ता है, तब ही तो वह प्रायः आँखें बन्द करके भी भली प्रकार बात कर पाता है। उसका शरीर दुर्बल है, किन्तु पीले मुख पर भी एक उज्वल छाया सी पड़ी रहती है। वह महान नहीं है, उसमें कुछ भी महत्व नहीं है, फिर भी उसकी आँखों की चमक से मैं सहम जाती हूँ। वह मुझे अच्छा लगता है, बड़ा ही अच्छा लगता है। उस दिन डिनर पर ममी ने मेरे कान में चुपके से कहा था—'देख वह लड़का तुझे कैसा लगता है ? गोरे रंग का बड़ी ही लुभावनी आकृति वाला नवयुवक था, ऊँचा, स्वस्थ, दृढ़; उसके गालों पर स्वाभाविक लालिमा थी, उसके होठों पर कभी न मुरझाने वाली हँसी। उसकी बातचीत में नम्रता थी, शालीनता थी, कोमलता थी। बोलते समय उसका चेहरा खिल उठता था। हाल ही में आई. सी. एस.

होकर वह स्वदेश लौटा था। स्त्री-स्वातन्त्र्य, सहशिक्षा और अन्य ऐसे ही विषयों पर जब वह मुख खोलता था, तो प्रायः उसके उदार विचारों पर हम जैसी कालिज की लड़कियाँ भी चकित हो उठती थीं। मेरे साथ वह टैनिस खेलता था। बड़ा ही अच्छा खिलाड़ी है, किन्तु फिर भी मैं न जाने क्यों कल्पना कर बैठी कि काश उसके स्थान पर वही दुर्बल, और वेदनाभरी आँखों वाला युवक होता। मर्मी ने फिर छेड़ा, पर मैं जाग थोड़े ही रही थी, मैं तो अचानक ही स्वप्नों में खो गई थी। मैं जानती हूँ कि वह तो मेरे एक ही इशारे पर मेरा बन जाने में अपना सौभाग्य समझेगा। पर मैं? छिः, मैं क्या कभी भी उसकी हो सकती हूँ? मैं मानती हूँ कि मानव मात्र एक ही हैं, धनी पिता की पुत्री हो जाने से ही मैं किसी भी निर्धन के समकक्ष रखने योग्य न रही हूँ, सो बात नहीं; किन्तु फिर भी यह मेल बैठता ही कहाँ है? मेरा रूप, मेरा उद्दाम यौवन……"

श्री ने पैर फैलाये हुए आराम-कुर्सी पर बैठे ही बैठे लिखते लिखते बगल में रखे बड़े दर्पण पर दृष्टि डाली। सचमुच ही वह बहुत सुन्दर थी। कालिज के नाटकों में उसे नायिका का पार्ट दिया जाता था, उसके स्वर में बड़ी ही मिठास थी, कहीं भी कोई पिकनिक या पार्टी होने पर श्री संगीताराधन के लिये लाचार करदी जाती थी। उसके मुख पर सबसे अधिक लुभावनी थी उसके सदा मुसकराते हुए होठों की ललाई। ठीक बीच में सीधी खड़ी हुई नाक भी सुडौल थी, पर सबसे सुन्दर थीं उसकी मदभरी आँखें। गाते समय जब एक स्वाभाविक छविसी डोल जाती थी उसकी आँखों में तो दर्शक स्वयं अपने आप को भूल जाता था। काजल लगा

कर तो वह आँखें कुछ कहने सी लगतीं थीं। उस दिन श्री ने काजल नहीं लगाया था सिर धोकर आई थी, बाल भी अभी बिखरे ही पड़े थे। कार्लमार्क्स का 'कैपीटल' गोद में रखे श्री एकटक अपनी उस लुभावनी आकृति की ओर दर्पण में देखती रही। सखि ने उसे एक शुद्ध खादी की अपने हाथ की कती धोती दी थी। साड़ी के बीच का भाग बिलकुल श्वेत था, किनारों पर उसने स्वयं ही गुलाब के फूलों को पत्तों के बीच-काँटों सहित सुई-धागे की सहायता से काढ़ दिया था। वह साड़ी श्री को बड़ी ही प्रिय थी, पहनती भी उसे कभी कभी ही थी, अधिक पहनने से फट जाने का डर जो था। उस दिन रविवार था भोजन के बाद ही रेलवे कालोनी की ओर जाना था, यही उसका आज का प्रोग्राम था। सुभाष धींगरा भी आने वाला था। इसीलिये उसनें आज विशेष रूप से वह साड़ी निकाली। उसे जाना था न रेलवे कालोनी में, जहाँ वही दुबला-पतला कुछ गेंहुये से रंग का युवक मिलता है। कल रात से ही रह रह कर श्री को उसी का ध्यान आ रहा था। एक समय श्री को होने लगा था कि वह सुभाष को प्रेम करती है, सुभाष भी उसे प्रेम करता है; दो एक से विचारों वाले युवक और युवती का शारीरिक मिलन भी शीघ्र ही हो जाना चाहिए। उसका कहना था कि शारीरिक मिलन हो जाने पर हम शायद अधिक उत्साह से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ सकेंगे, कन्धे से कन्धा भिड़ाये।

उस दिन वे दोनों सहकर्मी, साथी, कामरेड्स जा पहुँचे नगर के दक्षिण ओर स्थित रेलवे कालोनी में—मजदूर तथा अन्य ऐसे ही लोगों की अवस्था का अध्ययन करने। पहले आती थी मजदूरों की

साधारण सी बस्ती, नीचे सील भरे कुछ क्वार्टर्स, प्रकाश आने के लिये शायद उन में स्थान रखा गया था, किन्तु प्रकाश शायद कभी कभी ही आता हो। पड़ोस की ही कतार के बड़े बड़े ऊँचे ऊँचे मकानों ने उस प्रकाश को रोक दिया था। धुएँ से भरे हुए इन्हीं मकानों में से एक की एक कोठरी में जब सुभाष के पीछे पीछे श्री ने प्रवेश किया तो उन्हें तीन व्यक्ति वहाँ बैठे हुए दिखाई दिये। एक फटी सी दरी के तीन कोनों पर। चौथा कोना शायद आगंतुकों की प्रतीक्षा ही कर रहा था। श्री पहली ही बार ऐसे दुर्गन्धि-पूर्ण स्थान पर नहीं आई थी, अतः उस ने मुँह फेरा तो नहीं, पर एक दो क्षण को नाक पर रूमाल लगा लिया, तब ही कोने के एक अँधेरे भाग में बैठे हुए उस दुर्बल युवक के मुख पर कुछेक रोष के चिन्ह दीख पड़े। युवक मानों जलती हुई दृष्टि से कह रहा था इस नई आगन्तुका से कि यदि तुम इस स्थान की दुर्गन्धि भी नहीं सह सकती हो, जहाँ निशि-वासर हमें रहना, उत्पन्न होना, बड़ा होना और मरना पड़ता है, तो फिर किस बल पर तुम हमारा विश्वास ग्रहण करने आई हो?" मन के भाव अक्षरशः श्री के कानों में उतर गये। उसने नाक से रूमाल तो तुरन्त ही हटा दिया, किन्तु उस असह्य सील से उत्पन्न दुर्गन्धि को सहने में उसे कम कष्ट नहीं उठाना पड़ा।

"यह महिला यहाँ आकर तुम्हारे स्त्री और बच्चों को शिक्षा दिया करेंगी और भी बहुत सी काम की बातें बताया करेंगी।"

"हुँ" उस युवक ने हुँकार की सी ध्वनि में कहा। सुभाष कहता ही जा रहा था—"यह तुम्हें समाचार-पत्रों से समाचार सुनाया करेंगी। तुम्हारे बच्चों को अक्षर-ज्ञान करवायेंगी, तुम्हारी स्त्रियों को

बच्चों के स्वास्थ्य की रक्षा के तथा अन्य ऐसे ही उपयोगी कार्य्य सिखाया करेंगी। हाँ, एक और बात सब से आवश्यक। तुम्हारी महिलाओं को घर बैठे बैठे ही सुई की सहायता से अपनी आर्थिक अवस्था को ठीक करने का प्रबन्ध भी यह करेंगी।"

"युवक, वही दुर्बल सा युवक बोला—"किन्तु उस से क्या होगा? जो स्थान विपाक्त हो चुका है उस पर मरहम क्या काम देगा? लीपा-पोती से उसका उपाय हो चुका।" कुछ ऐसे प्रभावशाली ढंग से उस युवक ने जो शायद मजदूर ही होगा कहा। एक क्षण को श्री उसकी ओर देखती ही रही। कहाँ यह तो अनपढ़ लाईनमैन या कुली की बात नहीं है, इस में से तो गम्भीर विवेचना, और अध्ययन की ध्वनि आती है, सोचा श्री ने। सुभाष भी कुछ सिट पिटा कर बोला—"पर वह उचित उपाय तो हम करेंगे ही, तुम यहाँ बैठे बैठे तो केवल अपनी कमियों का क्षय ही कर सकते हो। आखिर हम सब लोग जो अपने जीवन का आनन्द छोड़ कर इस सिद्धान्त के पीछे दौड़ रहे हैं, तो कुछ न कुछ होकर तो अवश्य रहेगा, किन्तु तात्कालिक व्यवस्था की शृंखला ठीक करने के लिये भी तो कुछ करना ही होगा। हम मानते हैं कि अपने पशु-तुल्य जीवन के उत्तरदायी तुम नहीं, वरन तुमको वैसा बना डालने वाले पूंजीपति ही हैं। पैर के तलवे से लेकर नाक तक तुम्हारा रक्त बुरी तरह शोषण करने वाले ही इसके उत्तरदायी है, किन्तु केवल मात्र यही कह देने से तो काम चलता नहीं है जो दोषी हैं उन्हें परास्त तो हम करेंगी ही। कार्ल मार्क्स के शब्दों में हम संसार भर के मजदूर एकत्रित होकर विश्व-विजय करेंगे, किन्तु उसके लिये तो हमें तुम्हें मार्ग दिखाना होगा, तुम्हारा नेतृत्व करना

होगा। और जिस दिन तक हम परिस्थितियाँ उसके लिये तैय्यार कर पायें, तब तक तो तुम्हें कुछ न कुछ करना ही होगा और हमें तुम से करवाना ही होगा। हमारा मोहल्लों का काम तुम्हें आर्थिक सहायता भी पहुँचायेगा और अमर एकता का सन्देश भी पहुँचायेगा। इसका किसी प्रकार भी विरोध करना तुम्हें शोभा नहीं देता।" सुभाष ने समझाते हुए कहा।

"ठीक है, विरोध मैं नहीं करता, किन्तु हम दरिद्र मजदूरों की बात तुम लोग पेट भर चुकने के पश्चात, बहुमूल्य खद्दर की कमीज और साड़ियाँ पहनने के प्रश्चात किस प्रकार सोच लेते हो सो मुझे ठीक ठीक समझ नहीं पड़ता। यह न समझना कि युग-युगान्तर से केवल अपमान, धक्के और घृणा ही पाकर हम अविश्वासी हो गये हैं, या विश्वास कर पाने योग्य मन हमारा रहा ही नहीं है, वरन बात यह है कि दूर से ही हम लोगों को पढ़ कर जो एक भ्रम या तो फैशन की तरह और या क्षणिक आवेश में जीवन का ध्येय हमारा उपकार करना बना बैठते हैं, वे समय आने पर एक सूट या एक सुन्दर सी साड़ी का लोभ नहीं छोड़ पाते. उन पर विश्वास करना हमारे लिये अवश्य कठिन हो उठता है।"

वह किसी भी ओर देख नहीं रहा था। उसकी दृष्टि सदा की भाँति शून्य सी ही थी, किन्तु न जाने क्यों श्री को लगा कि युवक का व्यंग उसी की ओर है। वह साम्यवादी है। स्कूल की दसवीं कक्षा से ही आज सैकेन्डईयर तक वह साम्य-वादी ही है। वह न केवल अपने आपको जोर शोर से कम्यूनिस्ट कहती है, वरन उसने कोई एक प्रतिज्ञा-पत्र भी भर दिया है। उसकी मित्र-

मण्डली भी कामरेड्स की ही है। कालिज के लेक्चरों के बीच भी कभी उसे अपनी रिपोर्टों से फुरसत नहीं मिलती, सदा पेन—बढ़िया पारकर फाउन्टेन पेन—कापी के कागजों पर या लेटर पेपर पर या सादा कागजों पर ही चलता रहता है। किसी सहपाठिका के पूछने पर कि क्या कर रही है, वह तनिक सा मुँह उठा कर किन्तु तुरन्त ही फिर वैसे ही कागज पर झुक कर लिखते हुए कह देती है, रिपोर्ट लिख रही हूँ। अधिक पूछ ताछ पर मालूम होता है कि रिपोर्ट किन्हीं दो चार लड़कियों को अपने प्रभाव से, जबरदस्ती से या किसी अन्य कारण से एक स्थान पर बिठा कर लोकयुद्ध पर एक आध घंटे बातचीत कर लेने भर की रिपोर्ट है। मीटिंग भी प्रायः ऐसी होती है जिस में अधिकांश सम्मलित होने वाली छात्राएँ प्रायः श्री से जूनीयर होती हैं, कुछ समझें या न समझें, दल के दो चार गीत जो उन्हें आते हैं किसी न किसी अवसर पर बड़े जोर शोर के साथ गा देती हैं। ऐसी रिपोर्टें प्रायः सारे दिन ही लिखी जाती हैं, किन्तु कभी कभी लम्बी छुट्टी होने पर भी किसी और प्रकार से समय निकाल कर "रूस की स्त्रियों पर" "जापान के अत्याचारों पर" या "विश्व-मजदूर-साम्राज्य पर" या, अन्य किसी ऐसे ही विषय पर रिव्यू भी हो जाता है। साईकिल के पैडल पर पैर मार कर अक्सर ही काफी हाऊस की ओर कोई न कोई मीटिंग में सम्मिलत होने के लिये जाते हुए भी श्री प्रायः दिखाई पड़ती है। कई बार उस के प्रभावशाली व्याख्यान ने कालिज की छात्रावृन्द को हड़ताल करने या मजदूरों की दुर्दशा के वर्णन सुनकर आँसू पोंछने को भी लाचार कर दिया था। उस की वाणी में

वीणा की सी झंकार भी है और गरजती विद्युत की सी कड़क भी, किन्तु अपने ही शब्दों में उसने एक दिन बड़े ही उद्गार भरे दिल से अपनी एक सखी से कहा था—एक ओर घोर कम्यूनिस्ट होते हुए कठिन से कठिन कार्य्य करने में दक्ष होते हुए भी, दूसरी ओर मैं बड़ी ही आरामतलब हूँ। किसी दिन भी थक जाने पर जब मेरी दासी मेरे पैर दबाने लगती है तो मैं यह सोच ही नहीं पाती हूँ कि अपने शरीर के लिये ऐसा करवाने का मुझे अधिकार ही क्या है? ममी जब कभी कोई सुन्दर सी मूल्यवान साड़ी ले आती हैं तो उसका लोभ भी मैं छोड़ नहीं पाती। कालिज में या अन्यत्र कोई नया फैशन सुन्दर सा दिखाई पड़े तो मैं मजदूर-समस्या भूल कर वैसा ही वस्त्र झट पट बनवा लेती हूँ, यहाँ तक कि अपनी सखि सहेलियों की सुन्दर सुन्दर भेंटें भी अस्वीकार नहीं कर पाती।" सखि ने इस पर हँस कर कह दिया। "अभी प्रीमैच्यूर हो। धीरे धीरे त्याग का पाठ भी पढ़ लोगी। और साम्यवाद कोई, फकीरों का सन्यास तो है ही नहीं। हम स्वयं मजदूरों की तरह रहना नहीं चाहते, वरन हम तो मजदूरों को अपने स्टैन्डर्ड पर लाना चाहते हैं फिर भला हम क्यों उनके रहने के स्टैन्डर्ड पर पहुँच जायें?" श्री ने भी निर्विवाद यही मान लिया था। कालिज की अन्य जूनीयर छात्राओं की सेवा भी वह निश्चिन्त मन से ग्रहण कर लेती थी, किन्तु आज उसे जान पड़ा कि व्यंग उस दुबले युवक ने जान कर उस पर ही किया है।

अकारण ही श्री झल्ला उठी, अभी तक वह कुछ भी नहीं बोली थी—"तुम्हें यदि हमारी आवश्यकता नहीं है तो न सही हमें काम

करने के लिये भी जगह की कमी नहीं है।" श्री के स्वर में उस की झुँझलाहट टपकती थी। इस बार युवक ने अत्यन्त नम्र स्वर में कहा– "देवी जी क्षमा करें, मेरी बात से आप को कष्ट पहुँचा दीखता है, किन्तु इसी संयम की ही तो आपको यहाँ आवश्यकता होगी। मजदूर पत्नियाँ शिक्षित नागरिकाएँ नहीं होंगी। यदि वास्तव में आप उन में काम करना चाहती हैं तो भगवान आप का कल्याण करें, किन्तु आप दूर रहकर उन्हें वास्तविक रूप से समझ पायेंगी नहीं। जब तक आप उनकी इतनी अपनी न हो उठें कि बजाय वह आपको आकाश के नक्षत्र की तरह देखने के अपने में ही से एक समझ कर गाली दे सकें, झगड़ सकें, तब तक आप उन्हें नहीं समझ पायेंगी। क्षमा करें, बहिन जी, किंतु मजदूरों के नेता बड़े घरों में न पैदा होकर यदि मजदूरों की झोंपड़ियों से ही मिलें तो अधिक श्रेयस्कर हो। बड़े घरों में उत्पन्न होकर वह त्याग करेंगे, महान त्याग करेंगे। जान बूझकर उस त्याग का अभिमान भी वे नहीं करेंगे, किंतु अनजाने ही उनके मन में अपने त्याग का जो अभिमान जाग उठेगा उस के बल पर दूसरों के प्रति सहज ही जो दया-दृष्टि वे दिखाना चाहेंगे, उसे सब लोग सह सकेंगे अथवा नहीं इस में मुझे पूर्ण सन्देह है।"

कह कर वह चुप हो गया। बड़ी देर तक और भी बातें होती रहीं। स्कीम भी बनती रही, कार्य्य-प्रणाली भी, किन्तु फिर वह युवक एक शब्द भी नहीं बोला। बिलकुल ही नहीं बोला। श्री भी नहीं बोली, एक दम चुपचाप सोचती रही, कितना सत्य भरा हुआ था उन शब्दों में। श्री सत्य की अवहेलना करना अभी सीखी नहीं थी। वह कोई राजनीतिज्ञ नहीं थी। उसी दिन से उस दुर्बल युवक के

अद्भुत व्यक्तित्व ने श्री पर अद्भुत प्रभाव डालना आरम्भ कर दिया। वह उसकी ओर खिंचने सी लगी, अनजाने ही, स्वयं ही, इच्छा के विरुद्ध भी। कैसा चुम्बक जैसा व्यक्तित्व है उस युवक का, सोच रही थी श्री।

श्री बहुत ही अच्छी लड़की थी बहुत ही सुशील। कालिज की छात्रा-वृन्द में तो उसे सब ही प्यार करते थे। अध्यापिका गण भी उस पर सहज स्नेह रखतीं थीं, किन्तु यकायक श्री की दृष्टि एक बार फिर दर्पण की ओर पड़ गई। दर्पण में पड़ने वाली उस की प्रतिच्छवि बड़ी ही आकर्षक थी, मांग के पास से कानों की जड़ों तक आने वाला बालों का घुमाव बड़ा ही सुन्दर लग रहा था। श्री ने मन ही मन सोचा यह अद्भुत रूप, देव-तुल्य सौंदर्य उस दरिद्र दुबले-पतले युवक के चरणों पर लोट नहीं सकता ?" तुरन्त ही श्री सम्हल गई। कुछ भी हो, उस ने हिन्दू घर में जन्म लिया था। बाहर बाहर विदेशी सभ्यता से प्रभावित होने पर भी मन ही मन एक दम शुद्ध हिन्दू स्त्री ही थी। श्री को अपना विचार स्वयं ही अनुचित सा जान पड़ा। कहीं कुछ त्रुटि सी है, भूल सी है, उस ने जाना, किन्तु फिर भी उस भूल का प्रतिकार करने की शक्ति क्या उन व्यक्तियों में हो सकती है जिन्होंने संयम के बल से अपनी इन्द्रियों को, और इन्द्रियों से भी कहीं अधिक प्रबल मन को वश में नहीं किया हुआ है, जिनका मन तप के बल से दृढ़ और संयमित नहीं है। सचमुच ही मनुष्य अत्यन्त दुर्बल प्राणी है, अत्यन्त ही दुर्बल। इन्द्रियाँ अत्यन्त प्रबल हैं उन पर विजय पाना भी कोई आसान काम नहीं है, किन्तु फिर भी उन पर विजय पा सकने योग्य शक्ति मानव में है ही

और इसी शक्ति का अभ्यास हिन्दू नारी को आरम्भ से ही कराया जाता है। यूँ तो पुरुष को भी संयम की उतनी ही आवश्यकता है। किन्तु नारी मातृत्व की प्रतिमा है। जातियों के इतिहास उसी की गोद के आधार पर बनते बिगड़ते हैं, इसीलिये उसका उत्तरदायित्व अधिक है और इसी कारण भारतीय नारी को पुरुष से भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण स्थान देकर उसे संयम की शिक्षा भी अधिक पूर्ण रूप से दी जाती है।

श्री जितेन्द्रिय नहीं थी। उस प्रबल आकर्षण को देखकर झुँझलाई, घबराई, किन्तु सब कुछ होते हुए भी उससे मुक्त नहीं हो पाई। श्री को जान पड़ा कि वह अत्यन्त साधारण से व्यक्ति रेलवे के फोरमैन, उस दुबले, पतले, नवयुवक से, साधारण से नवयुवक से, जो कि किसी प्रकार भी भरे शरीर के दृढ़ उन्नत ललाट वाले, धनिक पुत्र सुभाष, त्यागी सुभाष, लीडर सुभाष की प्रतिद्वंद्विता के योग्य न था, प्रेम करने लगी है। हाय री अभागी नारी, तू रूप नहीं देखती, गुण नहीं देखती, विद्वता नहीं देखती, प्रशंसा, यश, तेज आदि भी नहीं देखती, किन्तु कौन सी चीज देखकर तू मर मिटती है। विश्व भर में कोई भी नहीं जानता। तेरा संयम किस अद्भुत वस्तु को देख कर भागने लगता है, कौन जानता है। श्री भी एक दिन सुभाष को एक ओर हटाकर उस दुर्बल युवक की ओर खिंचने लगी, खिंची और खिंचती ही चली गई बड़ी दूर तक। किसी ने यह परिवर्तन लक्ष्य किया हो अथवा नहीं, स्वयं श्री इसे जाने बिना न रह सकी। युवक उसी प्रकार निश्चिन्त था, उदासीन था और था तटस्थ। यह तटस्थता श्री के हृदय में बाण की तरह जाकर बिंध जाती थी। रूप-

गर्विता समझती है कि विश्व भर में उसकी उपेक्षा करने वाला कभी कोई तपस्वी जन्मा ही नहीं। यही कारण है कि वह विजयी ही बनी रहना चाहती है। जहाँ भी कहीं उस की वह सहज, स्वाभाविक स्वतः-सिद्ध विजय-गरिमा फीकी पड़ने लगती है वहीं वह घबरा जाती है, अव्ययस्थित हो जाती है, बेचैन हो जाती है। जलसों में छात्र-संग की बैठकों में, वाद्-विवाद के लिये खचाखच भरे हालों में, काफी हाउस की मीटिंगों में सब ही कहीं उसने ने अपनी ओर लगी हुई प्रशंसा भरी लोलुप दृष्टियाँ देखी थीं, सब ही कहीं उसने आँखों में दीन याचना भरी देखी थी, सब कहीं रूप की विजय होती उसने देखी थी। किन्तु कैसा अद्भुत था यह युवक, यह पत्थर का पुतला, वह समझ पा ही नहीं रही थी, जो कभी उसके पुष्प-विनन्दित प्रफुल्लित मुख की ओर दृष्टि भर कर नहीं देखता। उहुँक, गँवार भी तो भला आँखें फाड़ फाड़ कर देखते हैं, अन्य मजदूर तो क्या, सड़क पर आते जाते समय बड़े बड़े सभ्य पुरुष भी उसके अनुपम रूप को घूर कर ही देखते रहते हैं, दृष्टि मानों हटना चाहती ही नहीं, किन्तु यह युवक मानों कभी देखना चाहता ही नहीं, श्री ने सुना था कि उस का स्वर बड़ा ही मधुर है। उस ने सुना था कि उस की मुक्त खिलखिलाहट में बड़ा ही रस है, किन्तु यहाँ कितनी ही बार जान बूझ कर श्री खिलखिला कर अकारण ही हँसी थी। किंतु उसकी दृष्टि श्री की मुक्त हँसी का अनुसरण न कर पाई। कैसा विचित्र है यह व्यक्ति। यह व्यक्ति है अथवा पत्थर। उस की उपेक्षा ही श्री के लिये अधिकाधिक आकर्षण का कारण बनती जा रही थी, किन्तु फिर भी वह अनजान ही था। कालिज की गर्मियों की छुट्टियाँ हो रही थीं।

श्री के माता-पिता काश्मीर जाने की तैय्यारी कर रहे थे पर स्वयं श्री की जाने की इच्छा न थी, उसे यहाँ इन दिनों काम-काज करना था। श्री ने उस युवक से एक दिन कहा—"माता-पिता काश्मीर जा रहे हैं। सोचती हूँ मैं भी चली जाऊँ या न जाऊँ।"

"आप भी चली जायँ। अच्छा तो है।"

"किन्तु मेरी तो जाने की इच्छा नहीं होती है।"

"तब न जायँ।" बड़े ही भोलेपन से उस ने कह दिया और फिर सिर झुकाकर लिखने लगा अपना शेष पत्र। श्री क्षुब्ध हो उठी। यह भी कोई रीति है, यहाँ तक नहीं पूछा कि मैं क्यों नहीं जाना चाहती। गँवार! उसने मन ही मन कहा, किन्तु कितना प्यार, कितना अधिकार, कितना अपनत्व और कितना ममत्व भरा पड़ा था उस के मन ही मन कहे गये "गँवार" शब्द में। "तुम ने पूछा भी नहीं कि मैं क्यों नहीं जाना चाहती!" श्री ने कुछ रूठने के ढंग से कहा।

"हाँ, क्यों नहीं जाना चाहती? अब पूछ लेता हूँ।" कह कर बड़े ही साधारण से ढंग से उस ने पूछा मानों आस-पास कुछ हुआ ही नहीं था। श्री इस लापरवाही से खीझ तो उठी, पर उस पर अप्रसन्न न हो सकी। कैसा विचित्र जीव है। और फिर श्री अपनी न जाने की इच्छा-सम्बन्धी कारण तो न कह सकी, किन्तु उसकी लापरवाही श्री को और भी मधुर लगी।

"नहीं बताते अब हम।" कह कर श्री ने पास ही रखा हुआ एक पत्र उठा लिया।

"अच्छा" कह कर वह पत्थर फिर अपने काम में लग गया। कोई उपाय ही नहीं था इस मानव-हृदय के स्थान पर कोई पत्थर

धारण किये हुए आदमी को लुभाने का। इतने दिनों के सम्पर्क से श्री जान गई थी कि युवक की कोई एक माँ है जिस ने, बड़ी ही विकट परिस्थितियाँ स्वेच्छा से उत्पन्न करके युवक को अपने ही ढंग से पाला है। अपनी माँ में युवक की न केवल अनुपम श्रद्धा और दृढ़ विश्वास ही था, वरन उस से प्रेम भी बड़ा था। उस ने यह भी जान लिया कि वह कोई असाधारण ही महिला होगी, जिस ने स्वयं ही इसे शिक्षा देकर ऐसा बना दिया है कि कोई भी इसे अशिक्षित कहने का साहस नहीं कर सकता। एक दिन श्री ने उससे कहा था—"कुमार, तुम मैट्रिक की परीक्षा क्यों नहीं दे डालते, यहाँ कोरमैन बने पड़े हो। अपनी विद्या-बुद्धि लेकर, तुम तो सहज में ही थोड़े से परिश्रम से कई डिग्रियाँ प्राप्त करके कहीं शिक्षक बन सकते हो।

बहुत ही गम्भीर स्वभाववाला वह युवक अक्षयकुमार उस दिन तनिक सा हँस दिया था, फिर तुरन्त ही गम्भीर होकर कहने लगा—"आप की तरह मुझे इकनौमिक्स नहीं आती, यदि आती होती तो मैं निस्सन्देह परीक्षाएँ पास करने की बात सोचता। आप लोग लेबर (मजदूरी) और केपीटल (पूँजी) के दो भिन्न भिन्न दल मानते हैं, जिनका युद्ध अनिवार्य्य है। पूंजी पहले वृद्धि की ओर चलेगी और बढ़ती ही जायगी, फिर श्रेणी-युद्ध होगा, लेबर और केपीटल का युद्ध होगा, जिसका कि अन्त होगा समाजवाद में, जहाँ लेबर और केपीटल सब कुछ समाज या राज्य, स्टेट के हाथ में जाकर एक हो जायँगे। यही बात मेरी समझ में नहीं आती। मनुष्य जिस दिन उत्पन्न हुआ था उस दिन वह लेबर और केपीटल दोनों से ही परे था, किन्तु दोनों को ही अपने में एकत्रित करने की शक्ति लेकर

पैदा हुआ था, आज भी वह बिलकुल वैसा ही है। वास्तव में श्रेणी-युद्ध का अर्थ भी मैं नहीं समझ पाता। युद्ध श्रेणियों का नहीं हुआ करता है, होता है मनुष्य की सद् और हिंसक प्रवृत्तियों का। उस वास्तविक युद्ध को जान-बूझ कर जरा बड़ा रूप देकर हम कह देते हैं लौकिक श्रेणी-युद्ध, किन्तु वास्तव में जब सत्य है ही केवल एक, तो भिन्न भिन्न श्रेणियों का प्रश्न आता ही नहीं···" श्री सहन न कर सकी। बीच में ही बोल पड़ी।

"मैं तो कुछ भी समझ नहीं सकी, कुमार, तुम यह सब विचार कहाँ से लाये हो, यह तो विचित्र से ही हैं।"

"मैं स्वयं भी ठीक तौर से इन्हें समझता हूँ, सो बात नहीं है, किन्तु माँ यही सब तो कहती हैं। अभी समझूँ या न समझूँ, इन्हीं को समझने का मैं निरन्तर यत्न करता हूँ और उसी प्रयत्न में तुम्हारा अर्थशास्त्र मैं समझ पाता नहीं, इसी कारण तुम्हारे विश्व-विद्यालयों की परीक्षाएँ देने से डरता हूँ।

श्री ने फिर कुछ नहीं कहा, कुछ पूछा भी नहीं, केवल मात्र मन ही मन उस असाधारण नारी को देखने, जानने, सुनने, सुनाने का निश्चय किया, यद्यपि उस के विचार कहीं भी अक्षयकुमार के विचारों से नहीं मिलते थे, फिर भी मनुष्य विचित्रता से भी तो ध्यानपूर्वक देखने और जानने का यत्न करता ही है। यही श्री ने भी करना निश्चय किया।

हिंसा तथा अहिंसा

"माँ, बस और तुम्हारी आज्ञा न मान सकूँगा।"

"कुछ कहो भी तो सही, मेरे लाल।" शक्ति का स्वर शांत था, बिलकुल उत्तेजनारहित।

"पाप और पुण्य, कर्तव्याकर्तव्य की वैसी सुन्दर आलोचना सचमुच ही मैं नहीं कर पाता, किन्तु जो कुछ सम्मुख दीख पड़ता है उसकी उपेक्षा करके अब अधिक दिन तक मुझ से रहा जायेगा नहीं सो कहे रखता हूँ, माँ।" युवक अक्षय के स्वर में उत्तेजना भरी हुई थी, उस का मुख क्रोध और उत्तेजना से लाल हो उठा था, उस की वीर बहूटी की सी रक्त-वर्ण आँखें चमक रहीं थीं।

"योग वसिष्ठ" की मोटी पोथी, पृष्ठ-चिन्ह रखकर, शक्ति ने ज्यों की त्यों बन्द कर दी। उसे अब जीविकोपार्जन के लिये बाहर जाना नहीं पड़ता था, पुत्र पिछले दो वर्षों से रेलवे में काम करने लगा था। शक्ति चाहती तो सहज ही कालिज की शिक्षा देकर पुत्र को किसी भी वर्तमान काल में उच्च समझे जाने वाले पद के योग्य बना सकती थी, किन्तु उसे देवेन्द्र के एक दिन कहे हुए शब्द याद थे—"शक्ति

वर्तमान काल के उच्च पदाधिकार मनुष्य को मनुष्य से पशु बना डालते हैं। असत्य की उपासना वर्तमान भारत में यदि मनुष्य कहीं सीखता है तो दो ही जगह, एक तो जेल की कठिन कोठरी में और दूसरे उच्च पदाधिकार पाने पर। अधिकार हमें नम्रता नहीं सिखाते, सिखा सकेंगे भी नहीं, जब कि तुलसीदास जी को ही आज के युग से कहीं अच्छे युग में भी कहना पड़ा था, 'प्रभुता पाई काहि मद नाहीं' तो फिर आज तो कहा ही क्या जा सकता है।"

"किन्तु अधिकारी न होकर किसान, मजदूर, व्यापारी आदि होकर क्या हम मनुष्यता को अधिक प्रश्रय दे रहे हैं, आज के भारत में।" शंका की शक्ति ने।

"मानवता की वृद्धि और किसी व्यवसाय में हो रही है अथवा नहीं, सो तो मैं नहीं जानता, किन्तु यह अवश्य जानता हूँ कि कम से कम इन दो स्थानों पर रह कर तो हो सकती ही नहीं।" कुमार के स्वर में सत्य की दृढ़ता थी। उसके समर्थन में देश का इतिहास खड़ा था।

"परन्तु शिक्षक होकर तो मानवता की वृद्धि ही होती है।"

बड़े दर्द से कुमार ने कहा था, "कुछ न कहो, शक्ो, इस लाईन के विषय में। मानवता की वृद्धि करते हैं हम अपनी आत्म-शुद्धि करके अथवा बढ़ते हुए बालकों की अधूरी आत्म-शक्ति को भी नष्ट कर डालते हैं कौन कह सकता है। सचमुच, अतिशयोक्ति नहीं है, कभी कभी तो अपने किसी किसी सहकारी को देखकर मैं मन ही मन कह उठता हूँ, हे भगवान, यह मानव है अथवा दानव। इन्हीं के व्यक्तित्व पर हमारे नन्हें कुसुम-कोमल बच्चों के भविष्य

का निर्माण हो रहा है। स्वयं अपने मुख से तो क्या कहूँ अपने पेशे की बात, किन्तु इतनी बात तो निश्चितप्राय ही है कि इसमें से कुछेक असाधारण व्यक्तियों को छोड़ कर अधिकतर तो केवलमात्र बनिये हैं। विद्या-दान नहीं करते वरन बेचते हैं, और बदले में लेते हैं धन। एक बार बेच देने के पश्चात खरीददार ने उस वस्तु का क्या किया, सो जानना न उनका काम है और न उसकी उन्हें चिन्ता होती है। कारण कुछ भी हो, यह है निर्विवाद सत्य और यही कारण है कि ऐसी शिक्षा स्वयं प्राप्त करके जब हम शिक्षक बन जाते हैं तो वही पाठ फिर दोहराया जाता है, वही अभिनय फिर होता है हमारे छात्रों को लेकर, फलतः देश केवल मात्र नकलचियों से ही भरता जा रहा है, आदर्श का कहीं पता तक नहीं मिलता।"

"तब फिर किया क्या जाय ?" शक्ति ने विवशता से कहा।

"किया क्या जाय सो सोचना भी मेरा काम नहीं और चाह कर भी मैं वह जान पाऊँगा भी नहीं। चाट खाकर फेंका हुआ पत्ता यह नहीं जानता कि आगे का पथ क्या है, वायु उसे जिधर उड़ा ले जाती है उधर ही वह उड़ जाता है। मानव भी लगभग वैसा ही सा है। विश्व-शक्तियाँ उसे जिधर की ओर मोड़ देती हैं उधर ही उसे मुड़ जाना पड़ता है। पूर्ण मानसिक स्वतन्त्रता केवल मात्र शुभ इच्छाओं में ही रह जाती है, कर्म में कुछ नहीं। यही कारण है कि योगीराज श्रीकृष्ण को कर्म का शुभत्व और अशिवत्व केवल मात्र मानव-सदिच्छा पर ही छोड़ देना पड़ा है, कर्म के फल पर नहीं। यही कारण है कि महामन्त कान्ट को यह कहना पड़ा था कि संसार में केवल एक ही वस्तु निर्विवाद रूप से शुभ है और वह है 'शुभ चित्त',

शुभेच्छा, शुभ भावना। उसके अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुएँ अपने अतिरिक्त किसी अन्य कारण से शुभ अथवा अशुभ हैं। यही कारण है कि निरभिमान होकर चैतन्य महाप्रभु को कह देना पड़ता था कि यह सब कुछ तेरा ही है, भगवान मेरा कहीं रत्ती मात्र भी कुछ नहीं। यही कारण है कि विश्व भर के भक्तगण एक स्वर से कह उठते हैं "नारायण, जो कुछ हो रहा है सो सब एक मात्र तेरी ही इच्छा है।" और यही कारण है कि किसी भी कर्म के परिणाम तक पहुँचने पर महात्मा गांधी चिल्ला उठते हैं, "भली हो अथवा बुरी, प्रभु यह तेरी ही करनी है, मेरी तो है नहीं। यही कारण है कि केनोपनिषद में इन्द्र, अग्नि, वायु आदि शक्तियों को "यक्ष कौन है?" यह समझ न सकने के कारण ब्रह्म से मुँह की खाकर अन्त में यह मानना ही पड़ा था कि हम केवल मात्र तेरी ही शक्ति से कार्य कर रहे हैं, अन्यथा हम में कोई भी शक्ति अपनी नहीं है। हे सर्वशक्तिमान वास्तविक कर्ता विश्व के समस्त कर्मों का केवल मात्र तू ही है। कहाँ तक कहूँ? सब किसी काम में तो उसका ही हाथ दीख पड़ता है। रही मानवता तक—सच्ची मानवता तक—पहुँचने की बात, सो वास्तव में वहाँ तक, जहाँ खड़े होकर नर और नारायण मिल कर एकाकार हो जाते हैं, वही पहुँच सकता है जिसके मस्तिष्क की बुद्धि उसे ज्ञान की पराकाष्ठा तक ले जाये अथवा जिसके हृदय की उन्मुक्त, तीव्र लगन उसे अपना स्वरूप—सच्चा स्वरूप—जानने के लिए लाचार करदे। इन्हीं को विश्व ज्ञान और भक्ति मार्ग कहता है, किन्तु इन दोनों से बढ़ कर भी एक मार्ग है जिसे वही लोग पा सकते हैं जिन्हें भगवान स्वयं इच्छा से चुन कर इस पथ का पथिक बना देते हैं। यह मार्ग है

सिर से पैर तक कठिन वेदना, कठिन दुख के भीतर डूब कर स्थिर बुद्धि से निष्काम भाव से कर्म करने का मार्ग। दुख की तीव्र ज्वालाओं के ठीक बीचों-बीच खड़े हो कर ही तो मनुष्य अपना वास्तविक रूप पहचान पाता है। कृत्रिम आवरण तो उसे अपने आप को पहचानने देते ही नहीं। दुख अशिव नहीं है, शक्ति! वह तो नारायण की मनुष्यों के लिए सब से बड़ी देन है, केवल उसको पहचान पाना ही मनुष्य का सौभाग्य है। कब किस पर नारायण कृपा करके उसको यह दे डालेंगे सो नहीं जान पड़ता, किन्तु इसमें से तप कर जो निकल पाता है सो ही खरा सोना है।"

"फिर भी मनुष्य को कोई मार्ग चुनना तो पड़ेगा अन्यथा जियेगा किस प्रकार ?"

"चुनना भी तो स्वयं मनुष्य के हाथ में है नहीं। केवल मात्र मन से संकल्प करना ही तो मनुष्य के हाथ में है। मनोविज्ञान सिखाता है कि भिन्न-भिन्न कार्य स्वयं अपने आपको कर्ता के—मनुष्य के—सम्मुख उपस्थित करते हैं। उपस्थित होने वाले कार्यों का रूप क्या होता है सो भी व्यक्ति के जन्मगत तथा वातावरणगत संस्कारों से बने हुए आन्तरिक चरित्र पर ही निर्भर है। तुमने तो भिन्न-भिन्न मनोविज्ञान की पुस्तकों में मानवेच्छा का निर्माण पढ़ा ही है। किसी भी मनुष्य के सम्मुख आये हुए, उसके मन के सम्मुख उपस्थित हुए विचार ही उसके चरित्र का दर्पण हैं, क्योंकि विचार तो चरित्र के अनुसार ही उपस्थित होते हैं। मेरे सम्मुख ये दो विचार तो उपस्थित हो सकते हैं कि मैं आज अध्ययन करूँ अथवा मित्रों के साथ किसी कवि-सम्मेलन का आनन्द उठाऊँ। इन विचारों का निर्माण

भी मेरे चरित्र के अनुसार ही हुआ है, किन्तु मेरे सम्मुख यह प्रश्न मेरे चरित्र के अनुसार उठ ही नहीं सकता कि मैं सामने वाले घर में चोरी करूँ अथवा अमुक सेठ के घर छापा मारूँ। चरित्र के अनुसार ही जब अनेक भिन्न-भिन्न कार्य विचार रूप में बीज रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं तो हमें उनमें से किसी एक को चुनना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि मानव-मन भले ही अनेकों विचारों को पोषित करे, मानव-शरीर तो एक समय में एक कार्य को ही सम्पादन कर सकता है, परिणाम-स्वरूप मानव को स्वतन्त्रता होती है कि वह उनमें से किसी एक विचार को चुन ले कार्य रूप देने के लिये। अरस्तू-युनान के प्रसिद्ध विद्वान अरिस्टोटल-के विचार में मनुष्य की इच्छा-शक्ति-सम्बन्धी स्वतन्त्रता का अर्थ केवल मात्र यही है कि वह कार्यारम्भ करने अर्थात भिन्न-भिन्न उपस्थित विचारों में से किसी एक को चुनने में स्वतन्त्र है, किन्तु किसी [illegible] विचार को चुन लेने के पश्चात उसे अनेकों अन्य परिस्थितियों पर भी निर्भर रहना पड़ता है उसके पूर्णता सम्पादन होने के लिये। अत: उसे कार्य रूप में लाने के लिये वह स्वतन्त्र नहीं है। अब प्रश्न तो यह है कि क्या वह विचार चुनने में पूर्णतया स्वतन्त्र है ? यह कहना अत्युक्ति होगी, क्योंकि विचार का चुनाव भी, पाश्चात्य विद्वान सिजविक की दृष्टि से, मनुष्य के अपने चरित्र, परिस्थितियों सामाजिक अनुभवों आदि के अनुसार ही होगा। अत: फिर फिर कर कितना कुछ ही कह लो मनुष्य को इसी विचार पर लौट आना पड़ता है कि मनुष्य केवल मात्र संकल्प, शुभ अथवा अशुभ संकल्प करने में स्वतन्त्र है, यद्यपि शुभ अथवा अशुभ संकल्प भी हमारे चरित्र के अनुसार ही होता है। एक व्यक्ति

जिस ने अपने चरित्र को सर्वथा पाप-पूर्ण ही बना लिया है सहज ही पुण्यमय संकल्प नहीं कर सकता, किन्तु अपने चरित्र को ऊँचा बनाने शुभ बनाने का संकल्प तो हम कर ही सकते हैं, अतः हमारी स्वतन्त्रता का—मानव की स्वतन्त्रता का—केवल मात्र अर्थ है शुभ संकल्प, 'तनमें मनः शिव संकल्प मस्तु' कह सके। 'धियोयोनः प्रचोदयात्' कह कर प्रार्थना कर सके। इसके अतिरिक्त और उसकी स्वतन्त्रता है ही क्या? शेष सब ही कुछ तो उसकी शक्ति से बाहर है। किसी भी कर्म के होने का मनुष्य—कर्ता—तो एक मात्र कारण भी नहीं है। भगवान श्रीकृष्ण के उपदेशानुसार तो सांख्य मतानुसार किसी भी कर्म के होने के लिए पाँच कारण कहे गये हैं, अधिष्ठान अर्थात स्थान और परिस्थितियाँ, कर्त्ता, भिन्न भिन्न कर्ता के साधन अथवा चेष्टाएँ प्रयत्न, जो वह समय समय पर करता रहता है और दैव। अतः वह तो पाँच कारणों में से एक ही है, फिर उसका अहंकारवश यह अभिमान करना कि मुझे अपना मार्ग स्वयं चुनना है केवल मात्र भ्रम ही तो है। और फिर अहंकार की भावना लेकर कर्म करने से वह स्वयं ही तो बन्धन में फँस जायेगा। क्योंकि यह सोचना कि मैं ही एक मात्र कर्ता हूँ असत्य है। असत्य की वृद्धि करके स्वयं कर्ता अपनी आत्मा के लिए बन्धन की ही सृष्टि करता है। यहाँ तक कि प्रेरणा भी तो तीन प्रकार की है, ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता। ज्ञाता तो केवल मात्र उन तीनों में से एक है और कर्म-संग्रह स्वयं भी तीन ही प्रकार का है—कारण, कर्म और कर्ता—जैसा कि श्रीकृष्ण कहते हैं:—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्म संग्रहः॥

आह, लो मैं तो कहाँ से कहाँ बह गया।"

"नहीं, नहीं तुम कहे जाओ मैं बड़े ध्यान से सुन रही हूँ।"

"न, अधिक नहीं कहूँगा। ये कोई नये विचार भी तो नहीं हैं। गीता के और ऐथिक्स की कितनी ही पुस्तकों के अध्यायों में अनेकों बार यह पढ़ ही चुकी होगी। वास्तव में पढ़ाने से मनुष्य कुछ बकवादी अधिक हो ही जाता है। जहाँ भी उसे बोलने का समय मिला और वहाँ ही लेक्चर शुरू हुआ, फिर तुम जैसा योग्य श्रोता भी मुझे और मिलेगा कहाँ?" कुमार कह कर चुप हो गये। किन्तु शक्ति की जिज्ञासा शान्त नहीं हुई थी। वह फिर बोली—

"हाँ, यह तो मैं मान गई कि किसी प्रकार भी मानसिक संकल्प के अतिरिक्त और किसी भी दिशा में मानव स्वतन्त्र नहीं है कर्म करने के लिये, पूर्णतः अपने को ही कर्ता मानकर। किन्तु फिर भी कर्म करना ही होता है। अतः सुख और दुःख दोनों प्रकार की भावनाओं के बीच में पड़कर किस में से मथकर मनुष्य मानवता को सहज ही प्राप्त कर लेता है।"

शक्ति उत्तर के लिये देवेन्द्र के स्वस्थ, सुन्दर तेजस्वी मुख की ओर देखने लगी।

"सच ही वास्तव में मानव की आत्मा सुख की अपेक्षा दुख में ही सत्य के अधिक निकट होती है। कृत्रिमता का आवरण जितना ही न्यून होता है, मानव-आत्मा सत्य के उतने ही अधिक समीप पहुँचती है। एकदम काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार से परे हुई आत्मा निर्लिप्त होकर नग्न होकर अपना स्वरूप शीघ्र पहचान जाती है। और यह आवरण वेदना के चाकू से ही शीघ्र फाड़े-चीरे जा

सकते हैं। उसके अतिरिक्त उन आचरणों को और कुछ काढ़ पाता तो है, किन्तु उतनी शीघ्रता से नहीं। यही मेरा विचार है। अतः सब कुछ छोड़ कर भी कृत्रिमता से बचना ही श्रेयस्कर है।" उन्होंने बड़ी देर तक सोच कर कहा।

"हम अपने लाल को क्या बनावेंगे" धीरे धीरे लज्जा से हँसते हुए शक्ति ने कहा।

"मजदूर" हँस कर कुमार ने कहा—"जान पड़ता है लाल के भविष्य का संकल्प अभी से ही होना आरम्भ हो गया है, सफल माता।" फिर दोनों हँस पड़े।

युगों पूर्व की पति की इसी शिक्षा को पिछले अनेक वर्षों से हृदय में धारण किये हुए शक्ति अक्षय का पालन कर रही थी। पुत्र को बैरिस्टर या वकील, प्रोफैसर या उच्च पदाधिकारी बनाने के संकल्प से नहीं, वरन उसका एक मात्र संकल्प था अपनी सन्तान को मानव बनाना, उसे उस के पिता का अन्तिम सन्देश सुन सकने के योग्य बना कर वह संदेश सुना देना। इसी एक संकल्प को मन में लेकर वह नारी संसार-सागर के संघर्ष में भाग ले रही थी प्रसन्न मुख से—प्रसन्न मन से। परिणाम क्या होगा उस की चिंता उसे नहीं थी, वह सफल होगी भी अपने प्रयत्न में अथवा नहीं यह चिंता भी उसे नहीं थी। वह भली प्रकार समझती जाती थी कि वही तो केवल मात्र कर्ता नहीं, अतः केवल संकल्प भर कर देना ही उसका कर्तव्य था सो उसने किया। प्रयत्न किया जा रहा है, फल क्या होगा अथवा यही फल होना चाहिये ऐसा सोचना उसका कर्तव्य नहीं है। कर्तव्य तो स्वयं आत्मा के लिये अपने में ही श्रेयस्कर है, न कि किसी अन्य फल के

लिये, यही उसका ध्येय था। इसी ध्येय को सम्मुख रख कर वह मंजिल पर मंजिल पार किये जा रही थी।

आज बीस वर्ष के अनवरत परिश्रम के पश्चात शक्ति मन ही मन कह उठती थी, "प्रभु, मैंने किसी दिन भी अपने कर्तव्य में त्रुटि नहीं की। यथा संभव मैंने अपना कर्तव्य पालन किया। मुझ माँ की सन्तान और कुछ भी नहीं बन पाई है सिवाय एक साधारण श्रमजीवी के। वह एक मानव है, मानव-शरीर में पशु नहीं। नारायण, मानव-हृदय में श्वेतांश भी होता है और श्यामांश भी। मानव-मन पुण्यमय भी होता है और पाप का भाग भी उस में कुछ कम नहीं होता। कब कौन सा प्रबल हो उठेगा इसका भी कोई ठिकाना नहीं है। किन्तु आज बीस-पचीस वर्ष बाद मुझे छुट्टी दो उस के हृदय में प्रवेश करके, स्वयं ही उसे कर्तव्य का आदेश करना, नारायण जैसे अर्जुन को किया था।"

निश्चित मन से अपना कर्तव्य कर चुकने वाली नारी सन्तोष से योग-वसिष्ठ में मन लगाये बैठी थी। एकादशी के व्रत के पश्चात मन और शरीर दोनों की ही शान्ति के मध्य वह आत्मा की ही खोज तो कर रही थी। ऐसे समय पुत्र की बात सुन कर शक्ति कुछ क्षण के लिये विचलित हो उठी, किन्तु जीवन भर जिस ने केवल सत्य को लेकर ही साधना की थी, जिसकी तपस्या सदा ही निष्काम कर्म करने की रही थी, अधिक देर तक क्षणिक मोह ठहर न सका उसके पास। शान्ति पूर्वक योगवसिष्ठ को बन्द करके शक्ति ने पुत्र के मुख की ओर देखा। तमतमा रहा था वह युवक मुख। शक्ति ने कहा,— "हुआ क्या कुमार, अपने विचारों की शिक्षा मैंने तुम्हें अवश्य दी,

है, किन्तु असत्य होने पर भी अपने विचार तुम पर लादूँ इतनी स्वार्थ-पर मैं नहीं हूँ। तुम्हें अपने विचारानुसार कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है, किन्तु मुझे समझाओ तो सही घटना है क्या? शायद मैं भी निर्णय में तुम्हारी कुछ सहायता कर सकूँ।"

कुमार अपनी तेजस्विनी माता को न पहचानता हो सो बात नहीं है, फिर भी उसने शंका-सहित पूछा,—"किन्तु माँ तुम उसे सुन कर क्या अस्थिर न हो जाओगी। यदि तुम्हारा मन भी विचलित हो उठे, तो इस बाईस वर्ष की अहिंसा की तपस्या को ताक में रख कर मुझे हिंसा की शरण अवश्य लेने देना।" कुमार माँ को न केवल प्रेम ही करता था, वरन उनको अपना गुरु भी मानता था प्रत्येक प्रकार से। शरीर में पुत्र को धारण करके, अपने रक्त-मांस से एक मानव-शरीर बना कर उसे जगत की सूनी धरती पर फेंक देने मात्र का कर्तव्य करके माता तो बहुत सी स्त्रियाँ बन जाती हैं, किन्तु वास्तव में अपनी सन्तान की गुरु हो सकें ऐसा सौभाग्य बहुत थोड़ी ही स्त्रियों को प्राप्त होता है, किन्तु जो ऐसा कर सकती हैं उनकी सन्तान को जगत में असफल होने का समय बहुत कम ही आता है।

"कुमार, शरीर पर अत्याचार करना दुष्टता तो अवश्य है ही, साथ ही साथ घोर पाप भी है, सो मैं जानती हूँ। विचारों की हिंसा भी हिंसा ही होती है सो भी मुझ से छिपा नहीं है। माता होकर पुत्र पर वैसा अत्याचार करूँगी नहीं। जान-बूझ कर पाप करने की भी मेरी प्रकृति नहीं है।" शक्ति ने कहा।

"सो मैं जानता हूँ, माँ। कभी किसी कारण से भी तुमने मेरी बुद्धि विचलित नहीं होने दी है, सो भी मुझे भली प्रकार ज्ञात है,

किन्तु आज मैं सचमुच ही विक्षिप्त हो उठा हूँ। मुझे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान ही नहीं रहा है, मुझे जान नहीं पड़ता है कि मैं क्या करूँ। तुम्हें तो याद ही है कि मैं कितने करुणाजनक दृश्य देखकर भी तुम्हारे आदेश पर, संकेत पर, सदा ही क्षमा और अहिंसा का दम भरता आया हूँ। किन्तु आज, उफ़, बात यूँ थी माँ।" कह कर कुमार कुछ देर चुप हो गया उसका उदास दुर्बल मुख शायद अधिक उत्तेजना से जल उठा था।

"माँ, पानी दो" शक्ति ने गिलास भर कर जल दिया, पी चुकने के पश्चात तुरन्त ही आलोक बोल उठा,—हमारे मार्ग में ही एक स्टील ऐण्ड आइरन वर्क्स पड़ता है? अतः प्रातः प्रायः काम पर जाने से पूर्व मैं वहाँ से होता आता हूँ। वहाँ काम करने वाले अनेक स्त्री-पुरुष मेरे परिचित हैं, मित्र भी हैं। परसों मैं जब उधर से जा रहा था तो रघु चाचा भी जा रहे थे, उनका चेहरा उतरा हुआ था। मैंने पूछा कि क्या हो गया है तो उन्होंने बताया कि ज्वर है। मैंने नाड़ी भी देखी तो ज्वर बड़ा ही तीव्र था। छाती में दर्द भी बताने लगे। मैंने कहा कि मैं संध्या को आकर दवा दे जाऊँगा उस समय तो मुझे काम को देर हो रही थी, फिर भी छोकरे के हाथ उन्हें सन्देश भेज कर मैंने उन्हें सलाह दी कि काम पर न जायें। ज्वर भी १०३ डिगरी से कम नहीं था, छाती की पीड़ा से न्यूमोनिये का भी डर हो सकता था। रघु चाचा ने बताया कि बुखार तो उन्हें दो दिन से आ रहा था, पर फोरमैन कहता है साहब छुट्टी नहीं देता है, आज कल युद्ध-कालीन सरकारी काम की अधिकता है, पुराने अनुभवी आदमियों को छुट्टी नहीं मिल सकती। मुझे फिर भी

उनका काम पर जाना संगत न प्रतीत हुआ, चाचा को समझा-बुझाकर घर भेज कर स्वयं फोरमैन के पास गया। फोरमैन अपना हरखू चौधरी ही तो है, सहज ही सुनकर कहने लगा—साहब साला राक्षस है। छुट्टी का नाम लेते ही गरज उठता है। वह आज कल तो छुट्टी कभी भी नहीं देगा। काम का जोर बहुत है, भइया जी करें क्या? फिर भी पेट पापी को तो भरना है, ही तुम रघु को भेज दो। सलाह कल्याण-कारी थी, किन्तु जान-बूझकर मैं उस पर विचार नहीं कर सका, सोचा एक बार साहब को भी मिल देखूं, अपने प्रभुदत्त कालेकर ही उनके विभाग में प्रधान हैं। उनके पास बड़ी ही कठिनाई से पहुंच पाया; प्रायः यूं कहो कि कार में बैठते बैठते ही वह मुझे मिल गये। तुम्हें जानते ही हैं माँ, तुम पर उन की श्रद्धा भी है, कहने लगे 'यह क्या, कुमार तुम्हें वहाँ इस लिये थोड़े लगाया है कि दिन भर घूमते फिरो, ग्यारह बजने लगे हैं अभी तक काम पर पहुँचे नहीं, तुम्हारा विभाग भी तो आठ बजे खुलता है।' मैंने परिस्थिति उन्हें समझाकर छुट्टी की प्रार्थना की। कालेकर साहब सब कुछ शान्ति से सुनकर बोले, "कुमार अभी अभी हो कहीं कम्यूनिस्टों के फंदे में तो नहीं फँस गये, देखूँ लाल टाई है या नहीं। अरे यार, अपना काम देखो। तुम से तो मैं फिर भी इस लिये सद्-व्यवहार करता हूँ कि तुम भद्र परिवार के लड़के हो, तुम्हारी माँ तुम्हें कितना ही छिपाये कालेकर की दृष्टि से उस के बाल सहपाठी का बालक छिप सकता नहीं, तुम्हारा पूर्व इतिहास भी मुझ से छिपा नहीं है। तुम्हारी माँ अपनी। तब से तुम्हारा जीवन भी नष्ट कर रही है और उधर सुरेन्द्र को भी रुला रही है। शेष ये लोग तो हैं ही जूतों से बात करने योग्य। प्र. पाजी ने तम से कह

दिया कि १०३ डिगरी ज्वर है और तुम ने मान लिया, फिर यदि १०३ हो भी तो इनका बिगाड़ ही क्या सकता है, इनकी देह बनी ही ऐसी हुई है। जाओ, जाओ, अपना काम देखो, इन से हम आप ही निबट लेंगे।"

"किन्तु बुखार तो झूठ-मूठ कहा जा सकता नहीं, आप अपना डाक्टर भेजकर देख लें, यदि वास्तव में ज्वर १०३ डिग्री से भी अधिक न हो तो मैं स्वयं उसे काम पर छोड़ जाऊँगा, कालेकर साहब।" इस बार उन्होंने मेरी ओर दृग-पात किये बिना ही कह दिया, "अपना काम देखो कुमार" और ड्राइवर को कार चलाने की आज्ञा दे दी। मैं कुछ कहूँ कहूँ, इस से पूर्व कार कारखाने की ओर चल दी थी। निराशा से चूर मैं अपने काम पर गया। देर करके पहुँचने पर साहब अप्रसन्न तो बहुत हुआ, किन्तु मैं चुपचाप अपने काम पर लग गया। साहब ने आधे दिन का वेतन काट लेने की आज्ञा भी आफ़िस में भेज दी क्रोधित होकर। उसके पश्चात काम समाप्त करके मैं सीधा रघु चाचा के घर पहुँचा तो वहाँ तुम को पाया। तुम्हें देख कर मैं एक प्रकार से निश्चिन्त होकर जैसे ही मुड़ रहा था कुंजी जमादारिन के छोटे लड़के को ढूँढ़ने, जो शायद माँ को फ़ौज में भरती होने की धमकी देकर कहीं आस पास ही भाग गया था, कि मार्ग में मिल गया रघु चाचा के विभाग का फोरमैन, देखते ही कहने लगा, "भैय्या अब तुम से क्या कहूँ ?"

शान्तिपूर्वक मौन भाव से शक्ति एक एक शब्द सुन क्या रही थी, मानों पी रही थी गम्भीर भाव से। अपनी धुन में अक्षय कहे ही जा रहा था। आज बारह वर्ष पश्चात शक्ति ने अक्षय को

क्रोधित और अधीर देखा था। आज से ठीक बारह वर्ष पूर्व जब कुमार आठ-नौ वर्ष का ही था एक दिन वह बड़ा ही अशान्त हो उठा था। बात लम्बी-चौड़ी तो न थी, किन्तु मर्मस्पर्शी अवश्य थी। उस दिन वह बाजार से नमक खरीदने गया था। दूकान के निकट ही एक स्त्री रक्त में लिपटी पड़ी थी, उस की नाक से खून बह रहा था, शरीर भी कहीं कहीं से कटा-फटा था, वैसे भी शरीर एक दम सूख कर काँटा हो चुका था। कुछ पुरुष स्त्रियों की भीड़ भी वहाँ लगी हुई थी, किन्तु सब ही उसे मृत समझ कर छूने से कतरा रहे थे, कौन जाने कौन हो ? कहीं अपने ऊपर ही बला न आ पड़े, जाने जाति घर का भी क्या ठिकाना हो ! दस वर्ष के बालक ने भी भीड़ में घुस कर घटना जाननी चाही, किन्तु सिवाय धक्कों और गालियों के उसे कुछ मिला नहीं। कुमार की आयु भले ही उस समय आठ-दस वर्ष की हो, किन्तु शिक्षा उसने शक्ति के निकट पाई थी। उस ने निकट ही बाजार की चौड़ी चमचमाती हुई सड़क पर खड़ी हुई एक बड़ी मोटरकार के मालिक से जाकर दीन स्वर से प्रार्थना की थी कि वह भीड़ को हटाकर उस स्त्री को हस्पताल तक पहुँचा दे। दुर्घटना की शिकार वह नारी यद्यपि लज्जा के आवरण में अपने आप को छिपाने का प्रयत्न करती रही होगी, किन्तु उस के फटे वस्त्र इस योग्य ही नहीं थे कि वह उस से किसी प्रकार का भी सहयोग प्रकट करते। मोटरकार का बढ़िया सूटधारी मालिक बालक को कुछ झिड़कते हुए बोला, "चल, चल, जैसे तेरे बाप की ही तो कार है न, देखता है आज कल के जमाने में कितनी महँगी सीटस हैं।

बालक अक्षय विचलित हो उठा। बड़े होकर यदि शरीर में पूर्ण युवावस्था हो, पौरुष हो, शक्ति हो तो मनुष्य को सूझता है, क्रोध; वृद्धावस्था में निस्तेज शरीर अपनी कल्पना के विरुद्ध कुछ भी देखकर लाचारी से भर कर अपने आस पास के वातावरण में ढूँढ़ता है क्रोध, किन्तु बालक का बल है केवल मात्र आँसू, भरे हुए करुण आँसू और माता के निकट पहुँच कर उन आँसुओं का मूल्य और वेग दोनों ही कुछ बढ़ जाते हैं। बालक अक्षय ने दौड़ते हुए घर आकर आँसुओं के बीच माँ को सारी घटना सुनाई। नमक के विषय में तो वह कभी का भूल चुका था। शक्ति ने बालक के आँसू पोंछ दिये और स्वयं उसके साथ चल पड़ी सड़क की ओर, रास्ते से अन्य दो चार मजदूरों को भी अपने साथ लेती गई। शुक्र यही था कि समय सन्ध्या का था, मजदूर घर पर ही थे, नहीं तो बेचारी धन और साधनहीन शक्ति बड़ी विपत्ति में पड़ती। किसी तरह दुर्घटना की शिकार वह नारी तो घर में आ गई, किन्तु बालक अक्षय का क्रोध उस दिन शान्त न हो सका। मोटर वाले के शब्द उसके कानों में भयंकर रूप से गूंज रहे थे। वह रात भर स्वप्न में यही बड़बड़ाता रहा—"ओह रक्त, रक्त, खून, खून देखो······खून बह रहा है······ओह तुम कठोर हो······तुम्हारा सर्वनाश हो आदि आदि, कभी कभी सोते सोते उछल भी पड़ता, बड़ी जोर से चिल्ला कर। रोगिनी की परिचर्य्या में लगी हुई, शक्ति, कभी कभी इस अशान्त, क्रोधित बालक की पीठ थपथपा कर उसे शान्त करने का यत्न भी करती जाती। किन्तु वह स्वयं शान्त थी। उसे विश्व भर में किसी पर क्रोध आता ही नहीं था और क्रोध किसी पर करे भी तो क्या करे। वह मोटर-

मालिक भी उसका ही तो अपना एक स्वरूप है। नारायण का प्रकाश ही तो उसकी और मोटर मालिक दोनों की आत्मा में जाग रहा है। उसकी आत्मा का एक अंश यदि पाप करेगा, अपराध करेगा, तो उसका कारण तो सुकरात के शब्दों में या गीता के अर्थों में यही तो होगा कि वह अज्ञान के कारण ही पाप की आराधना में लगा हुआ है। ब्रह्म-ज्ञान से उत्पन्न समत्वभाव हो जाने पर पाप उससे हो सकेगा ही नहीं। अब यदि मेरी अपनी ही विवेक बुद्धि का एक कोण अज्ञान में— अन्धकार में, तामसिक वृत्ति में डूबा हुआ है तो मेरा कर्त्तव्य है उसे ज्ञानरूपी प्रकाश से उज्वल कर देना, न कि सृष्टि में और भी एक क्रोध रूपी अज्ञान की, पाप की, बुराई की, वृद्धि करना। शक्ति यह समझती थी, किन्तु बालक अक्षय के लिये यह सब कुछ समझने का समय अभी नहीं आया था, यह भी शक्ति खूब अच्छी तरह समझती थी। और क्रोध भी जीवन का चिह्न है, शरीर में गर्मी न होना मृत्यु का चिह्न है, किन्तु उस उष्णता का अधिक बढ़ जाना भी वैसा ही भयंकर है जैसा कि उसका न होना, अतः उसे सीमा में रखना भी आवश्यक है, उसे संयम के बाँध में सीमित रखना भी आवश्यक है, यह भी वह खूब जानती थी। तीन दिन बाद रोगिणी की अवस्था कुछ सुधरी। उसी रात उसको बरबस शक्ति को अपनी राम-कहानी सुना दी, उसका पति देश के दीवानों का ही एक तुच्छ सेवक है, उसका पुत्र देश-रूपी दीपक पर जल जाने वाले पतंगों में से एक है, वह दोनों ही देश के ही धन से खड़े किये हुए देश के ही धन से जीवित बड़े बड़े भयँकर, पाप-पुंज अनैतिक कारागारों में काले काले लोह के सीखचों के पीछे एक अनिश्चित अवधि के लिये पड़े हैं। साधन-हीन एक वीर-प्रसूता

जननी, एक साहसी पत्नी, जीविका ढूँढ़ने निकली थी, उसे जीविका मिलती, किन्तु जो भी कोई उसकी सहायता के लिये हाथ बढ़ाता था शीघ्र ही उस पर एक ऐसा कठिन लोह-पँजा आ पड़ता था कि उसका सर्वनाश जान-बूझकर देश के योग्य विधाता अनिवार्य कर देते थे। सहायता बन्द हो गई। शहर की भिन्न-भिन्न चन्दा एकत्रित करने वाली संस्थाओं के प्रधानों से भी मिली। आश्वासन मिला, मौखिक सहानुभूति भी मिली, आवेदनपत्र भी लिखवा लिये गये, किन्तु उन आवेदन पत्रों का क्या हुआ सो कोई नहीं जानता। संक्षेप में पूरे एक सप्ताह के जबरदस्ती किये हुए, अन्न न मिल सकने के पश्चात किये हुए अनशन के पश्चात जब वह अपनी फटी हुई साड़ी को सम्हालती हुई किसी मार्ग की खोज में बाहर निकली तो उसके पैर काँप रहे थे, सिर में चक्कर भी आ रहे थे, मार्ग दीख नहीं पड़ता था, अतः उसी स्थान पर मोटर का धक्का लगने के कारण गिर पड़ी, यही उसकी राम-कहानी थी।

सुनकर शक्ति अपने आँसू नहीं थाम सकी। यही तो हैं हमारे देश की वीर-प्रसूता जननियाँ, यही हैं वीर बहिनें, यही हैं देश की शक्ति-दायिनी पत्नियाँ, किन्तु हमारी अभागी भारतमाता अपने गर्भ में कष्ट से रख कर जो अन्न उत्पन्न करती है अन्य सब ही तो उससे अपना उदर भर लेते हैं, यहाँ तक कि डकार लेते लेते कभी कभी उनका पेट फटने भी लगता है, किन्तु जो तेरी अपनी ही सन्तानें हैं, तेरी अपनी प्रिय सन्तानें हैं, वे अन्नाभाव से मृत्यु की आकुल प्रतीक्षा करती रहती हैं। विश्व भर में जब अपने देश की वीर माताओं की मूर्त्तियाँ पूजी जाती हैं तब हमारे देश की वीर प्रसूता नारियों को

भर पेट अन्न भी नहीं मिलता। क्यों, क्या यह अन्याय नहीं है, नहीं यह है प्रायश्चित्त, घनघोर प्रायश्चित्त। संसार भर में कोई कुछ भी पाप क्यों न करे, किसी न किसी को उसका प्रायश्चित्त करना ही पड़ेगा। पाप करना ही जिनके भाग्य में लिखा है वे हैं अभागे, किन्तु उस पाप का प्रायश्चित्त करना ही जिनके बाँटे में आया है उनके भाग्य की तुलना किससे हो सकती है।

दूसरे दिन ही हार्ट फेल से उस स्त्री ने–वीर जननी ने–मरकर देश को अपनी चिन्ता से मुक्त कर दिया। शक्ति से रोया भी नहीं गया, उसके आँसू चुक गये थे। धीरे से मृत रोगिणी के चरण छूकर उसने मन ही मन कहा—"तेरी इच्छा पूर्ण हो, नारायण।" बालक अक्षय न जाने क्या सोचकर बोल उठा—"माँ, इनका हार्ट फेल तो, आश्चर्य है, आज से बहुत पहले ही क्यों नहीं हो गया।"

"बेटा, ऐसे मानवों का हार्ट कभी भी फेल नहीं हुआ करता। उनका दिल टूटने के लिये बना ही नहीं होता। उनका दिल उस धातु का बना होता है, जो चोट पड़ने से अधिकाधिक फैलती जाती है, किन्तु टूटती कभी भी नहीं। विधाता यदि ऐसी धातु से उनका हृदय निर्मित न कर पाता, तो शायद उन्हें इतनी ढेर सी वेदना देकर विश्वभर के पाप का प्रायश्चित्त भी करने का भार न देता?" कह कर शक्ति ने फिर एक बार उसके चरण छू लिये।

उस घटना के पश्चात सदैव ही अक्षय कुछ शान्त, कुछ उदासीन सा ही रहता था। आज फिर उसे अशान्त देखकर शक्ति कुछ चिन्तित हो उठी थी।

अक्षय कुमार कहे ही जा रहा था दोहराते हुए कोरमैन के

शब्दों में……"तुम्हारे आगे मुँह खोलूँ, तो मेरे बदन में कीड़े पड़ें, भैया, तुम्हारे उपकार क्या कभी भूल सकता हूँ, पर आज तुमने साहब ससुरे से न जाने क्या कह दिया कि आते ही हम सब को बड़ी डाँट पड़ी है। रघु दादा की आज भी तलब काट गया है और कहता गया है कि कल नौकरी पर न आवे तो नौकरी से बरखास्त समझ लेना। मैंने कहा-सुना तो मुझ पर ही बिगड़ने लगा, कहने लगा तुम भी साथ ही निकाल दिये जाओगे। भैय्या, इन ससुरे माँस खाने वालों के दया-माया हो भी कहाँ से, पूरा मुर्गा तो पेट में डाल कर डकार लेते हैं ससुरे। कथा बड़ी लम्बी है माँ। मैं उसी समय फिर बँगले पर गया साहब के, वहाँ मालूम हुआ कि प्रवेश निषिद्ध है। सुपरिटेन्डिंग इञ्जीनीयर को आवेदन-पत्र लिख कर दिया तो उत्तर मिला कि उत्तर लिखित समय पर मिल जायेगा। मैं निश्चित ही न कर सका कि ऐसी हालत में रघु को किस प्रकार शान्त किया जाये। जो भी हो मैं रघु चाचा को भली प्रकार समझा आया कि छुट्टी मिल जायेगी, चार-पाई से हिलना नहीं। कल दिन भर मुझे छुट्टी मिली नहीं, तुम भी हरपुरवा में हैजे के रोगियों के पास ही रहीं, बहू को रोती-चिल्लाती छोड़ कर रघु चाचा कल न्यामोनिया लिये हुए ही काम पर गये। काम तो क्या बन पड़ा होगा, हाँ अवस्था बिगड़ गई। रात भर मैं, तुमसे तो कह कर ही गया था, वहीं रहा। एक कालिज के छात्र बड़े आदमी के लड़के हैं, सुभाष बाबू, वह भी हम लोगों के साथ वहीं रहे, बुखार तो १०२ ही डिग्री था पर छाती में दर्द अधिक था, रातभर की परिचर्या से प्रातः आराम था, मैं घर आकर नहा-धोकर काम पर चला गया, दोपहर को आने को कह कर सुभाष बाबू भी घर चले गये, उन्हें नींद

लग रही थी। बालक बाहर खेल रहे थे। रघु चाचा लाठी उठाकर कारखाने को चल पड़े। बहू मना करने लगी तो मारने दौड़े "कमबख्त तेरे और तेरे अभागे इन चेचड़ों का पेट भरने ही तो मुझे बुढ़ापे में यह साँसत भोगनी पड़ रही है। अभागा आप तो मर गया, ये चार छः मेरे सिर पर डाल गया। आज न जाऊँगा तो सुसरा साहब इनाम तो देगा नहीं और जाने कौन कौन करम करे। बुढ़ापे में धूल लगेगी।" कहते कहते रघु चाचा जबरदस्ती ही कारखाने की ओर खिसक गये। अपने डिपार्टमेन्ट के द्वार पर जाकर ही उस वृद्ध कारीगर ने, निरन्तर चवालीस वर्ष तक काम करने के पश्चात, गिर कर प्राण त्याग दिये। मरते समय उसके मुख से खून की दो चार बूँदें भी गिरी थीं। लोगों ने दौड़कर मुझे भी खबर दी और साहब को भी। रघु चाचा से सभी का प्यार था, उसने अपने जीवन में कभी भी किसी का अपकार नहीं किया, करना चाहा ही नहीं, जहाँ तक हाड़-माँस से बना सब की सेवा ही की। मैं भी दौड़ता दौड़ता पहुँचा। जिस समय मैं पहुँचा तो साहब कह रहा था—"इस सुअर को यहाँ मरने के लिये किसने बुलाया था। नहीं आता। उठाओ, उठाओ इसे ले जाओ यहाँ से""""इसकी बहू को कह देना—एक अर्जी दे देवे, जो कुछ बन पड़ेगा उसकी सहायता भी दे जायेगी।"

मेरी आँखों से चिनगारियाँ छूट पड़ीं, इसी साहब का एकलौता पुत्र जब पिछले वर्ष शिकार खेलने रघु चाचा को साथ लेकर गया था [illegible] सुअर से रघु चाचा ने अपने प्राण पर खेल कर उसके प्राणों [illegible] या था। साहब उस समय बड़ा कृतज्ञ हो उठा था, पर्स निकाल कर दस दस के पाँच नोट भी रघु चाचा को देने लगा था,

पर चाचा ने हाथ जोड़ कर कहा था—"हजूर [माँ-बाप हैं, आपका दिया ही तो खाते हैं। भैया के ही नौकर हैं हम, रुपिया नाहीं लेब।" कभी कभी लम्बे सिलसिले में अन्त तक पहुँचते पहुँचते तुम्हें याद है न माँ, रघु अपनी भाषा भी बोल दिया करता था। ये शब्द मुझे आज तक नहीं भूलते। कितना महान था वह वृद्ध कारीगर, दुःख की अनुपम देन! उसी उपकारी व्यक्ति के लिये साहब के ये शब्द मैं सह न सका, कह ही तो उठा—"शिकार खेलते समय यदि आपके पुत्र की मृत्यु हो जाती और रघु चाचा यही शब्द कहते, तो शायद आपको इस समय की हम सब भाइयों की अवस्था का पता चलता।" साहब मुझ से सदा ही नम्रता और प्रेम का व्यवहार करता है, किन्तु कोई भी अफ़सर शायद ऐसे अवसर पर चुप रह जाना अपने मातहतों के सम्मुख अपना अपमान ही समझता है, अतः साहब ने गरज कर कहा—"चले जाओ सब यहाँ से और इसे भी ले जाओ। शेष कारीगर अपने अपने काम पर जायें। कारखाने का काम बन्द नहीं हो सकता।" कह कर साहब तुरन्त ही चला गया। कई भाई-बन्द रघु चाचा के शव को लेकर उसके नैसर्गिक जेलखाने की ओर चले, जहाँ उसकी आश्रिता बहू—विधवा नारी चिन्तित सी बैठी थी। श्वसुर को चार आदमियों के कंधे पर धरी खटुलिया पर आते देख कर चिल्लाकर रो उठी। कारखाना एक व्यक्ति की—मनुष्य की—मृत्यु के केवल आधे घंटे बाद ही यथावत चलने लगा, कोई भी नवीनता न थी, कोई भी परिवर्तन न था, सब कुछ ठीक ठीक यथापूर्व हो रहा था, एक विधवा रमणी वहाँ से कुछेक फर्लांग के अन्तर पर ही अपने भाग्य की नई कहानी पर आँसू बहा रही थी।"

"चल फिर वहाँ ही चलें, लाल।"

"नहीं माँ तुम्हें वहाँ जाना नहीं होगा। कोई एक कालिज पार्टी वहाँ आया करती है, शायद सारे कम्यूनिस्ट हैं, भारत को रूस की ही नक़ल पर बदल देना चाहते हैं, उन्हीं के साथ एक लड़की है। वही इस समय रघु चाचा की बहू के पास बैठी हुई है, तुम तुरन्त कुछ भोजन बना दो तो मैं उन्हें दे आऊँ। हाँ, पर आटा तो घर में होगा ही नहीं। राशन तो आज समाप्त ही है। फिर क्या करें। उनके घर में तो दाना भी नहीं है।"

"तुम चिन्ता न करो, बच्चे, भगवान की दया से अन्न बहुत है। कल तो व्रत था न एकादशी का, तुम ने भी रात कुछ खाया नहीं, चार-पाँच आदमियों के लिये बहुत आटा है।"

"पर माँ तुम! तुम ने तो कल दिन भर जल भी नहीं पिया, आज तो भोजन तुम्हें करना ही होगा और वे भी छः प्राणी हैं।"

"छिः, अपनी माँ को तुमने इसी प्रकार जाना है।" कह कर शक्ति ने झटपट रसोई में जाकर आटा गूँधना आरम्भ किया। कुमार प्रातः खाकर ही गया था। शक्ति के भाग की तीन रोटियाँ रखी थीं। दाल थोड़ी सी ही थी, अतः यह कुमार ही खा गया था। उसके अतिरिक्त जितना भी आटा घर में था शक्ति ने सारा ही गूँध डाला। कठिनाई से सेर भर होगा, थोड़े से सूखे शलगम के टुकड़े भी थे, सो शक्ति ने भिगो दिये छौंकने के लिये। सन्ध्या होने में अधिक देर नहीं थी। शक्ति के लिये वह दिन भी एकादशी ही बन रहा था, किन्तु मास में न जाने ऐसी कितनी एकादशियाँ उसे भुगतनी पड़ती थीं, किन्तु आत्मबल शरीर को दुर्बल भी नहीं होने देता था।

आग फूँकने से लाल हुई शक्ति की आँखों की ओर देखते हुए कुमार ने कहा—"माँ, उन लोगों ने निश्चय किया है कि इस दुष्ट साहब को गोली से उड़ा दिया जाय।"

"किन लोगों ने, बेटा।"

"वही सब लोग, वे क्रान्तिकारी हैं न? दुष्टता का प्रतिकार करना ही उनका काम है।"

शक्ति कुछ देर चुप रहकर कुछ सोचती रही। उसने भी कालिज के दिनों में ऐसी बहुत सी उत्तेजक बातें सुनी थीं, उसे यह भी मालूम था कि बहुत से लोग क्रांति का अर्थ केवल हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन करना ही समझते हैं। इस दल का भी उद्देश्य उसे कुछ कुछ वैसा ही जान पड़ा।

"तुम क्या करोगे फिर?" शक्ति ने कुछ सोच-समझ कर पूछा। चूल्हे में अग्नि अब जलने लगी थी। उसकी लपटें शक्ति के साँवले पर कुछ पीले से मुख पर पड़ रही थीं। पतीली चूल्हे पर जा चुकी थी।

"आवश्यकता पड़ने पर उनका साथ दूँगा।" दृढ़तापूर्वक अक्षय ने कहा।

"नहीं, तुम्हें साहब की रक्षा करनी होगी।"

"छिः, माँ यह क्या कह रही हो। मैं क्या यह नीच कर्म करूँ, मुखबिरी?" कहने को कुमार कह तो गया, किन्तु वह भली प्रकार जानता था कि उसकी माँ की जैसी नीति-शास्त्र-निपुण बुद्धि, ठीक ठीक कर्तव्या-कर्तव्य-विवेक हरेक व्यक्ति में नहीं होता। यही कारण था कि वह सहसा स्वयं कुछ सहम सा भी गया। यह

तक कि डर भी गया। माँ पर कुमार की भक्ति भी बहुत थी।

शक्ति क्षण भर चुपचाप ही रह कर कलछी पतीली में चलाती रही, शलगम वह छौंक चुकी थी। अक्षय मन ही मन इस बीच डर रहा था। अचानक स्थिर दृष्टि ऊपर उठा कर शक्ति ने कहा—"तुम्हारे न करने पर वैसा मुझे करना पड़ेगा।" उसके स्वर में सत्यता—दृढ़ता का—आभास था। अक्षय जानता था कि अब उसकी माँ को उसके निश्चय से हटा सकने वाली शक्ति विश्वभर में है ही नहीं। उसने धैर्य पूर्वक कहा—"सो तो माँ मैं ही करूँगा, किन्तु हत्या करने वाले की हत्या क्यों न की जाय, यह मेरी समझ में नहीं आता। उसने रघु चाचा के प्राण लिये हैं, "प्राण के बदले प्राण", "खून के बदले खून," न्याय से भी उचित है, पर क्यों कि देशभर के न्यायालय इस दण्ड-विधान पर विश्वास करते हुए भी उस हत्यारे को दण्ड नहीं दे सकेंगे, अतः वह दण्ड हमें स्वयं ही देना पड़ेगा, दूसरे अन्य हृदयहीन लोग भी समझ जायेंगे कि दरिद्र के प्राण भी इतने सस्ते नहीं हैं कि बिना मूल्य ही जिसकी जब इच्छा हो ले ले, उन्हें भी पता लगेगा कि दीनहीन के प्राण लेने का क्या अर्थ है ? इससे मजदूरों पर होने वाले अत्याचार घट जायेंगे।"

"यदि ऐसा होता तो मैं स्वयं तुम्हें कहती कि पुत्र जाओ हत्या करो, किन्तु ऐसा होगा नहीं। यदि किसी प्रकार तुम अपने उद्देश्य में सफल हो भी गये, यदि किसी प्रकार साहब की हत्या न भी कर पाये······"

"हत्या नहीं, दण्ड कहो, माँ।"

"यही सही शब्दों के लिये झगड़ना बुद्धिमानी नहीं है। अच्छा

यदि तुम उसे दण्ड दे भी पाये, तो क्या होगा, जानते हो। उसकी साध्वी स्त्री विधवा हो जायगी, उसके नन्हें नन्हें बच्चे अनाथ हो जायँगे......" शक्ति कह ही रही थी।

"और रघु चाचा कि अनाथ विधवा बहू अपने परिवार के साथ ही अनाथ बच्चों को गोदी में लेकर ही जो भिखारिणी बन गई है, बना दी गई है, सो भी तुमने सोचा है, माँ।" अधीर होकर कुमार ने बीच में ही कहा।

"वह भी सोचा है, कुमार'''। अच्छा, साहब के परिवार की बात जाने भी दो, पर सोचो साहब की हत्या के अपराध में न जाने कितने निर्दोष मजदूर भाई और अन्य लोग पकड़े जायेंगे। उन्हें लेकर जो जो अत्याचार या न्याय के स्वांग होंगे सो तुम स्वयं कल्पना कर लो और अन्त में कोई एक निरपराध फाँसी के काले तख्ते पर लटका दिया जायगा। राज्य की ओर से न्याय पूरा हो जायगा। उधर आफीसर लोगों में मजदूरों के प्रति घृणा की मात्रा अधिक बढ़ जायेगी। यह तो हुए व्यवहार की दृष्टि से—कारण। मेरी समझ से मुख्य कारण तो यह है कि नीति-शास्त्र की दृष्टि से भी साहब ने एक हिंसा करके संसार में एक पाप की सृष्टि की, उस पाप को यदि मिटा सकते हो तो प्रायश्चित्त करके मिटाओ नकि स्वयं भी पाप करके हिंसा करके, विश्व में स्वयं भी पाप की वृद्धि न करो। किसी भी कारण से हिंसा पुण्य हो ही नहीं सकती।" सोच सोच कर शक्ति कह रही थी।

"तब क्या चुप करके—मुँह सी कर—ऐसी हत्याओं को और भी बढ़ावा देते जायँ। यही क्या ठीक होगा, शंकापूर्ण स्वर से कुमार

ने पूछा।

"नहीं, वरन प्रायश्चित्त करो।"

"मेरे किये हुए प्रायश्चित्त से उसे क्या लाभ होगा, माँ ?" इस बार स्वर में झुँझलाहट भी थी।

"लाभ होगा ही, क्योंकि वास्तव में तो सब आत्माएँ एक ही हैं न ? शरीरों की भिन्नता होते हुए भी एक कर्म का प्रभाव सब पर ही पड़ता है, तुम्हारे निस्वार्थ भाव से आत्म-शुद्धि की दृष्टि से किये हुए प्रायश्चित्त का फल तुम तक ही सीमित रह जाय, यह कैसे हो सकता है। किन्तु दूसरे को प्रभावित कर सकने के लिये बड़े आत्म-बल की आवश्यकता है उसी का संचय करो।"

"बड़ा लम्बा मार्ग है, माँ, यदि सत्य भी हो तो।"

"लम्बा होने पर भी निश्चित और सत्य मार्ग उसके अतिरिक्त दूसरा है ही नहीं। हिंसा करके तुम प्राण ले सकते हो, किन्तु प्राणों की सृष्टि नहीं कर सकते। हिंसा से मनुष्य को बिगाड़ सकते हो, पर मनुष्य बना नहीं सकते। बनाये जाते हैं मनुष्य प्रेम से, और अहिंसा से, किंतु बनाने वाले में आत्मबल का होना आवश्यक है। हिंसा करके तुम साहब को, एक मनुष्य को, शव मात्र, निर्जीव मात्र, भले ही बना दो, किन्तु मनुष्य तो नहीं बना पाओगे। पशु को मनुष्य बनाना प्रत्येक मनुष्य का नैतिक धर्म है, किन्तु मनुष्य को शव बना डालना तो धर्म है नहीं। याद रखो, कुमार, मारने वाले से बचाने वाले का हाथ कहीं अधिक शक्तिशाली है। मारने से बचाना कहीं अधिक सुन्दर है, पूर्ण है और महान है। साहब की निर्दयता ने हत्या कर डाली बेचारे निरीह रघु चाचा की, किन्तु

इस में क्या केवल साहब का शरीर ही दोषी है, अन्य कोई भी कारण नहीं है ! सोचो तो जरा भली प्रकार······।" शक्ति और भी कुछ कहती पर कुमार स्वयं ही बोल उठा—"माँ, मैंने सचमुच ही इस दृष्टि से विचार नहीं किया। तर्क पीछे करूँगा तुम्हारे साथ और शायद तर्क से उन व्यक्तियों को तुम्हारा मत समझा पाऊँ भी नहीं, किन्तु हमें कुछ भी हो साहब की प्राण-रक्षा करनी ही पड़ेगी।"

सफलता से शक्ति के मुख पर कोई भी प्रसन्नता की रेखा न दीख पड़ी। वह उसी प्रकार एकान्त भाव से सब्जी में मन लगाये बैठी थी, मानों कुमार के शब्दों से उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं। पतीली नीचे उतारी जा चुकी थी। और चकले से रोटी तवे पर जा चुकी थी।

"बेटा, प्रेम भगवान की सबसे बड़ी देन है, तब ही तो प्रेम को भगवान का स्वरूप ही कहा गया है। कर सकते हो तो मनुष्य मात्र को प्रेम करो, किन्तु यदि वैसा न भी कर पाओ, तो कम-अज-कम किसी से घृणा कभी न करना, किसी को भी नीची दृष्टि से देखना नहीं, क्योंकि सारे ही प्राणी तो भगवान का स्वरूप हैं, फिर तुम किसी को भी नीची दृष्टि से देख कर भगवान को नीची दृष्टि से क्यों देखो, कहा है—"तुलसी विलम्ब न कीजिये, मिलिये सबसों धाय। को जाने केहि वेश में नारायण मिल जाय॥"

"किन्तु यही सब क्या माँ दूसरे पक्ष को भी नहीं करना चाहिये। धनिक वर्ग-शासक वर्ग—यदि आज यही सिद्धान्त समझ ले, तो फिर संसार से सारे ही मानव कष्ट मिट न जायँ।" कुछ सन्तुष्ट कुछ शान्त से होते हुए कुमार ने कहा।

"हाँ सो तो होना ही चाहिये,किन्तु मेरे लाल, तुम्हारा कर्तव्य ही तुम्हें निभाये जाना चाहिये, अन्य व्यक्तियों का क्या कर्तव्य है उसकी मीमाँसा करना यदि व्यक्ति छोड़ दे तो अधिक उचित है। समाज, देश, जाति और विश्व सब ही कुछ समष्टि व्यष्टि का ही रूप हैं, इसी एक सिद्धान्त का द्योतक है, यदि व्यष्टि ही अपने कर्तव्य बिना एक दूसरे का विचार किये पालन करना सीख जाये तो समष्टि तो स्वयं ही सीख जायेगी। मेरे मन के भीतर बैठने वाले नारायण, तुम इस को जैसा मोड़ते जाओगे, मेरे ड्राइवर वैसी ही तो कार घूमेगी, इसी प्रकार यदि सब ही कारें ठीक ठीक घूमती जायें तो फिर बाधा कहीं भी रह ही क्यों जाये।" शक्ति ने बड़े ही दृढ़ विश्वास से कहा। कुमार उन्हीं विचारों पर गम्भीर भाव से मनन करने लगा। शक्ति की रोटियाँ बनती जाती थीं। शीघ्र ही काम समाप्त करके शक्ति ने भोजन उचित रीति से कुमार को देकर कहा—"मैं भी चलूँ ?

"नहीं, तुम्हें जाना नहीं होगा, माँ, चिन्ता न करो, वहाँ श्री भली प्रकार उस नारी को सम्हाल लेगी, वह बड़ी ही चतुर और दयावान लड़की है।"

न जाने क्यों शक्ति को श्री नाम बड़ा ही भला लगा। उस धनी घर की कर्तव्य-परायण युवती को देखने की इच्छा भी उसके मनमें उदित हो उठी, किन्तु माँ और पुत्र दोनों ही भली प्रकार जानते थे कि निरन्तर एक सप्ताह बिना खाये-पिये अथवा सोये, केवल मात्र दूध पर निर्वाह करके, हैजे के रोगियों की निरन्तर परिचर्या के पश्चात, दो दिन ज्वर से क्षीणकान्त देह लिये हुए, कल दिन भर निर्जला एकादशी करके भी आज सारे दिन जल की बूँद भी कण्ठ में न डाल सकने वाली

यह रमणी उस स्थान तक नहीं पहुँच सकती।

जाते जाते कुमार को माँ की अवस्था का ध्यान आ गया। यद्यपि उससे अधिक यह और कोई भी नहीं जानता था कि शक्ति जितनी ही विश्व भर के प्राणियों की चिन्ता रखती है उतनी ही अपने शरीर की ओर से लापरवाह है, फिर भी किस आत्मबल से उसका शरीर भली प्रकार चल रहा है कौन जानता है? यह भी कुमार को ज्ञात था कि घर में अब अन्न का एक दाना भी नहीं है, जेब में आठ आने के अतिरिक्त और पैसे भी नहीं हैं. वेतन कल सन्ध्या से पूर्व न मिल सकेगा। और शक्ति बाजार की कोई चीज भी तो मुँह में डाल सकती नहीं, फिर भी इन रोटियों में से एक भी रख लेने का प्रस्ताव सुनते ही वह अप्रसन्न हो उठेगी। माँ की इच्छा के विरुद्ध कार्य करा सकने की शक्ति विश्व भर में किसी में थी भी नहीं यहाँ तक कि कुमार में भी नहीं, पुत्र में भी नहीं, स्नेह-बल से भी नहीं फिर भी कुमार से रहा नहीं गया।

"माँ, गंगू के हाथ अभी दूध भेज रहा हूँ। अग्नि सुलगाना नहीं, शीघ्र ही गरम करके पी लेना। रात में भी तो तुम्हारा भोजन होगा नहीं, अड़तालीस घंटे बीत चुके हैं—तुम्हें निर्जल निराहार।"

माँ जानती थी कि पुत्र की जेब में केवल आठ आने पैसे ही हैं।

"मुझे दूध की आवश्यकता नहीं है। चार आने पैसे ही दे जाओ और अन्य चार आने का आध सेर दूध लेकर किसी प्रकार चाय आदि से रघु के पोते-पोतियों का काम चलाना सुबह को या मक्की का आटा लेकर दे आना। सन्ध्या को तो फिर तेरा वेतन आ ही जायेगा?"

"उन्हें तो माँ वह लोग भी सहायता देंगे ही। लोगों से लेकर बड़े बड़े चन्दे जो एकत्रित करते हैं, वह किस दिन काम आयेंगे ?" कुमार ने कहा।

"छिः, यही तो भेद है उनकी और हमारी सेवा में। वह करते हैं दूसरों पर उपकार, किन्तु दूसरे की सहायता की आशा से हम अपनी बहू और बच्चों को निराधार ही छोड़ दें क्या। उनके निकट वह है दीन, दरिद्र स्त्री, जिसका कि पालक उसे अनाथ करके चल बसा है, किन्तु हमारी तो वह घर की लक्ष्मी है। हम तो उसे पराया समझ सकते ही नहीं, भले ही उनके लिये वह पराई हो।"

इसके पश्चात कुछ भी और कह सकना कुमार के लिये असंभव था। उसने चुपके से माँ को चार आने दिये, पर माँ ने दो ही आने लिये। "दो ही आने पर्याप्त हैं" कह कर शेष उन्हीं को दे देने के लिये कह दिया। कुमार यह कह कर चला गया, "माँ मुझे भूख नहीं है, मैं सन्ध्या को कुछ भी नहीं खाऊँगा।" यद्यपि माँ जानती थी कि वह भूख कैसी नहीं है, फिर भी वह कुछ बोली नहीं। कुमार ने एक बार फिर मुड़ कर कहा—"माँ, गंगू को भेजता हूँ, कुछ अपने भोजन का प्रबन्ध अवश्य कर लेना।"

"अच्छा।" माँ ने कहा प्रकट रूप से, किन्तु मन ही मन शांति कह उठी—"हम स्त्रियाँ दो-चार दिन न खाकर मरा नहीं करती मेरे लाल।" और इन मन ही मन कहे हुए वाक्य का आभास पुत्र को दूसरे दिन प्रातः ही थाली में मक्की की दो रोटियाँ रखे हुए माँ के सामने आ जाने पर मिल गया।

कुमार ने चुपके-चुपके कारखाने जाने के पूर्व दोनों रोटियाँ

खाकर मन ही मन कहा—'हे नारायण, किस के किस पाप से भारतवर्ष किसी अन्धकारपूर्ण युग में गुलाम हो गया जब कि इस महान देश में आज भी ऐसी महान आत्माएँ जन्म लेती हैं। हो सकता है अतीत के गर्भ में किसी पुरुष ने कोई पाप किया हो, किसी नारी ने कोई अनर्थ किया हो, किन्तु जिस देश की उर्वरा भूमि आज भी इस कलि-काल में इस अस्वतन्त्रता—परतन्त्रता—की भयंकर अपमानपूर्ण ज्वाला के बीच भी ऐसी ऐसी महान माताएँ, ऐसी ऐसी निस्वार्थ रमणियाँ, मातृत्व की ऐसी कल्पनातीत प्रतिमाएँ उत्पन्न करने की क्षमता रखती हैं उस देश का परतंत्र होना किस पापी के, किस भयंकर अपराधी के, किस घोर पाप का प्रायश्चित्त है सो स्वयं विश्व-नियन्ता ही जान सकते हैं। हे नारायण, भले ही मुझे मुक्ति न हो, मोक्ष की प्राप्ति भले ही मैं न कर सकूँ, किन्तु यदि फिर से कभी भी मुझे जन्म दो ही तो भारतवर्ष की पुण्य-परायण भूमि में ही—इन्हीं कौशल्या, देवकी, सावित्री जैसी निस्वार्थ माताओं के गर्भ से।'

अक्षय कुमार ने अपने छोटे से किन्तु अनुभवों से भरे हुए जीवन में राक्षसियाँ नहीं देखी हों सो बात नहीं है, उसने कठोर वृत्ति वाली, घृणित चरित्र वाली और स्वार्थ परायण रमणियाँ भी देखी थी, उन्हें देख कर, उन का चरित्र देखकर, लज्जा से आँखें भी बन्द की थीं और घृणा से नाक भी सिकोड़ी थी, किन्तु उन सब के बीच में ही मन ही मन तुलनात्मक रूप से अपनी माँ को खड़ा करते ही कुमार का मन अपनी जननी के चरित्र से निकली हुई प्रकाश-रश्मियों से कुछ इतना ढक जाता था कि तीव्र उज्ज्वल प्रकाश में वह

काली और बेढंगी नारी-मूर्तियाँ भी लिप-पुत कर एक दम श्वेत ही सी दृष्टि-गोचर होती थीं। जो उज्ज्वल दिखाई दे ही नहीं पाती थीं वे उस प्रकाश में ही ऐसी डूब जाती थीं कि कुमार उन्हें किसी प्रकाश में—स्मृति में—लौटा ला ही नहीं पाता था। कई बार उस ने नारायण के निकट प्रार्थना की थी, मूक भाव से, कि हे सच्चिदानन्द, यदि कभी भी किसी नारी प्रतिमा को इस के अतिरिक्त और किसी भी रूप में देख पाऊँ तो, चाहे वह भ्रमपूर्ण ही विचार क्यों न हो, मैं उसे किसी भी अन्य रूप में अपनी जननी के सरल सत्य रूप के अतिरिक्त पहचान सकूँ ही नहीं।

एक छोटे से कवि-सम्मेलन में या उसे अपने मजदूर मित्रों की बैठक कहलो, उसमें उसने एक कविता पढ़ी थी, कितनी गर्वभरी थीं उसकी पंक्तियाँ सो और कोई भले ही समझे अथवा नहीं पर श्री ने समझ कर तुरन्त ही मन ही मन उस श्री को प्रणाम कर लिया था और उसकी समझ से पुराने विचारों की बूढ़ी हड्डियाँ सूखी होते हुए भी कुमार जैसे गहरे विचारक और बुद्धिमान व्यक्ति के मुख से कहला पाई थीं अपनी अज्ञात मूक प्रेरणा से।

मैं हूँ पला गोद में जिनकी उनमें मानव मान भरा है।
उनका हृदय बहुत कोमल है—पर दृढ़ता का गान भरा है।
मैंने स्वाभिमान पाया है, यही राह मेरी पहचानी॥
किसी जुल्म से हार न माने वही कहाती अमर जवानी॥ आदि।

कविता बहुत ही करुण थी, बहुत ही सुन्दर थी, किन्तु श्री कितने ही दिन तक उसकी ये ही पंक्तियाँ मन ही मन दुहरा कर इस साधु युवक की माँ के दर्शनों की लालसा लिये फिरती रही थी। एक

दिन उसने बड़े ही चाहभरे शब्दों में अक्षय से भी कहा था—"कुमार, एक दिन तुम्हारी माँ के दर्शनों की इच्छा है।"

"श्री देवी, फिर चलो न किसी दिन हमारे घर भी, मेरी माँ तो वास्तव में तुम्हें देखकर प्रसन्न हो उठेंगी। और, विश्वभर का कौन-सा बच्चा ऐसा है, कौन-सा युवक या युवती, कौनसी वृद्धा या वृद्ध ऐसा है जिसे मेरी माँ मन ही मन सन्तान की तरह ग्रहण न कर चुकी हों। उनके लिये तो विश्वभर के प्राणी उनकी सन्तानें ही हैं। वह क्या मुझे ही प्यार करती हैं, वह तो सब ही को प्यार करती हैं, ठीक मेरी ही तरह। तुम चलोगी तो तुम्हें भी प्यार ही करेंगी। वह तो सचमुच ही माँ हैं।"

उस दिन अक्षय के मुख से माँ की। अपनी माँ की यह भक्तिपूर्ण व्याख्या सुनकर श्री को जान पड़ा था कि यह नारी जिस की सन्तान सहज ही उसकी इस प्रकार की व्याख्या कर पाती है कि माँ का अर्थ ही जगत-जननी है, माँ शब्द में भरा हुआ भावार्थ ही जगदम्बा होता है, वह नारी मन्दिर की देवी भले ही हो, पृथ्वी की अभिराम देवी भले हो, किन्तु हाड़-मांस की बनी हुई इस पाप-पुण्य भरी धरती की प्राणी तो हो सकती ही नहीं। एक बार बचपन में अपनी नानी के साथ नवदुर्गा के दिनों में श्री ने बनारसी साड़ी पहन कर फूलों से सिर गुँथवा कर उमा के मन्दिर में जाकर फूलों के शृंगार से लदी-फदी सौन्दर्यमयी दुर्गा की प्रतिमा को नानी के संकेत पर भूमिष्ठ होकर प्रणाम किया था। देवी तो मूक ही रहीं, किन्तु नानी के हाथ से पूजा की थाली-प्रसाद आदि लेकर पुजारी ने इस अद्वितीय लावण्यमयी नन्हीं को साड़ी में लिपटी हुई प्रतिमा

बालिका को सम्बोधित करके कहा था आशीर्वाद रूप में,—'माँ दुर्गे तुम्हें अपना ही रूप दें।' उस दिन बालिका श्री उस का अर्थ नहीं समझ पाई थी, किन्तु आज मानों इतने वर्षों से हृदय में ही अस्पष्ट पड़े हुए उस छोटे से वाक्य का अर्थ पल भर में श्री के मन में स्पष्ट हो उठा। उसे जान पड़ा कि देवी की अपूर्व विभाभरी प्रतिमा उसे ही सम्बोधन करके कह रही है, "श्री देखना है मेरा रूप? देखोगी तब देखो जाकर इस युवक के घर में इस के कच्चे घर की कोठरी के सीले कोने में सीली लकड़ियों को फूँक फूँक कर आँखें लाल किए हुए इस की माँ को, इसकी पुण्यमयी जननी को। वही मेरा यथार्थ रूप है। वही मैं हूँ। मुझे जगत-जननी यूँही तो नहीं कहा जाता है। जहाँ भी कहीं और जब भी कभी मैं किसी नारी के हृदय के भीतर अपने लिये एक सिंहासन रखा पाती हूँ वहीं मैं निष्कपट भाव से आ बैठती हूँ, तब वही नारी अन्नपूर्णा, माँ जगत-जननी बन बैठती है।" भावुक लड़की बह गई भावों में।

अक्षय ने तभी कहा था—"अभी चलोगी?"

"नहीं फिर किसी दिन।" भावों का वेग इतना अधिक था कि उन्हें सम्भालने के लिए श्री का अपने एकान्त कमरे में जाकर अपने शान्त, स्वच्छ, दुग्धधवल फेनोज्वल बिस्तर पर लेटना अत्यन्त आवश्यक हो उठा था।

हृदय

"दो हृदयों का प्राकृतिक मिलन ही वह प्रेम है जिसका वर्णन कवि मुक्त हृदय से करते हैं, जिसे लेकर कालिदास, शेक्सपियर प्रभृति ने पृष्ठ पर पृष्ठ रँगे हुए हैं।……" रोमियो जूलियट पढ़ाते हुए रसिक हृदय वाली मिसिज़ खापर्डे कहे जा रही थीं। यौवन में नवीन पग धरे हुए श्री बड़े ध्यान से सुन रही थी हमारी वर्तमान पाठ्य कोर्स में रखी हुई पुस्तक की व्याख्या। कैसा होता है वह दो हृदयों का आकर्षण सोचा उसने। उसे जान पड़ा मानों रोमियो के स्थान पर नायक रूप से वही दुबला-पतला युवक आ खड़ा हुआ था। लड़कियों जैसी कमनीय कान्ति थी उस युवक की। हृदय तो इतना कोमल था कि किसी पक्षी की टूटी हुई पंखावलि या किसी पशु की टूटी टाँग को देखकर ही रो पड़ता था। दूसरी ओर कठोर इतना कि रघु चाचा के सिरहाने उसकी छाती सेंकते हुए श्री उसे रात को छोड़ गई थी तब पूरा आठ नौ घंटे की जाड़ों की रात बिता कर भी जब वह तड़के ही वहाँ पहुँची तो भी वह दुर्बल युवक एक कमीज मात्र पहने तथा एक खादी की साधारण चादर में लिपटा उसी प्रकार रघु चाचा की

छाती सेंक रहा था, मुख पर न थकान का कोई चिन्ह था और न आँखों में उनींदी खुमारी। उसी दिन फिर उसी समय कारखाने गया। रघु चाचा की मृत्यु से सारे दिन जो परेशानी घबराहट और दौड़-भाग की वह भी श्री से छुपी हुई नहीं थी, किन्तु सन्ध्या को दिन भर के थके-हारे युवक को जब उसने रघु की बहू के पास बैठ कर उसके पोते-पोतियों को भोजन कराते देखा, तब भी उसके मुख पर जरा भी थकान न थी। केवल था एक हलका सा उपहास, एक वेदना भरी मीठी सी दर्द भरी सी मुस्कान। कहाँ जाती है उसकी श्रम-जनित वेदना, विश्वभर में कौन कह सकता है? श्री को स्पष्ट रूप से दीख पड़ा कि उसका हीरो, उसका नायक, उसका रोमियो खड़ा है उसकी बालकनी के नीचे, उसकी ओर प्रेमपूर्ण दृष्टि से ताकता हुआ। क्षणभर बाद ही उस नायक का स्थान भर गया। वहाँ खड़ा था वही दुबला-पतला अक्षय। तब क्या, तब क्या, मैं उसे……श्री ने और कुछ सोचना चाहा फिर, पर उसकी सखि ने धीरे से, कोंचा उसे "किस रोमियो की याद आ रही है।"

"चुप"

"दिल धड़कता है।"

"छिः"

श्री को बुरा लगा, किन्तु यदि वही लड़की किसी के स्थान पर अक्षय कह देती तो शायद श्री खिल उठती। कालिज जीवन की प्रधान पात्र श्री उस दिन अचानक ही उदास हो उठी। उसका मन व्याकुल हो उठा अपने रोमियो से मिलने को। उसने चाहा कि अक्षय उससे कहे—"श्री, तुम्हारे बिना मेरा जीवन व्यर्थ है।" श्री कोरी

राजनीतिज्ञ ही न थी। राजनीति में भाग लेने के अतिरिक्त वह मनुष्य भी थी। उसके हृदय में रस भी था और उस हृदय के रस पर कोई संयम का बाँध भी न था। उसने चाहा कि अनेकों उपन्यासों में पढ़ी घटनाओं की भाँति ही अक्षय उसे अपनी नायिका बना ले। कुछ ही दिन हुए नगर के एक सम्भ्रान्त परिवार की एक उदार विचारों वाली युवती कार्य्यकर्त्री ने माता पिता की इच्छा के विरुद्ध स्वेच्छा से एक उसी दल के कार्य्यकर्ता के साथ विवाह करके एक आदर्श स्थापित किया था। नगर में बहुत अच्छी दृष्टि से न देखे जाने पर भी दल में इस कार्य्य की बहुत प्रशंसा हुई थी। कार्य्य था भी बड़े साहस का, सुख का, जीवन भर में एक आनन्द भर देने का। श्री ने भी उसे बड़ी ही अच्छी दृष्टि से देखा था। सम्मान बड़ी ही लोभनीय वस्तु है। असम्मान, अनादर और थुड़ी-थुड़ी के बीच जो लोग कर्तव्य का यथार्थ पालन कर पाते हैं ऐसे लोगों की संख्या उन लोगों से कहीं कम होती है जो कि अनेक साधारण कठिनाइयों के बीच अपना कर्तव्य-पालन कर पाते हैं। श्री भी दल के बीच प्रशंसा पाने के लोभ का वेग सम्हालना दुर्दमनीय पा रही थी। बहुत से प्रेम के भावों से ओत-प्रोत उपन्यास पढ़कर, तथा कल्पना-जगत में स्वयं अपने को ही नायिका के रूप में देखती हुई श्री अनायास ही अक्षय कुमार में अपने नायक का आभास पा गई। सुभाष का व्यक्तित्व दब गया। यह कुछ नवीन भी तो न था, उसमें कुछ विचित्रता भी तो न थी। मनुष्य पसन्द करता है साधारण वस्तुओं को, आदर करता है उन्हीं साधारण वस्तुओं में से कुछ अधिक सुघड़, अधिक भली वस्तुओं का, किन्तु वह प्रेम करता है उन्हीं वस्तुओं को जिनमें उसे किसी अपने

अभाव की पूर्ति होती दीख पड़ती है। माँ सन्तान को प्रेम करती है क्योंकि उसके हृदय का कोई एक खाली कोना सन्तान भर देती है। बहिन प्रेम करती है भाई को क्यों कि माता-पिता के साथ रहने पर भी जो सखी की सरलता का अभाव उसके जीवन में निरन्तर नाचता रहता है उसकी पूर्ति करता है भाई या बहिन, विशेष रूप से भाई, क्यों कि उस बालपन के घर का उत्तराधिकारी तो वही होता है न।

इसी प्रकार हर क्षेत्र में मनुष्य उसी को प्यार कर पाता है जो उसके किसी भी अभाव की पूर्ति करे। श्री अपने में जो कुछ नहीं पाती थी वही विचित्रता पाई उसने अक्षय में। जो कुछ अक्षय में नहीं था वह श्री में था, किन्तु अक्षय उस समय भी इस पर दृष्टि डालने योग्य नहीं बना था, पर श्री की दृष्टि चूकी नहीं। सुभाष उसके अपने ही समाज का अन्य अनेकों साधारण व्यक्तियों की भाँति ही खादी के स्वच्छ वस्त्र धारी एक सौम्य आकृति का युवक था, बड़ा ही कर्मठ, बड़ा ही योग्य, बड़ा ही हँसमुख। वह श्री को भला लगा, उसका साथ श्री को प्रिय लगा, किन्तु अक्षय तो एक नवीन ही वस्तु था। दुबला पतला साधारण हलके साँवले से रंग का युवक, मुखाकृति बिलकुल साधारण, किन्तु आँखों में एक गहरी वेदना की कहानी सी भरी हुई। मस्तिष्क पर की रेखाएँ किसी गम्भीर विचार-गर्भता की सूचना देती हैं, किन्तु मुख पर सरलता भरी उदासीनता, हँसता भी कम है और बोलता भी। श्री को यह सब कुछ बड़ा ही विचित्र लगा और फिर मनुष्य स्वभाव ही तो है। जो विजित होकर स्वयं ही पैरों में लोटने लगता है उसे प्रायः ठोकर ही मिलती है, किन्तु जो कोई उपेक्षापूर्ण दृष्टि लेकर दूर दूर चलता जाता है उसे ही पाने की—जीतने की, झुकाने

की, इच्छा स्वभावतः ही मनुष्य के मन में उदित हो उठती है। वैदिक काल के आर्यों से लेकर आज तक के मनुष्य सब ही इस एक मात्र वृत्ति को चरितार्थ करने में ही लगे रहे हैं। श्री ने नवयुवकों की प्रशंसापूर्ण, लालायित दृष्टि देखी थी। माता-पिता की सरल स्नेहमय वात्सल्यमय दृष्टि देखी थी, किन्तु किसी नवयुवक की, किसी भी पुरुष की उपेक्षाभरी दृष्टि उसने देखी ही न थी। कैसा था वह नवयुवक जिसने पहली ही मुलाकात में उसे देखा, उसके सौन्दर्य के लिये प्रशंसाभरी दृष्टि से नहीं वरन एक साधारण बहुत ही तुच्छ उपेक्षाभरी दृष्टि से। मन ही मन श्री ने कहा—"गँवार" किन्तु यह भाव बहुत अधिक देर तक न रहा। श्री उसी गँवार को परास्त करके अपने पैरों पर झुकाने को लालायित हो उठी। वही गँवार उसकी समस्त भावनाओं का केन्द्र बन उठा। साइकोलोजी—अनकौन्शस साइकोलोजी—शुभ चेतन मानव मनोविज्ञान की छात्रा मिसिज आपटे के लेक्चर में से अपने को ढूँढ लाई। उसने देखा कि वह भी उस "गँवार" को पाने के लिये अनजाने ही व्याकुल है।

लेक्चर समाप्त हो गया। श्री उठकर कमरे से बाहर आगई। 'लान' पर बिछी हुई हरी हरी मखमली घास उसे निमन्त्रित करने लगी, पर श्री चिन्तामग्न थी। अभी दो लेक्चर्स और शेष थे। किन्तु श्री को उनकी चिन्ता न थी। वह फिर कक्षा में गई, कुछ सोच कर अपना सुन्दर बढ़िया काश्मीरी काम का थैला उठाया और फिर निकल आई। इसी समय उसकी सखी दीख पड़ी। श्री ने जल्दी से उससे कहा—"विशाखे, मिसिज नायडू को इनफार्म कर देना—मैं एक बड़े ही आवश्यक कार्य से जा रही हूँ, लेक्चर अटेण्ड न कर सकूँगी।"

"कौन-सा है वह आवश्यक कार्य, श्री ?" शरारत से विशाखा ने पूछा, वह श्री की प्रिय सखी थी।

"हर समय शरारत न किया कर, अब अपना ओमाम क्या तुझ से बनवाया करूँ ?" कह कर साइकिल पर पैडल मारती हुई श्री कालिज गेट के बाहर थी। श्री का मन बड़ा ही अशान्त हो रहा था। मन के आस-पास ही एक भ्रमपूर्ण आकांक्षा सी नाच रही थी किसी को पाने की, किसी का झुका हुआ सिर, अधीर आँखें देखने की। अभी दो ही बजे थे। श्री ने साईकिल रेलवे कालोनी की ओर घुमाई, दो तीन फर्लांग से अधिक नहीं जा पाई थी कि कुछ सोचकर श्री घर की ओर मुड़ गई। निर्जीव, जड़ साइकिल ने भी श्री के मन का साथ दिया। श्री साईकिल पोर्टीको में खड़ी करके सीधी ऊपर चढ़ती चली गई। रेलिंग के सहारे दो तीन सैकेण्ड खड़ी होकर उसने सामने लगी हुई घड़ी की ओर देखा। तीन बजने ही वाले थे। श्री का मन थका हुआ था और शरीर भार-सा लग रहा था। पुस्तकें मेज पर फेंककर श्री सीधी पलंग पर जाकर पड़ रही। उसे सोचने की आवश्यकता थी, बड़ी ही आवश्यकता थी। मानों वह उसी दिन अपना भविष्य निश्चित कर डालना चाहती हो।

"जियो बीबो, आज बड़ी जल्दी आ गई कालिज से।" श्री की मँझली भाभी ने कुछ आश्चर्य से कहा। श्री के मँझले भाई थे आई० एम० एस०, युद्धकालीन सेवाओं के लिये इस नगर से दूर भेज दिये गये थे। परिवार वहाँ रह सकता नहीं था और भाभी की इच्छा भी इस सजी-बनी कोठी को शीघ्र ही अनिश्चित जगह घर बनाने के लिये छोड़कर जाने की न थी, अतः वह घर में ही रहीं। बड़ी भाभी

थीं एक आई० सी० एस० की पत्नी, मेंजुएट और सुन्दर, बड़े आदमी की लड़की। वह भी उन दिनों यहीं रहती थीं, पर अधिकतर वह अपने पति के साथ बाहर ही रहा करती थीं। छोटी भाभी थीं लेडी डाक्टर, स्वयं उनके पति थे एक सफल इञ्जिनियर। वह स्वयं भी प्रेक्टिस करती थीं। अतः तीनों बहुओं में से मँझली भाभी ही एक ऐसी थीं जो कि सुन्दर होते हुए भी अधिक नवीन सभ्यता की भक्त भी न थीं और नवीन शिक्षा से शिक्षित भी नहीं। पति की दृष्टि में अन्य भाभियों से उसकी पद-मर्यादा भी कम थी। यही कारण था कि परिवार के लोगों की सेवादि करके उसने अपने को उन लोगों के, अन्य बहुओं की अपेक्षा, अधिक निकट पाया था। श्री पर भी उसका सहज स्नेह था। श्री को भी इसी भाभी के निकट अधिक खुलने का अवसर मिलता था। भाभी को देखकर श्री खिल उठी।

"आओ, आओ, भाभी अन्दर आ जाओ न।" भाभी द्वार पर से ही झाँक रही थीं। अन्दर आ गईं।

"बिट्टो बीबी, आज बड़ी जल्दी आ गईं।"

"भाभी, आज जी कुछ ठीक नहीं था, सो पिछले दो पीरियड्स नहीं अटैण्ड किये।"

"अब जी कैसा है?" कहते हुए भाभी ने सिर पर हाथ रख लिया। भाभी का उज्ज्वल गोरा हाथ श्री के गोरे माथे पर काले बालों के बीच खिल उठा।

"अरे भाभी, ज्वर थोड़े ही है, यूँ ही ज़रा सिर-दर्द हो उठा था।"

"अच्छा, अब कहीं बाहर न जाना। माँ जी से कहती हूँ, डॉक्टर बुआ को फोन करवा दूँ या कार भेज दूँ।"

"भला भाभी, तुम तो यूँ ही हर बात को बढ़ा देती हो। अब भला ज़रा सा सिर-दर्द हुआ और लेट ही गई, तो ऐसा कौन सा रोग हो गया। एक वे हैं दीन-हीन मजदूर, सच्चे मनुष्य जिन्हें रक्त पसीना एक करके यदि किसी दिन न्यूमोनिया हो जाये, तो दवा क्या, पथ्य-पानी और आराम भी नसीब नहीं होता। क्या वह मनुष्य नहीं होते हैं ? मनुष्य का सा हृदय क्या उनकी छाती में नहीं होता, भाभी ? अपनी एक ननद की तो तुम्हें इतनी चिन्ता है, किन्तु उन असंख्य मानव-प्राणियों के प्राणों का मूल्य भी कभी तुमने आँका है ? कितने पवित्र हैं वे, कितने भोले, कितने निरीह, परन्तु कितने उज्वल......" श्री अपनी धुन में कहे जा रही थी। उसकी दृष्टि के सम्मुख उसी समय अक्षय का चित्र हजारों रूप से नाच उठा था। मानव की व्याख्या में मानो वह केवल मात्र अक्षय का रूप ही पा रही है। मजदूर कह कर जिस देवता का व्याख्यान करना उसको उपादेय है, वह देवता मानो केवल मात्र अक्षय ही है। मजदूर कह कर मानो वह अपने देवता की ही उपासना कर रही है। मँझली भाभी प्रायः श्री से ऐसी ही बातें सुना करती थी। बड़ी भाभी सुनकर हँस दिया करती थी केवल मात्र। छोटी भाभी सुनकर कहती "भला, श्री फिर तुम्हारा विवाह किसी मजदूर से ही देखभाल कर कर डालेंगे और क्यों न हो अपने भाइयों का भी तुम मजदूर ही न बना डालो।"

"भाइयों पर तो कुछ लोगों ने घेरा डाला हुआ है, भाभी जी, और अपनी तो मैं खुद ही सोच लूँगी। कुछ चिंता न करो।" श्री भी मजाक में ही उत्तर देती, किन्तु ऐसे अवसरों पर जब श्री अपनी कल्पना की अन्तिम सीढ़ी पर खड़े होकर बड़े ही प्यार और

शोर से व्याख्यान किया करती थी तब मँझली रानी बड़े ही सन्तोष से सुना करती थी। हाँ कभी कभी बीच में मुस्करा भर देती थीं। कभी कभी तो वास्तविक वेदना से भर कर कह भी देती थी, "ठीक ही है, निक्को, शायद मजदूरों की छाती में अमीरों से अधिक जाग्रत दिल रहता है, किन्तु उसका मूल्य परखने वाले ही कितने होते हैं।" पहले तो श्री इसे अपनी उक्ति का समर्थन मात्र ही समझती थी, किन्तु कुछेक दिनों से भाभी की आँखों की गहराई में उतर कर जब वह कुछ पढ़ना चाहती थी तो उसे जान पड़ता था कि भाभी के शब्दों में उनकी नारी स्पष्ट रूप से, कुचली हुई रमणी-मर्यादा, कुचला हुआ हृदय, साफ रूप से झलकता दिखाई देता था। उसे जान पड़ता था कि उसकी भाभी गुणवती, सुन्दरी और सुशीला होते हुए भी वञ्चित है, दुखिनी है, अशान्त है, बेचैन है। नन्हें पुत्र को गोद में लेकर कन्या की अँगुली पकड़कर भी मातृत्व का गौरव उसके मुख पर झलकता सा नहीं दीख पड़ता। जो कुछ दीख पड़ता था उसमें गहरी वेदना है, दर्द है, करुणा है, किन्तु यदि नहीं है तो केवल एक ही वस्तु "शान्ति"। आज भी भाभी की उक्ति में भी उसे वही भाव स्पष्ट सा होता हुआ जान पड़ा। उसे जान पड़ा कि मेरी भाभी, मेरी धनी भाभी, मेरी सुयोग्य आफीसर भाई की पत्नी, मेरी धनिक सास-श्वशुर की वधु दुखिनी है। बहुत ही दुखी है और......उसने स्पष्ट रूप से कल्पना में देखा कि दूसरी ओर अक्षय की निर्धन, विधवा माँ कहीं अधिक शान्त है, कहीं अधिक सुखी है, कहीं अधिक सम्पन्न है। इस बार श्री में उत्तेजना तो कम थी, किन्तु बेचैनी अधिक थी, उसने कहा—"भाभी, सच ही धनी के पास दिल तो है किंतु उसमें जो मानव भावनाएँ होती हैं उन्हें वह

एक दम सुला दिया जाता है धन की अफीम देकर, इतनी अधिक मात्रा अफीम की चढ़ा दी जाती है कि उनको तीव्र घटनाओं के हण्टर मार मार कर भी जगाया नहीं जा सकता। वे जाग पातीं ही नहीं।"

भाभी ने एक ठँडी साँस ली और चुप हो गई। शायद उसने सोचा था कि कोई भी सिद्धान्त, विश्व की, शायद मानव के हृदय की, असह्य वेदना को ही जड़ बना कर खड़ा हुआ है, उसका जन्म ही इन्सानी दिल के दर्द से हुआ है। भाभी की ठँडी साँस श्री के कानों तक पहुँची हो या न पहुँची हो, विश्व-नियन्ता के कानों तक तो अवश्य ही पहुँच गई होगी। श्री ने भाभी के मुख की ओर दृष्टि डाली और फिर कुछ देर को चुप हो गई। कितनी शून्य थी वह दृष्टि कितनी सुनसान।

'मँझली भाभी, स्वामी का स्नेह क्या वास्तव में इतनी लोभनीय वस्तु है?"

"क्यों? निक्की बीबी, यह क्यों पूछती हो?" बड़ी ही दीनता से बड़े घर की मँझली बहू ने कहा।

"देखती हूँ भाभी, सब कुछ होते हुए भी नारी सन्तुष्ट नहीं हो पाती। उसे स्वामी के स्नेह के अधिकार का ही जीवन में सब से अधिक प्रलोभन होता है। इसीलिये तो तुम से पूछती हूँ कि क्या वास्तव में पति का प्रेम नारी के लिये इतनी लोभ की वस्तु है।"

"निक्की बीबी, ऐसी बातें समझी नहीं जातीं, अनुभव की जाती हैं। समय आने पर आप ही जान जाओगी।" कहकर भाभी चुप हो रही। श्री भी कुछ देर तक सहानुभूतिसहित भाभी के सुन्दर मुख

की ओर देखती रही। भाभी कुछ देर बाद स्वयं ही बोल पड़ी—"रानी, उपेक्षा से चिढ़ होती है, आदर से निश्चितता, किन्तु शान्ति तो मनुष्य को जीवन में एकमात्र स्नेह से ही होती है, चाहे वह स्वामी का हो अथवा किसी अन्य ही प्राकृत अथवा अप्राकृत वस्तु का। नारी मुक्त भाव से स्वयं अपने आपको स्वेच्छा से अपने व्यक्तित्व को स्वामी के अर्पण कर देने का स्वांग तो करती है, किन्तु वास्तव में उसके यह स्वाँग करने के पीछे एक बड़ी भारी आशा छिपी रहती है, वह यह कि बदले में उसे भी अपने स्वामी का व्यक्तित्व मिलेगा। इसी एक आशा के सम्बल पर वह सब कुछ एकान्त भाव से लुटा देती है। आदर्शवादी कुछ भी कहें, किन्तु नारी भी तो मनुष्य ही है, उसे भी तो प्रकृति ने अपनी माया से स्वतन्त्र नहीं कर दिया है, यही कारण है कि वह भी पक्के व्यवसायी की भाँति ही अपना हिसाब रखती है, अन्तर केवल इतना है कि वह अविश्वासी व्यवसायी नहीं है। किसी अदृष्ट सौदे की आशा में वह सब कुछ दे डालती है। किन्तु पुरुष बड़ा ही विचित्र व्यवसायी है। वह सब कुछ शान्तिपूर्वक तसल्ली से ग्रहण तो कर लेता है अपनी शारीरिक शक्ति के बल पर, वासना की भूख के कारण, किन्तु जब प्रश्न आता है बदले में देने का तो वह बगलें झाँकने लगता है। अपनी त्रुटियों के, तर्क के द्वारा अपनी मानसिक त्रुटि को छुपाने के लिये, वह अपनी चालें चलाता है। और नारी! वह सब कुछ देखती है, सुनती है, समझती है जान या अनजान, किन्तु देखती-सुनती हुई भी नारी सहनशील है, अतः वह देख-सुनकर भी उस अप्रिय सत्य को टालने के लिये उसे सहन कर जाती है। एकतरफा सौदा ही उसका रहता है, फिर भी वह झगड़ा

नहीं करती, वरन केवलमात्र ब्याज रूप में सन्तान लेकर ही सन्तुष्ट हो जाती है, जो नारी ऐसा नहीं कर पाती वह असन्तुष्ट हो उठती है।"

"किन्तु भाभी, कितनी स्त्रियाँ तो जीवन में सुखी और सन्तुष्ट दीख पड़ती हैं।"

"मैं कहती थी न कि नारी अधिक शान्त, अधिक सहनशील और अधिक सन्तुष्ट है। मन की पीड़ा मन की सीमा से उठकर उसके होठों तक तो पहुँचती ही नहीं, यदि कभी पहुँचती भी है तो केवल भाप बनकर, आँखों तक पानी बनकर, तब ही तो वह नारी है। यदि ऐसा न कर सकती तो क्या कभी भी उसे देवी कह कर आदर दिया जाता। आँसुओं के तीव्र बहाव में अथवा मन की सीमा में ही ओट रख कर जब नारी स्वयं ही अपनी वेदना को बरबस भुला देती है तब ही वह सन्तुष्ट दीख पड़ती है, अन्यथा व्यथित तो वह है ही।" भाभी ने कठोरतापूर्वक कहा।

"तब क्या इस का कोई और उपाय है ही नहीं।"

"है, किन्तु सब कोई क्या वह कर पाती हैं? नारी अपने व्यक्तित्व से यदि पुरुष के व्यक्तित्व को सम्पूर्ण रूप से ढक कर अपना व्यवसाय का रूप ही उसे सिखा दे, तो वह सम्पूर्ण रूप से उसी में लीन हो जाता है। पुरुष स्थिर नहीं हो पाता अपने सिद्धांतों पर, वासना की लहर में बहता हुआ। एक समय में वह एक ही काम कर पाता है। यही कारण है कि वासना में डूबे हुए पुरुष को यदि संसार भर में कोई चीज शक्ति देकर सुपथ पर चला सकता है तो वह नारी, स्त्री, धर्म-पत्नी ही है। इसके अतिरिक्त नारी एक और उपाय भी ढूँढ लेती है। वह अपनी असाध्य प्रेम की भूख, बदला पाने

की अमिट भूख कहीं और मिटा लेती है। उसे प्रेम मिलता है अपने मनोरंजन की वस्तुओं में, यदि वह इतना कठिन मनोरंजन अपने लिये ढूँढ पाये। वह आनंद पाती है वैसा ही मीठा, वैसा ही तीव्र, वैसा ही भरा पूरा आनन्द अपनी सन्तान की सेवा में, भगवान् की भक्ति में और अपने उन्मन विचारों में। तभी तो वह जी पाती है, अन्यथा सृष्टि-उत्पत्ति के लिये विश्वनियन्ता को कोई और ही उपाय ढूँढना पड़ता।"

"इसका अर्थ तो यह हुआ भाभी कि नारी की यह मुक्त प्रेम के—सर्वस्व-दान के—बदले की आकांक्षा स्वाभाविक है—प्राकृतिक है। यदि वास्तव में ऐसा ही होता तो मीरा स्वामीका स्नेह-दान हाथ झटक कर गिरा क्यों देती, कैसे पति के प्रेम की अवहेलना कर पाती?"

"यही तो रहस्य है जो शीघ्र ही सब समझ पाते नहीं, निक्को रानी। प्रथम तो मीरा के स्वामी के दान में प्रेम की अपेक्षा मर्यादा की अधिकता थी, वहाँ मुक्त स्नेह था ही कहाँ? वह तो कृत्रिम अवगुण्ठनमात्र ही था। किन्तु यदि उसके स्थान पर वास्तविक स्नेह होता भी तो भी मीरा सचमुच ही उसकी अवहेलना कर पाती, क्योंकि उसे उससे कहीं अधिक स्नेह का दान सहज ही मिल रहा था। आधुनिक युग की युवतियाँ चाहें तो उसे भले ही एक काल्पनिक छलमात्र ही कह लें पर वास्तव में मीरा ने कहीं अन्य स्थान पर स्नेह का दान करके बदला पाने की प्रतीक्षा करने से पूर्व ही उस बदले को, स्नेह के बदले को, अपने हृदय में ही प्राप्त कर लिया था—वही स्नेह ही तो उस का जीवन बन उठा था, किन्तु वह स्नेह अपने स्वामी से दूसरे व्यक्ति से पाने की अपेक्षा स्वयं अपने आपको दान कर रही थी। मीरा

का चिरजीवी दर्द ही तो विश्व की सब से बड़ी विभूति है। सौभाग्यवती नारियों का स्वामी से पाया हुआ स्नेह का दान पति के शरीर-पात के साथ ही विलीन हो जायगा। संसार के बड़े बड़े प्रेमियों का स्नेह उनके शरीर के साथ ही समाप्त हो गया, किन्तु मीरा का स्नेह स्नेह तो था ही नहीं, उसने कभी कुछ अपने गिरिधर गोपाल को दान भी नहीं दिया और कभी उससे बदले में स्नेह पाने की प्रतीक्षा में बैठी भी नहीं। उसने तो पाया था अपने हृदय में केवल मात्र दर्द, केवल मात्र टीस, केवल मात्र वेदना। उसी वेदना को निरन्तर, निशि दिन बिना थके हुए ही वह अपने गिरिधर नागर से निवेदन करती रहती थी। किसी दिन भी उसने श्याम सलोने के निकट अपने स्नेह का दावा नहीं रखा। स्नेह पाया भी नहीं, चाहा भी नहीं, लिया भी नहीं। किया केवल अपने दर्द का उद्घाटन और वही तो युग-युगान्तर तक वैष्णवजनकी सम्पत्ति रहेगा। संसार से स्नेह के दावे भले ही मिट जायँ, विश्व से प्रेमियों के नामों का लोप चाहे हो जाय, किन्तु राधा का विरह, राधा का दर्द, मीरा की पीड़ा, नारी के उजड़े हुए दिल की पीड़ा, सदा ही जीवित रहकर विश्व-नियन्ता की निर्मित सृष्टि की कथा सुनाया करेगी। मीरा ने पाया था उद्भ्रान्त पीड़ा का इतिहास, पर उसके लौकिक स्वामी ने पाया था केवलमात्र वेदना का परिहास—वासना। मेल खाता ही कहाँ था दोनों की सम्पत्ति में। जब किसी प्रकार मेल हो पाता ही नहीं तो मीरा लौट गई अपने दर्द का निवेदन करने राधाधर के चरणों में और यही उसका इतिहास है, उसने स्वामी के स्नेह की अवहेलना नहीं की, वरन अपने सच्चे स्वामी को ही

खोज निकाला। उसका दर्द इतना चिरजीवी, पूर्ण और इतना सजीव न होता तो क्या कभी भी यह गाती, "मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।" स्वामी के स्नेह का दान उसे पूरा पूरा उसके मन में ही मिल गया था, तब ही तो उसे इतना बल मिला था कि वह कह गई, 'छोड़ दई कुल की कानि क्या करेगा कोई।' क्या करेगा कोई कहने, कह सकने, का विश्वास उसमें आ सकता ही नहीं था, यदि स्वामी से उसने भरपूर स्नेह का प्रतिदान न पाया होता, यदि उस स्नेह ने उन दोनों अस्तित्वों को मिला कर एक न कर दिया होता। सच तो यह है कि मीरा की आँख से एक बूँद आँसू गिर पाता ही नहीं, यदि उसके प्रियतम गिरवरधारी उसके पास खड़े होकर उन्हें पोंछने न जाते। यह प्रतिदान पाकर ही सजीव हो उठना मानव का स्वभाव है, यदि वह न तो दानव ही है और न देवता ही। स्त्री और पुरुष दोनों ही मानव हैं यह बात भुला देने से बीबी जी काम नहीं चलेगा।"

श्री इस अद्भुत लम्बी-चौड़ी व्याख्या से चकित हो उठी थी।

"भाभी, यह इतनी सारी फिलोसफी कहाँ से सीखी। मैंने तुम्हें कभी इतने विचारपूर्वक मनन करते हुए भी नहीं देखा है।" श्री ने आश्चर्य से कहा।

"ये बातें स्वयं आ जाती हैं, कोई कालिज में जाकर पढ़ी थोड़े ही जाती हैं ?" भाभी ने हँस कर कहा। श्री को सन्तोष न हुआ।

"तब प्रतिदान पाने की आशा प्रत्येक नारी के हृदय में होनी आवश्यक है—स्वाभाविक है ?" श्री ने पूछा।

"तुम्हारे दो प्रश्न हैं, पहले का उत्तर है, यह आवश्यक नहीं है

कि नारी केवलमात्र पुरुष को ही सर्वस्व-दान करे और उसके सम्मुख झोली पसार कर ही प्रतिदान पाने में अपना सौभाग्य समझे। पुरुष के भी जो पुरुष हैं, नारी बन कर उसका पल्ला जो भी प्राणी पकड़ लेता है, वही पार हो जाता है। दूसरे प्रश्न का उत्तर है कि यदि अब भी नारी वैसा न कर पाकर साधारण जगत में पुरुष से ही प्रतिदान चाहती है तो वह सर्वथा स्वाभाविक ही है।"

"मँझली भाभी, यह सब कुछ''''' श्री ने वाक्य समाप्त नहीं किया था कि नौकरानी ने आकर मँझली बहू से कहा कि माँ जी बुला रही हैं। मँझली बहू तुरन्त ही उठ खड़ी हुईं, उनके पतले लम्बे शरीर पर जरी पाड़ की मदरासी उन्नाबी रंग की साड़ी उनके शरीर को छूती हुई बड़ी ही भली लग रही थी। श्री ने मन ही मन सोचा— मेरे भाई की वासना इस नव-मालती-लता जैसी सुन्दरी से तृप्त नहीं होती। सुना है वह किसी विदेशी युवती के मोह में पागल हो उठे हैं। सम्भव है वह विदेशी युवती उनके मनोरंजन का साधन अधिक अच्छी तरह बन सके, किन्तु यह रमणी तो विलास करने भर की ही वस्तु है नहीं। यह विचारशील, गम्भीर, तार्किक रमणी पत्नी तो हो सकती है, किन्तु वासनापूर्ति का साधन किसी प्रकार भी इसे बनाया जा सकता ही नहीं और इसीलिये इसका जीवन अशान्त है, असन्तुष्ट है, वेदनामय है। भाभी चली गईं नीचे। बड़ी देर तक सीढ़ियों की ओर ही कान लगाये श्रीरानी भी सीढ़ियाँ उतरने की ध्वनि में से ही कोई सन्देश पढ़ने का वृथा प्रयत्न सा करती रही। विचार-धारा फिर मुड़ी। "नारी सब कुछ दे डालती है, दे पाती है, किन्तु वह भी प्रतिदान चाहती है। बदले की उसे भी इच्छा है। इस आकांक्षा

के बिना वह जी सकती ही नहीं। यदि इसी आकांक्षा को तिलाञ्जलि दे बैठे तो वह देवता बन जायेगी, राक्षसी भी शायद बन जाये, किन्तु नारी नहीं रह जायेगी और यही नियम पुरुष के लिये भी प्रकृति ने गढ़ा है। नारी तो अपनी सहज सहनशीलता से उसे ढक पाती भी है, किन्तु पुरुष अपनी नग्नता से उसे ढक भी नहीं पाता।······"

श्री सोच रही थी···"किन्तु अक्षय···वह क्या है। वह देवता है अथवा राक्षस? कुछ भी हो, वह मनुष्य तो कदापि नहीं है, यदि मनुष्य होता तो सहज ही मेरे देवोपम सौंदर्य की अवहेलना न कर पाता।" श्री ने उठ कर एक बार अपना समस्त शरीर दर्पण में देखा। निष्कलंक मूर्ति में कहीं कोई दोष नहीं, लेशमात्र भी नहीं। श्री फिर कमरे में ही टहलने लगी, पर मन ही मन कह रही थी। "अक्षय, तुम देवता हो चाहे मानव, तुम्हें एक बार परास्त करना ही होगा।"

जीत में हार

"ओह, बड़ा थक गई" कह कर श्री ने कुर्सी से पीठ टिका कर अँगड़ाई ली। आज श्री अपनी पूर्ण सज्जा में थी। उसकी गोरी देह पर स्वच्छ नीले रंग की मुर्शिदाबादी सिल्क की साड़ी बड़ी ही उज्वल जान पड़ती थी। बाल कुछ ऊपर उठे हुए, किन्तु पीछे से छितरे हुए से बने थे। गालों के आसपास किन्तु माथे के अधिक निकट दो चार लटें लटक रही थीं। काजल भी आँखों में कुछ अधिक ही लगा था। होंठ बड़ी सुन्दरता से रह रह कर धड़क उठते थे। माथे के ठीक बीचों बीच साड़ी के रंग का ही शेड लिये हुए एक चौड़ी सी बिन्दी लगी हुई थी। सचमुच श्री आज अपूर्व सुन्दरी लग रही थी। जान पड़ता था इस निर्दोष-नारी-मूर्ति में कहीं कुछ भी दोष है ही नहीं।

"ओफ़! बाहर जाकर घूम फिर न लो।" अक्षय ने सिर बिना उठाये हुए ही सरलता से कह दिया। श्री सिर से पैर तक जल उठी फिर भी शान्तिपूर्वक उसने कहा, "ओह, बड़ी धूप है बाहर तो।"

"हूँ।" कह कर अक्षय फिर भी सिर झुकाये लिखता ही रहा, जैसे विश्व में कागज पर सिर झुकाये कलम दौड़ाने के अतिरिक्त

और उसे कहीं भी कुछ भी आकर्षण नहीं है।

इस बार श्री ने भी फिर से पेन—बढ़िया पारकर का पेन—उठाकर कागज पर लिखना आरम्भ कर दिया—सिर झुका कर। परन्तु इस बार भी पाँच-सात मिनिट से अधिक देर तक वह लिख न सकी, फिर पेन कम्बल पर ही रख कर वह दीवार से पीठ टेक कर बैठ गई। थोड़ी देर तक बैठी ही रही।

"लो, इसे जरा साफ साफ अक्षरों में लिखना। प्रेस प्रायः तुम्हारे लेख से घबराता है।" बिना हाथ रोके हुए, बिना सिर उठाये हुए, अक्षय ने बायें हाथ से एक कागज श्री की ओर बढ़ा दिया। कागज श्री ने थामा नहीं, वह कुछ सोच रही थी। कागज गिर पड़ा नीचे।

"अरे!" कह कर अब अक्षय ने सिर उठाया तो श्री उसी प्रकार दीवार से पीठ टेके बैठी हुई थी, निश्चल, चुपचाप कुछ विचार-मग्न सी।

"ओह, अभी तो तुमने कुछ भी कापी नहीं किया, श्री! मुझे दो बजे से पूर्व ही यह सारा मैटर प्रेस को देना है।" अक्षय ने झुँझलाहट से कहा।

"प्रेस को अभी देना है?" आश्चर्य से कलाई पर बँधी हुई बहुमूल्य घड़ी की ओर देखकर श्री ने कहा। "एक तो बज रहा है और प्रेस रहता भी कोई चार कोस पर है, फिर यह कड़ी धूप। यदि ऐसा ही आवश्यक है तो मुझे दो मैं साइकिल पर दे आऊँगी।" शायद अक्षय के कथन का पूर्व भाग श्री ने सुना ही नहीं था।

"उसकी चिन्ता तुम्हें नहीं करनी पड़ेगी, पर जो कर रही हो उसे तो ठीक से करो। अभी आधी से अधिक कापी करने को पड़ी है।"

फिर भी अक्षय लिखे ही जा रहा था।

"पर मैं करूँ क्या ? मेरी अँगुलियाँ जो दुखती हैं। भला पाँच घंटे तो लिखते लिखते हो गये। मुझ से तो अब लिखा नहीं जाता।" कुछ अनखाकर श्री कह रही थी।

"पर करना तो होगा ही। फिर प्रेस को आठ दिन छुट्टी मिलेगी नहीं और हमें पोस्टर्स भी तो चौथ तक बँटवा ही देने हैं, अन्यथा लाभ ही क्या होगा। नहीं नहीं श्री जैसे भी हो तुम्हें यह काम तो करना ही होगा। पहले से कह देती तो मैं किसी और को ही बुला लेता।" अक्षय चिढ़ा हुआ था पर उसके हाथ निरन्तर काम किये ही जा रहे थे। इस बार श्री चुप हो गई। कापी फिर होने लगी थी उस मैटर की, पर श्री सोच रही थी, "यह व्यक्ति भी तो मेरे साथ ही वरन उससे भी पूर्व से काम कर रहा है, बिना एक बार भी रुके हुए, इसके हाथ इसके मस्तिष्क का सन्देश देश की पढ़ी-लिखी जनता तक पहुँचाने का माध्यम तैयार कर रहे हैं, किन्तु यह थका नहीं। परसों इसे ज्वर रहा था सारी रात, कल भी कुछ तबीयत ठीक नहीं थी, फल दिन भर खाया भी न था, किन्तु आज प्रातः से ही काम करके भी यह थका नहीं, एक मैं हूँ कि रात को भर-पेट भोजन करने के पश्चात दूध पी कर आनन्दपूर्वक सोई थी। प्रातः साढ़े सात बजे उठकर स्नान आदि करके भारी जलपान करके ही यहाँ विराजी हूँ। इसी बीच में तीन बार उठ कर टहल चुकी हूँ, दो बार पानी पिया है, दो बार शक्ति के पास जाकर उसके काम में सहायता देना चाही है, किन्तु फिर भी अँगुलियाँ थकी ही जा रही हैं, हाथ में पेन लेकर अक्षर भी नहीं बनते हैं।" श्री को याद आगई कुछेक मास पूर्व की घटना। एक

बहुमूल्य पेन खरीदा था उसने अक्षय को उपहार देने के लिये। जिस समय उसने वह पेन अक्षय के हाथ में रख दिया तो कुछ देर पेन की ओर देख कर अक्षय ने कहा—

"श्री! पेन बहुत सुन्दर है, मूल्य भी इसका बहुत होगा, किन्तु ऐसे पेन तो उन्हीं के हाथों में शोभा देते हैं जो इन्हें रगड़ते नहीं, वरन प्यार से कभी कभी कागज पर थपकी दे देते हैं। हमें तो किसी मोटे बाँस के लक्कड़ की जरूरत है, जिसका न कभी लिहाज़ ही करना पड़े और न ख्याल ही। यह हमारे किस काम का?" और बात आई गई हो गई। पेन अक्षय ने लिया नहीं। जब श्री ने शक्ति के पास आकर फरियाद की तो शक्ति ने भी सप्रेम कह दिया—"श्रीरानी, सचमुच अक्षय को यह पेन नहीं चाहिये। बहुमूल्य पारकर पेन क्या कभी सारी सारी रात कठोर हाथों में पड़ कर कागज पर घिसता रहने पर रो न उठेगा।" श्री चुप हो गई किन्तु वही पेन उसका उस दिन से मुख्य पेन बन गया। उसे जान पड़ने लगा कि अक्षय ने वह पेन उपहार में ही दिया है। आज इस दुर्बल युवक की अद्भुत लेखन-शक्ति देख कर स्वयं श्री कह उठी कि देवता सच ही तुम्हारी परिधि में यदि कोई लेखनी तुम्हें लेकर रह सकती है तो वह इस्पात की—स्टील की—लेखनी भले ही हो, विदेशी पारकर कम्पनी का पेन कदापि नहीं हो सकता।" फिर भी श्री लिखने में मन नहीं लगा पाई। रह रह कर अक्षय के मुख की ओर देखने लगती थी, फिर भी उसे निश्चित रूप से ज्ञात था कि किसी प्रकार भी यह युवक अपने काम का न होना सह नहीं सकेगा। एक बज चुका है. इसने अभी भोजन भी नहीं किया है। जल-पान? सोच कर स्वयं श्री मन ही मन हँस

पड़ी। हाँ शायद जल-पान किया हो थोड़े से भुने हुए चने और एक गिलास ठंडा पानी और फिर भी इसे न भोजन की चिन्ता है और न प्यास की शिकायत। गर्मी की इस भरी दुपहरी में इसे एक ही चिन्ता है और वह यह कि उसे यह मैटर चार पाँच मील चलकर प्रेस तक पहुँचाना है, ताकि रात भर में यह छप जाये। और यही है वह अभागा जिसके पीछे देश भर की पुलिस कानून-विरुद्ध पोस्टरों छापने का अभियोग लगा कर मारी मारी फिरती है, जिसका अस्तित्व ढूँढ न पाने के कारण सी० आई० डी० इन्सपेक्टर को रात को नींद नहीं आती और दिन को भूख नहीं लगती। फिर भी कौन करता है इस की रात की नींद और दिनकी भूखका हरण। श्री ने सुभाष को देखा था, प्रकाश को भी देखा था, अन्य अनेक कम्यूनिस्ट पार्टी के वर्कर्जों को भी देखा था काम करते हुए। वह दिन भर लगन से काम करते थे, समय-असमय उसने उन्हें दिन की कड़ी धूप में या रात की ठिठुराने वाली सर्दी में साईकिल पर दौड़ते भी देखा था, किन्तु उनकी रचनाएँ कम-से-कम वर्तमान काल में प्रगति के विरुद्ध नहीं थीं, उन्हें आदर मिलता था सम्मान मिलता था और आधुनिक युग की सन्तति से स्वागत भी मिलता था। काफी हाउस में काफी का घूँट सिप करते हुए झुके से प्रणाम-वन्दना करते हुए उन्हें कभी कभी नारी-मुख के दर्शन भी मिलते थे। स्वयं श्री को उन्होंने शक्ति-प्रदायिनी नारी कह कर सम्मानित किया था और श्री ने भी उन्हें अनेक बार शक्ति दी थी कार्य करने की, सदैव आदर-वाचन कहकर सम्मान देकर। उनका विरोध करते थे मुट्ठी भर देश के वृद्ध जन ही, जिन्हें वह जब तब "बड़ौआ-दयालाल" के कह कर हँसी में उड़ा

देते थे । किन्तु कैसा है यह विचित्र व्यक्ति, जिसके कार्य्य का कोई सम्मान नहीं, जिसकी शक्ति का कोई प्रदर्शन नहीं, यहाँ तक कि रात दिन एड़ी-चोटी के पसीने को एक करके वह जो साहित्य लिख मारता है, उसे भी अधिकांश जनता समझ पाती ही नहीं। समझाने का वह प्रयत्न भी नहीं करता। कभी कहने पर भी हँस कर कह देता है, "श्री, माँ कहती है मनुष्य में भी अधिकारी भेद होता है, जो अधिकारी हैं वही समझें औरों के लिए तो मैं लिखता हूँ ही नहीं और फिर मेरा साहित्य मजदूर-हितैषी, किसान-हितैषी, दरिद्र-हितैषी साहित्य तो है नहीं, जिसे जिनके हित में लिखा जा रहा है वह पढ़ सकें समझ सकें। मेरा साहित्य तो है विश्व-हितैषी साहित्य, उसे सब लोग समझ सकेंगे भी कैसे! विश्व का हित-साधन करने के लिये समूह की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है केवलमात्र व्यक्ति की—कुछेक व्यक्तियों की और वह व्यक्ति ढूँढे नहीं जायेंगे, स्वयं ही मिल जायेंगे, जब कि विश्व की पुकार उनके कानों तक पहुँचेगी……!" इसी प्रकार और न जाने क्या क्या अक्षय कहता रहता था जो श्री समझ भी नहीं पाती थी। उसने वे पोस्टर्स, पैम्फलेट्स और पुस्तकें पढ़ी थीं। कुछ समझा था और कुछ नहीं भी, किन्तु राज्य किस बात पर इतना क्षुब्ध हो उठता है, यह बात उन्हें पढ़कर तो इच्छा करते हुए भी श्री आज तक नहीं जान पाई थी, किसी से पूछ सकती भी नहीं थी। एक बार शक्ति से पूछा था तो शक्ति ने केवल इतना ही कहा था, 'वह हमारे अपने बहुत ही अपने हैं न, इसी से तो हम उन पर क्रोध कर पाते नहीं, किन्तु वह चाहें तो हम पर भले ही क्रोध कर लें, हमारे तो वह अपने ही रहेंगे, पर यह

तो उसके प्रश्न का उत्तर था नहीं। और श्री समझ पाई भी नहीं थी। वह स्वयं साम्यवादी थी, वैसी साम्यवादी जो सिद्धान्त के लिये हिंसा करने में भी आगा-पीछा नहीं करते। उसके दल के किसी भी अन्य व्यक्ति की अक्षय की प्रणाली से सहानुभूति न थी। यथासम्भव, वह अपने पथ पर चलते हुए, अक्षय को साथ मिलाना चाहते नहीं थे। किन्तु अक्षय मजबूर था न, उसे छोड़कर भी तो उनका काम नहीं चलता था, अतः उसे निकाल बाहर कर भी नहीं सकते थे, पर फिर भी वह उसे "अहिंसक भैंसा" या "सती भेड़ा" कह कर सन्तोष कर लिया करते थे। उसका साहित्य प्रायः उन्होंने छुआ भी नहीं था, बात बात पर रूस का, लेनिन का—और कार्ल मार्क्स का हवाला देना तो मानो उनका पेशा ही हो गया था। देश की भाषा का साहित्य वैसे भी उन्हें कुछ बहुत भला नहीं लगता था और फिर अक्षय! उफ वह तो लिखता भी बड़ा ऊँटपटाँग है न ?'

श्री का मन उलझन में था। बचपन से ही वह कम्यूनिष्ट थी, सोवियत-भक्त। सुभाष ने श्री को यही उपहार दिया था और श्री ने मन-श्रद्धा से स्वीकार कर लिया था। उसके सम्मुख दो मूर्तियाँ रह रह कर आती थीं एक थी कम्यूनिष्ट सुभाष की और दूसरी विचित्र सिद्धान्तों वाले अक्षय की। कोई भी वाद उसके नाम के साथ सीधे नहीं लगाया जा सकता। वह साम्यवादी था, किन्तु काफी हाउस नहीं जाता था, प्रणाम भी हाथ जोड़ कर ही किया करता था। वह लीडर भी नहीं था, उसका दफ्तर भी कहीं बाहर में कुल्हाड़े और हथौड़े के विशाल लाल चिन्ह से सज्जित न था। उसके निवास का छोटा सा कमरा ही उसका दफ्तर भी था और घर भी। दोनों चरित्र वह देखती थी

और खीज उठती थी स्वयं अपने पर। पहचान नहीं पाती थी किसी को। फिर भी अक्षय का एकान्त संयम, उस की उदासीनता उसे अपनी ओर खींचती सी प्रतीत होती थी। सुभाष की दृष्टि में जो रस उसे दीख पड़ता था अक्षय की दृष्टि में उस का सर्वथा अभाव था और यही श्री की दृष्टि में उसे विचित्र बना देता था। श्री सोचते-सोचते और भी थकने लगी। एक बार उसने कहीं जाते हुए सुभाष से कहा था, "आह, मैं तो बड़ी थक गई।" तो सुभाष फौरन ही साइकिल उसकी साइकिल के निकट लाकर उसे रुकने के लिए कहने लगा था। दोनों थोड़ी देर ठहर कर एक हरे-भरे बगीचे में चले गये थे। कोई उन्होंने आधा घंटा विश्राम किया था। सुभाष स्वयं सन्तरे लाया था, माली से खरीद कर। उसने स्वयं उनका जूस निकाला था और बड़े ही आग्रह से उसका अधिकांश भाग श्री को ही पिला दिया था। उसने कहा था, "श्री तुम्हारे ओंठ तो बड़े ही सूख रहे हैं। सचमुच मैं बड़ा मूर्ख हूँ जो तुम्हें इतनी थका डाला है, भला बस में ही आ जाते बेगमपुरा।" कितनी वेदना, कितना पश्चाताप था उसके स्वर में, यही तो नारी के प्रति पुरुष का उचित भाव है और आज जब कि मैं सम्पूर्ण रूप से थकी हुई हूँ, यह युवक मेरी थकान का उत्तर देता है मुझ पर अपराध का आक्षेप करते हुए कि काम नहीं हुआ है उसे करना ही है। कितना कठोर है यह पुरुष। श्री की नारी ने कहा भीतर छिपे छिपे ही। बड़ी देर तक थक कर श्री जोर से बोल उठी—"आह, आह।"

"क्यों क्या हुआ?" अँगुलियाँ फिर भी कागज पर दौड़ रही थीं।

"हाय माँ, मेरी अँगुलियाँ दुखने लगीं।"

"दबा दूँ ?" स्वर कोमल था।

"लो, दबाओ" श्री ने मजाक में कहा।

सचमुच ही पेन फेंककर अक्षय ने श्री की कोमल लम्बी गुलाबी अँगुलियाँ पकड़ कर दबाना आरम्भ कर दिया, बिना किसी भूमिका के। श्री के मुख पर हलकी सी मुस्कान थी।

"दाहिना हाथ पकड़ने से क्या होता है जानते हो, अक्षय ?" श्री ने कहा मुस्कराते हुए, यद्यपि प्रथम स्पर्श से उसका समस्त शरीर झनझना रहा था। एक विद्युत-प्रवाह सा बह उठा था। श्री समझ नहीं पाई थी कि वह आनन्द था अथवा क्या ?

"नहीं, क्यों ?" वह कुछ और सोच रहा था।

"नारी के दाहिने हाथ को पकड़ने के कुछ अर्थ होते हैं सो फिर कभी बताऊँगी, अक्षय।" अक्षय विचार-मग्न था।

पथ

"ज़रा ठहरो अक्षय, बड़ी ज़ोर से प्यास लगी है।"

"ठहरने को समय ही कहाँ है, श्री?"

"बड़ी प्यास लगी है। इतनी तो धूप है।"

"न, न, ठहरना नहीं हो सकता। तीन पचीस की ट्रेन न पकड़ सकने पर प्रातः पहुँच सकेंगे नहीं।"

"न सही, सन्ध्या को ही पहुँच जायेंगे।"

"श्री, सन्ध्या को पहुँचने पर क्या वे लोग जीवित रह सकेंगे। यह भूलने से तो काम चलेगा नहीं कि उन्हें पिछले तीन दिन से भोजन नहीं मिला है। कल प्रातः भी न पहुँच पाये तो भगवान ही मालिक है और फिर……" कह कर कुछ देर सोचने की सी मुद्रा से अक्षय चुप ही रहा, किन्तु चलना निरन्तर जारी था। गति में कहीं ज़रा भर भी अन्तर नहीं पड़ा था। दो के लगभग बजे थे। गर्मियों के दिन थे, धूप तेज़ी पर थी। अक्षय की पीठ पर एक छोटी सी बोरी थी और हाथ में एक खद्दर का बैग ज़रा बड़ा सा था। श्री के हाथ में एक साधारण सा खद्दर का थैला था, खूब कसकर

भरा हुआ। श्री की वेश-भूषा अत्यन्त साधारण थी। खादी की स्वच्छ बिना किनारे की साड़ी तथा बड़े ही बढ़िया कट का कीमती जम्पर पहने, श्री बड़ी ही भली लग रही थी। थक कर पसीने से लतपथ थी—पैरों के बहुमूल्य चप्पल भी धूल से भर उठे थे और श्री के सुन्दर पर भी। अक्षय के तेजस्वी मुख पर पसीने की बूँदें तो चमक रही थीं, किन्तु थकान का नाम भी न था।

"फिर क्या" जिज्ञासा से श्री ने कहा।

प्रातः न पहुँच सकने पर श्रीकान्त भी तो नहीं मिलेगा और तुम्हें लाना तो फिर व्यर्थ ही हो जायगा।" बहुत ही धीरे से अक्षय ने कहा।

श्रीकान्त? यदि हम प्रातः न पहुँच सके तो सन्ध्या को वह अवश्य ही मुझ से मिलने आयेगा।" श्री ने विश्वास से कहा।

"तो सुविधा क्या उसे प्राप्त होगी?"

"करनी ही होगी और फिर श्रीकान्त को रोक सकने वाला इस संसार की तुलना में तो प्रायः कोई है ही नहीं।" श्री ने एक विचित्र सी बड़ी अल्हड़ता स्वर में भर कर कहा। श्री के भीतर की नारी अक्षय के मन में ईर्षा का जन्म करा देना चाहती थी।

"तो क्या सदा यही कहा जा सकता है?" निश्चित उदासीन स्वर में अक्षय ने कहा। "और कुछ भी हो मुझे परसों काम पर भी तो जाना है। न जाने पर न जाने क्या सन्देश हो।"

"सो तो है ही।" कह कर श्री ने थैला दाहिने से बायें हाथ में बदल लिया, फिर भी बेचारी काफिक जान पड़ती थी।

"जरा पैर बढ़ा कर चलो तो।" कुछ ही पश्चात अक्षय ने कहा।

"मुझ से तो अब एक क़दम भी चला नहीं जाता, अक्षय। तनिक ठहर जाओ। कहीं से पानी ढूँढ कर पी लें, फिर चलेंगे।" श्री ने विनती भरे स्वर में कहा।

"तुम ठहर जाओ श्री मेरा ठहरना न हो सकेगा" कह कर अक्षय ने श्री को साथ लेने का विचार मानों एक दम छोड़ कर तेजी से चलना आरम्भ कर दिया। श्री का नारी-अभिमान जाग्रत हो उठा। वह पिछले तीन कोस से इस धूप में लगातार एक सी तेज चाल से अक्षय के साथ प्रायः दौड़ती ही आ रही थी। यहाँ पहुँच कर यह उलाहना उसे कुछ भला नहीं जान पड़ा। उपेक्षा, ग्लानि और अपमान से उसकी आँखें भर आईं। फिर भी शांति से पैर बढ़ाते हुए उसने कहा—"तुम अक्षय, तुम कौन सी धातु से बने हुए हो? दया, माया भी क्या तुम्हारे हृदय में है ही नहीं?" अभियोग भरे स्वर से श्री ने कहा। नारी प्रेम पाकर करती है मान, किन्तु उपेक्षा पाकर वह मान करना भी भूल जाती है।

"दया, माया की उन्हें कहीं अधिक आवश्यकता है श्री।" कदमों में तेजी बढ़ ही रही थी। थैले के बोझ से हाथ झुके जा रहे थे। बोरी के वजन से शायद कन्धा दुख उठा। पर युवक—दुर्बल युवक—चला जा रहा था, एक चाल से निरन्तर। 'हूँ" कह कर श्री चुप हो गई। उसके होंठ सूख रहे थे। श्री सोच रही थी—मीलों दूर पड़े एक भूखे-प्यासे परिवार के लिये इस युवक के दिल में इतनी दया है। किसी एक अनजान क्रांतिकारी युवक के लिये उसके मन में इतना प्रेम है, किन्तु विश्व भर में यदि किसी के लिये इसके दिल में कुछ भी नहीं है तो वह मैं ही हूँ। कैसा अद्भुत है इसका मन, कितना विचित्र है

इसका स्वभाव ? किस धातुसे बना है यह दुर्बल शरीर ? इस शरीर की गति में कहीं भी राई-रत्ती भर भी न थकान है और न चाल में अन्तर। आँखें मूँद कर मन ही मन श्री ने इससे ही मिलती-जुलती मूर्ति अपने परिचितों में कहीं देखनी चाही तो उसे वह सन्ध्या याद आ गई जब उस के अन्य साथी कामरेड्स श्रीकान्त के दफ्तर वाले कमरे में बैठे विवाद कर रहे थे—मिल के इंजिनियर की हत्या के मसले पर। अभी तीन मास भी तो बीते नहीं, उसी इंजिनियर ने "मजदूरों को भड़काता है" यह कह कर अक्षय को गिरफ्तार करवाना चाहा। कोतवाली में तो वह प्रायः एक मास ही रहा, किन्तु वह कोई भी छूटा नहीं। थानेदार ने इसी दुष्ट के कहने से उसे बेतों से पिटवाया भी और रात रात भर गर्मी की रात में कमरे की सख्त गर्मी और मच्छरों की भिनभिनाहट में जकड़े भी रखा। कई दिन भोजन भी नहीं मिला और पानी तो प्रायः मिलता ही बहुत थोड़ा सा और वह भी गरम था। अनेक कष्ट पाकर गिरी अवस्था में भी, गरमियों के कारनामों की लिस्ट न बता कर, जिस समय और भी दुर्बल और मृतप्राय होकर ही वह दुनिया में आया, तो उसे प्रथम व्यक्ति मिली श्री। श्री की आँखें उसे देखकर आँसुओं से भर उठीं। परन्तु यों वह उन्हें गिरा कर हाल ही में स्वतन्त्र संसार देखने वाले का गौरव कम कर देती इसलिए वह उन्हें पी गई आँखों ही आँखों में।

"उसी दुष्ट ने तुम्हारी यह अवस्था करवा दी, अक्षय!"

"वह तो निमित्त मात्र था श्री, वास्तव में तो मेरा नारायण ही स्वयं यह चाहता था।"

"तब तो तुम्हारा नारायण बड़ा ही निर्दय है, अक्षय। वह तुम्हें व्यर्थ ही में दुःख देना चाहता है।" श्री का भगवान् पर विश्वास नहीं था।

"मेरा भगवान् मुझे कहाँ दुःख देता है। वह तो स्वयं ही मेरे शरीर में बैठ कर कष्ट पाता है श्री।" श्री आगे कुछ कह ही न सकी। उसने सदा ही भगवान् की हँसी उड़ाई थी, सदा ही भगवान् को धनियों का बनाया हुआ एक ढोंग ही समझा था, किन्तु आज वह मन ही मन कह उठी—"हे भगवान्, यदि तुम ढोंग भी हो तो धन्य है यह ढोंग भी, जो अस्तित्वविहीन होते हुए भी मानव में ऐसी अद्भुत सहन-शक्ति भर देता है।"

उस इंजिनिअर को ही लोग रघु चाचा की मृत्यु का कारण समझते थे और भी न जाने कितने निरीह मजदूर उसी की निर्दयता का शिकार हो चुके थे, पर मिल-मालिक प्रसन्न थे—यह दुगना काम जो लेता था। उसी की हत्या करके यह लोग छुटकारा पाना चाहते थे। श्रीकान्त ने यही प्रस्ताव रखा। प्रस्ताव सुनते ही अक्षय चौंक कर उठ खड़ा हुआ। उसने बिना ही किसी भूमिका के कह डाला कि यह हत्या न होगी। श्रीकान्त उस दिन सभापति था, उसने अक्षय को लक्ष्य करके बहुत सा वाद-विवाद कर डाला, पर अक्षय अटल था। "यह हत्या न होगी, यदि हत्या करनी ही हो तो मेरी कर डालो। वह मेरा भाई है।" विवाद उस सीमा तक पहुँच गया था कि सतीश कह उठा—"ट्रेटर" हरीश ने कहा, "छिः, मजदूर कैपीटलिस्ट का कुत्ता!" विनय भट्ट कह रहा था, "वेतन-वृद्धि होगी।" अहमद ने घूँसा तान कर कहा था, "क्या, इस के घूँसे के

कहाँ तक बचाओगे इन लोगों को।" इसी गर्मागर्मी में पिस्तौलें भी निकलने लगी थीं कि श्री अद्भुत साहस से निहत्थे अक्षय की ढाल में खड़ी होकर बोली,—'निहत्थे अक्षय पर सिद्धान्त-भेद होते हुए भी जो कोई गोली चलाएगा उसका शव भी यहीं दिखाई देगा।" इस पर श्रीकान्त ने बड़े ही भद्दे-ढंग से मजाक करते हुए कहा था—"छि: श्री, तुम ऐसी हो यह कौन जानता था। यह ठीक ही है स्त्री का चरित्र और पुरुष का भाग्य कौन जान सकता है।"

श्री उस अपमानपूर्ण मजाक को चुपचाप ही पी गई थी। अक्षय चुपचाप चला गया। कुछ लोगों ने तो यहाँ तक कहा कि अब वह हम लोगों को पकड़वा देगा, पर श्रीकान्त यह भली प्रकार जानता था कि बोटी-बोटी काट ली जाने पर भी अक्षय के मुख से एक शब्द भी किसी के अपकार के लिये निकल सकेगा नहीं। दल में से तो अक्षय निकाला नहीं जा सका, किन्तु उसके समर्थकों में से प्रायः अब श्री मात्र ही रह गई थी, जो भी उसकी समर्थक, उसके सिद्धान्तों की नहीं। उसी श्रीकान्त के मुख में अन्न पहुँचाने के लिये प्रवास में उसके वेश बदलने के लिये वस्त्रों का प्रबन्ध करने, स्वयं अपने को कष्ट में डाल कर, इस दुपहर की चिलचिलाती धूप में यह युवक कोसों पैदल जा रहा था। सच ही क्या यह युवक वसुधैव कुटुम्बकम्" का ही उदाहरण है। सचमुच क्या इसके मन में कहीं किसी ओर से दुर्बलता है ही नहीं। सचमुच ही क्या उसके जीवन में केवल काम और सेवा ही है और कुछ भी नहीं। कितना कठोर है यह और कितना कोमल। श्री प्यास भूल गई थी, थकान भूल गई थी, सब कुछ भूल गई थी, केवल एक मात्र अक्षय का अद्भुत

चरित्र ही उसके जीवन में झूल रहा था। श्री ने प्रेम दिया था इस अद्भुत युवक को वह, प्रेम का प्रतिदान चाहती थी, उसके बदले में कुछ दान की उत्कट अभिलाषा थी, किन्तु आज अशोक को वह मन ही मन कह उठी, "नारायण, भले ही मुझे प्रतिदान न देना चाहो तो न देना, किन्तु प्राचीन हिन्दू नारी की भाँति एक दो बार तो इस महात्मा के चरणों को छू भर लेने का सौभाग्य दे देना। मैं इसी में सन्तुष्ट हो जाऊँगी। यह एक मात्र मेरे जीवन का लक्ष्य हो जाने दो।" स्वयं श्री अपनी इस अभिलाषा पर हँस पड़ी, कितनी विचित्र थी, घूँसे से प्रणाम करने वाली उस सोवियत-भक्त महिला की अभिलाषा! कितनी नवीन थी हथौड़े और कुल्हाड़े के चिन्ह को ही सर्वस्व मान कर रूसी नारियों के चरण-चिन्हों पर चलने वाली उस कालिज की छात्रा की नवीन आकांक्षा; पुराने भारतीय वेश में कन्धे पर झोली रखे हाथ में थैला लटकाये उस दुर्बल युवक में न जाने क्या था जो कि उस विदेशी सभ्यता की उपासिका के दिल में रह रह कर एक दर्द कसका देता था उस अद्भुत मजदूर युवक के लिये।

मानव या देवता

थक कर चूर हुई श्री की आँखें अभी लगी भी न थीं कि उसने रमा का कातर पर भर्राया हुआ स्वर सुना। रमा श्री की सगी बड़ी बहिन थी। जब वह छः वर्ष की भी न हुई थी कि दुर्भाग्य से न जाने कैसे उसके हाथ-पैर एक दिन दुखने लगे, दूसरे दिन बड़ी जोर से ऐंठन हुई और तीसरे दिन बेचारी रमा हिल भी नहीं पा रही थी। पैर मुड़ कर पेट से लग रहे थे। हाथ भी कोहनियों से मुड़ गये थे। पहले कुछ दिन तो थोड़ा बहुत सरक लेती थी, किन्तु पिछले लगभग ग्यारह बारह वर्ष से तो हिल भी नहीं सकती थी, चारपाई पर ही सब कुछ करना पड़ता था। यही रमा थी श्री की बड़ी बहिन और घर भर के लिये भार-स्वरूप। मँझली बहू ही घर भर में एक ऐसी व्यक्ति थी जिसने सदा स्वच्छ रूप से इस अभागी लड़की का भार उठाया हुआ था। तीन वर्ष हुए इसी बात को लेकर उसका पति से कुछ झगड़ा भी हो गया था। आई. ए. एस. मेजर पति कहता था कि पत्नी का एक मात्र धर्म पति की प्रसन्नता के विषय में सोचना ही है, पर पत्नी यह नहीं मानती थी, उसका कहना था कि पति के परिवार

के व्यक्तियों की सेवा भी उसका धर्म है। और फिर माँ के अतिरिक्त रमा की सेवा कोई कर भी तो नहीं पाता था। दुःख, निराशा और बेबसी ने रमा को अत्यन्त चिड़चिड़ा बना डाला था। कोई नौकरानी भी अधिक समय तक टिक नहीं पाती थी। माँ स्वयं वृद्ध और दुर्बल थीं। रोगिणी भी रहती थीं। अतः प्रसन्न मन से इस अपाहिज चिड़चिड़ी ननद का सारा भार, अपने बच्चों के कार्य के बीच, घर के कार्य के बीच भी, मँझली बहू ने ले लिया।

पिछले वर्ष भी जब तीनों बहुएँ घर पर ही थीं तब बड़ी बहू ने कहा था कि रमा को किसी हस्पताल या मिशन में भेज दिया जाए। छोटी बहू की सम्मति में कुछ दया भी थी, उन्होंने धैर्य से कहा—"नहीं, नहीं अकेले बाहर भेजना ठीक नहीं, आखिर है तो घर की ही लड़की न? एक होल टाईम नर्स रख ली जाये, कुछ अधिक वेतन पर, ताकि जल्दी छोड़ न सके और हम सब मिलकर उसका वेतन दे दिया करें।" सास की आँखें सजल हो पुलक कर भर आई थीं। उसने कहा—"अभी तो मैं बैठी ही हूँ, जैसे होगा इस अभागी लड़की को निभाए जाऊँगी। हाँ, जब मैं मर जाऊँ तो चाहे नर्स रखना, चाहे मिशन में भेज देना, चाहे विष दे देना। मँझली बहू अभी तक चुप ही थी, पर सास की दशा उससे नहीं देखी गई। उसने कहा—

"और मैं जो हूँ। जैसे पहले निभती जा रही है, वैसे ही आगे भी चलता रहेगा। चिन्ता की क्या बात है?"

"हाँ, पर तुम्हें हरि आप जो ले जाना चाहता है" बड़ी बहू ने चमक कर कहा।

"अब तो बाहर जाती हैं, किसी के घर पर रहे बिना घर का काम

भी तो नहीं होगा, भाभी जी। माँ जी से तो अब यह सब होता नहीं।" शान्ति से मँझली ने कहा। सारी आयु साड़ियाँ पहन कर यहाँ तक कि वृद्धावस्था के निकट पहुँच कर भी सजधज कर डिनर में जाने वाली वृद्ध सास को अपनी मँझली बहू का महत्व स्पष्ट दीख रहा था।

"और फिर सदा तो उन्हें फ़ैमिली स्टेशन मिलता भी नहीं।" मँझली ने जोड़ दिया।

"मँझली भाभी अपनी इन्हीं जिदों से तो दुःख पाती हैं।" ज़रा झटक कर कहती हुई छोटी बहू उठ कर बग़ीचे में चली गई।

"दुःख पाना बुरा है अथवा दुःख की सृष्टि करना सो, छोटी बहू, तुम भला क्या समझोगी। जो दुःख पाकर भी दुःख देते नहीं ऐसे लोग दुनिया में बहुत नहीं होते।" सास ने कहा पर बहू तब तक बाहर जा चुकी थी। उत्तर दिया बड़ी बहू ने।

"सारी दुनिया के सारे गुण तो हमें भगवान ने दिये नहीं, माँ जी, तो हम क्या करें ? गुण तो सारे तुम्हारी मँझली बहू के हिस्से में ही पड़े हैं, पर क्या करें फिर भी हमें जिनके प्यार की आवश्यकता है वह तो करते ही हैं।" कह कर बड़ी भी बाहर चल दीं। व्यंग बड़ा ही कटु था। पर मँझली बहू ने हँस कर पी लिया। केवल इतना कह कर—"भाभी जी, सबके भाग्य भी तो एक से नहीं होते।" पर सास उतनी सहनशील न थीं बड़बड़ाती ही रहीं।

उसी रमा का कातर स्वर श्री ने सुना। सारी दोपहर की धूप सिर पर से काटकर लगभग तीन बजे श्री ने कोठी में प्रवेश किया। भोजन करने की इच्छा न थी। माँ और मँझली भाभी एक जगह

किसी सम्बन्धी की मृत्यु पर शोक प्रकट करने गई थीं। शेष दोनों भाभियाँ अपने कमरों में पंखा खोले सो रही होंगी। नौकरानी से खाने के लिये मना करवा कर केवल एक गिलास सन्तरे का जूस पीकर श्री पंखा खोल के अपने पलंग पर लेट गई। नींद आ ही रही थी कि रमा का कातर स्वर सुन पड़ा। श्री बहुत थकी हुई थी, उठने की इच्छा नहीं होती थी, फिर भी बहुत कुछ सोच-विचार कर उठना चाहती ही थी कि मँझली भाभी का स्वर सुन पड़ा, शायद उन्हीं से रमा कुछ कातर भर्राये से स्वर में कह रही थी। श्री सो न सकी, चुपचाप सुनने लगी, आँख बन्द किये हुए ही। रमा श्री के बगल वाले कमरे में ही रहती थी। रमा का सहज स्नेह भी केवल मँझली भाभी पर ही था। अन्य सब तो केवल कभी कभी आकर पूछ भर जाती थीं। उस दिन बड़ी को जरा देख लेने का भार सौंप कर मँझली सास के साथ चली गईं। जाने की उनकी तो तनिक भी इच्छा न थी, पर सास की आज्ञा भी टाली नहीं जा सकती थी। एक वही तो सास का कहना मानती हैं, यदि वह भी उत्तर दे दें तो बेचारी बुढ़िया का मन जो दुःखी होगा। रमा कह रही थी मँझली भाभी से जो लौटते ही पहले उसके पास आई थीं।

"भाभी, कब से चिल्ला रही हूँ कोई बोलता ही नहीं। बड़ी भाभी आईं तो वह रूपा को कह कर चली गईं कि मेरे सिर में दर्द हो रहा है, रमा जो माँगे दे देना। रूपा पहले तो यहाँ बैठी रही, फिर छोटी भाभी ने कहलवाया कि उनके सिर में तेल मल जाए। तेल मलने जो गई तो इतनी देर हो गयी, आई ही नहीं। देखो बड़ी देर से पेशाब के लिये चिल्लाती रही, अब बिलकुल गीली हुई पन्द्रह-बीस

मिनिट से पड़ी हूँ। भाभी, बड़ा उपकार करो, कहीं से थोड़ा संखिया ला दो। सब के लिये ही भार बनी हुई हूँ, छुट्टी तो हो जाय। तुम्हें भी बेकार तंग करती हूँ। हाय भगवान्......" रमा कहे जा रही थी, उत्तर तो कोई नहीं सुनाई पड़ता था, किन्तु निरन्तर किन्हीं दो वृद्ध हाथों का बिस्तर बदलने का शब्द सुनाई पड़ता था।

"ठहरो भाभी, अपनी साड़ी तो बदल आओ। गन्दी हो रही है।"

"बदल लूँगी, पर तुम्हें तो पहले साफ करके लिटा दूँ।" भाभी ने कोमल स्वर में कहा। सुनने से पूर्व रमा का रोना आरम्भ हो गया। रमा इसी प्रकार कभी कभी रोने लगती थी और जब एक बार रोना आरम्भ कर देती थी तो उसे किसी प्रकार भी चुप करना कठिन हो जाता था—भाभी ने शायद उसके सुन्दर बाल थपकते हुए कहा—"अच्छा लल्ली, अब मैं कभी भी कहीं नहीं जाऊँगी।" रमा के रोने का स्वर और भी ऊँचा हो गया। तुम्हारे लिये भी मैं बन्धन ही हूँ, भाभी! मैं मर जाऊँ तो तुम्हारा भी पीछा छूटे" हिचकियाँ लेते लेते रमा कह रही थी। थकान से श्री चूर चूर हो रही थी। पर नींद मानों भाग गई थी—आँखों से दूर दूर सुदूर। कुछ देर तक सहानुभूति और दया से श्री की आत्मा रो उठी, किन्तु शीघ्र ही सहानुभूति खीज में और दया झुँझलाहट में बदल गई। चिढ़ कर श्री खीज उठी। पर तुरन्त ही वह सोचने लगी—"कैसी विचित्र है यह रमणी, जो न कभी झुँझलाती है और न खीजती। इसके जीवन में जैसे कभी कहीं कुछ भी चंचल नहीं है। यह कभी भी थकती नहीं। खीजती भी नहीं, झुँझलाती भी नहीं,

निरन्तर एक भाव से पति के परिवार की—पति का मुक्त प्रेम उसे प्राप्त नहीं—सेवा किये जाती है और वह भी हृदय के भीतर ही भीतर एक भीषण अग्नि-ज्वाला दबाये हुए। जिसकी सहानुभूति भी प्राप्त नहीं, केवल मात्र वासना की सामग्री बनना ही जिस का सौभाग्य रहा है वही नारी मुक्त हृदय से उसी पति के परिवार की सेवा किये जाती है। बुद्धि में मँझली बहू घर की किसी भी अन्य बहू से कुछ कम न थी। वह यूनीवर्सिटी से तो केवल एफ० ए० की परीक्षा ही पास कर पाई थी, पर भाषा-ज्ञान, व्यावहारिक ज्ञान, साहित्य आदि में उसकी अत्यन्त गम्भीर योग्यता थी। विद्या से उसे अनुराग था। रूप में भी उसकी समता करने वाली नारी कोई घर भर में न थी। मँझली बहू मानिनी भी कुछ कम नहीं थी। आत्म-सम्मान की अधिक मात्रा ने ही उसे पति के चरणों पर अकारण अन्याय को प्रश्रय देकर भी लोटने नहीं दिया था। फिर भी वह दूसरी ओर इतनी शान्त है, इतनी सेवामयी, इतनी त्यागमयी। श्री सोचने लगी, वह कौन सी शक्ति है, इस अद्भुत नारी में जो उसे दिल में आग लेकर भी आँखें सूखी रख सकना सिखाती है। कौन सी है वह प्रभा जो प्राणों में व्यथा लेकर भी होठों में मुस्कान भर पाना सिखाती है। एक मैं हूँ, कि अपनी सगी बहिन का रोना भी तनिक देर सुनकर ऊब उठती हूँ खीज उठती हूँ. और एक वह है कि कुछ रक्त-माँस का सम्बन्ध न होते हुए भी रात दिन निष्काम भाव से सेवा में लगी रहती है। एक दिन मँझले भाई ने सब के सामने ही कहा था भाभी से—"क्या तुम्हें और तो सब की सेवा करनी है, एक नहीं कर पाती हो तो हमारी ही। तुम्हारी शादी तो बैरिस्टर साहब रमा से ही करते तो ठीक था।"

भाभी ने तनिक हँसकर कहा—"तब भी कुछ बुरा न होता। सुकन्या ने तो जान-बूझकर अन्धे को ही वरा था।" न जाने भाभी ने यह यूँ ही सहज भाव से कहा अथवा केवल मात्र भइया को चिढ़ाने को। हम सब भाई-बहिनों का भगवान्, देव, ब्राह्मण किसी पर तनिक भी विश्वास न था। श्री सोचती ही जा रही थी। भगवान् क्या है, केवल धर्म के ढोंगियों की कपोल-कल्पना ही। इससे अधिक महत्व किसी दिन भी श्री ने स्वर्ग लोक में, शायद एक तख़्तपोश पर बैठे हुए, दाढ़ी वाले भगवान को नहीं दिया था। राम, कृष्ण भी उसके लिये ऐतिहासिक व्यक्तित्व ही थे। इससे कुछ भी अधिक नहीं, तनिक भी भिन्न नहीं। तनिक सा भी देवत्व उनमें श्री ढूँढ़े भी नहीं पाती थी।

भइया चिढ़कर बोले—"उसी सुकन्या की जान पड़ता है तुम्हें भी हवा लगी है।"

"लग जाती तो तुम्हारे परिवार का कल्याण ही होता।" धीरे से कहने पर भी भइया ने सुन ही लिया।

"और यदि बड़ी भाभी की तनिक भी हवा तुम्हें लग जाती तो मेरा कल्याण हो जाता। तुम तो ज़रूर उमा हो, किन्तु मैं तो शिव हूँ नहीं, साधारण मनुष्य हूँ।" बड़ी भाभी प्रसन्न हो उठी थीं। उन्हें अपनी प्रशंसा बड़ी ही भली लगती थी, जब तब मँझली भाभी को नीचा दिखाने के लिये मँझले भइया बड़ी भाभी की उनसे तुलना करके सदा ही उन्हें नीचा दिखाया करते थे। फिर भी मँझली भाभी कभी भी अप्रसन्न नहीं होती थी। "कैसी हैं यह मँझली भाभी" "पति की सेवा उनसे अधिक शायद ही कोई रमणी कर पाती हो, किन्तु

भइया के लाख कहने पर भी भाभी रात को हजार दास-दासियाँ रहते हुए भी रमा की मालिश करके ग्यारह बजे से पूर्व अपने सोने के कमरे में नहीं जातीं। इन्हीं छोटी छोटी, अन्य बहुओं के लिये महत्वहीन, बातों को लेकर मँझली भाभी जान-बूझकर तुच्छ बनी रहती हैं, कैसा विचित्र स्वभाव है·········" श्री सोच ही रही थी कि कमरे के सम्मुख से जाती हुई मँझली की साड़ी का कोना दीख पड़ा। अचानक श्री बोल उठी—"भाभी"

"हाँ, निक्को !" कहती हुई दूसरे क्षण ही भाभी कमरे में थीं।

"जब तुम्हें देखती हूँ, निक्को, असमय में ही लेटे देखती हूँ। क्या बात है तबीयत तो ठीक रहती है न ?"

"हाँ, हाँ, आओ तनिक बैठो न ?" मैंने बड़े आग्रह से कहा।

"बैठ तो जाती हूँ, निक्को, किन्तु चार बजने वाले हैं। अभी चाय का प्रबन्ध भी तो करवाना है। माँजी तो थक गई हैं, नीचे लेटी हैं। यह सब कुछ आज तो देख पायेंगी नहीं और चाय लेट हो जाने पर छोटी तो बड़ा ही दुःख पायेंगी, ज़रा भी लेट हो जाने पर उनका सिर दुःखने लगता है। अपनी अपनी आदत जो हुई।"

"तुम्हारी आदत क्या है, भाभी, सो ही नहीं जान पाती हूँ।"

"तुम्हारी भाभी कोई विशेष व्यक्ति तो है, नहीं जो उसे जानने की विशेष आवश्यकता है। जो स्वयं ही अत्यन्त साधारण है उसे जानना क्या और न जानना क्या ?"

"तुम साधारण हो, भाभी, यदि तुम साधारण व्यक्ति हो तो फिर महान् का लक्षण क्या होता है ?" श्री की आँखों में श्रद्धा थी।

भाभी का कण्ठ मानो भीग उठा।

"महान् का लक्षण तो नहीं जानती, निक्की बीबी, पर एक ही महान् नारी एक बार मेरे जीवन में आई थी।"

"कौन भाग्यवती वह थी भाभी, और कितनी असाधारण होगी वह ?"

"नहीं, वह असाधारण बिलकुल भी न थी। वह तो एकदम साधारण थी।"..... कुछ ठहर कर भाभी ने कहा—"निक्की, मेरी एक चाची थी—साँवली सी, पतली सी, साधारण सी। चारों ओर ढूँढ कर खोज कर देखने पर भी उनमें कहीं कुछ भी असाधारण न था किन्तु उस साँवली, श्यामल देह के भीतर जो हृदय था शायद ही वैसा नारी-हृदय विधाता ने कहीं गढ़ा हो। एक दिन अचानक ही वह हमारे घर में आई थी, बाजों की घोर गर्जन के बीच नहीं।" बड़ी ही गम्भीर श्रद्धा भक्ति से भाभी कहे जा रही थी, मानो कोई धार्मिक कथा कह रही हों। बड़ी ही शक्ति से भी सुने जा रही थी उस अद्भुत नारी की कथा।

"बिजली की बत्तियों की चमचमाहट में नहीं, विजय-घोष, तुमुल नाद किसी के बीच भी नहीं। केवल मात्र अपने पति की छत्र-छाया में। फिर उस रमणी ने जिसे मैं चाची कहती थी अनजाने ही मुझे सहन-शीलता—अद्भुत सहन-शीलता—की, जो कि नारी का यथार्थ बल है, शिक्षा दी। वह सुनना जानती थी, सुनाना नहीं। दुःख पाना जानती थी दुःख देना नहीं। फिर अन्याय न सह सकने के कारण एक दिन वह चली गई। फिर एक दिन आई वह साँवली युवती सद्य विधवा के वेश में गोद में बालक लेकर उसी द्वार पर"..... कितने मानसिक संघर्ष, कितनी वेदना, कितना

भीषण अपमान मन में छिपा कर वह युवती आई थी उस घर में फिर से; किन्तु कितनी शान्त थी उसकी मूर्ति, सो उस दिन तो नहीं समझ पाई थी, पर आज सहज ही समझ पाती हूँ। और फिर अन्याय को न सह सकने के कारण एक दिन रात के अन्धकार में उसी द्वार को सदा के लिए प्रणाम करके वह कहाँ चली गई सो कौन जानता है? उस दिन वह कितनी निस्सहाय थी, निराश्रय थी, सो मुझसे अधिक विश्व में और कोई नहीं जान सकेगा, किन्तु उसके पास बल था केवल सत्य का, उसी का जो सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् है। उस दिन प्रातः चाची को न पाकर मैं रोई थी—खूब रोई थी—कई दिन तक रोती ही रही थी। माँ ने भी सबसे छिपा कर एकाध बार आँखें पोंछी थी, किन्तु मुख से एक शब्द भी नहीं बोली थीं। पर आज सोचती हूँ मेरा रोना ही मूर्खता थी। जिन्हें भगवान ने हृदय में रक्त के स्थान पर केवल सत्य ही सत्य, विश्वास ही विश्वास भर दिया है—सृष्टि का कोई भी बन्धन उनके लिये दृढ़ नहीं हो सकता। यह न समझ कर ही तो रोई थी, यही मेरी भूल थी। मेरी चाची कहाँ हैं सो नहीं जानती, किन्तु जहाँ भी कहीं हों उनकी क्षमा का उन्हें सदा ही शत कोटि प्रणाम है।" भाभी की आँखों में एक ऐसी सरल श्रद्धा विभासित हो उठी कि भी कक की आँखें भीग उठीं।

"ऐसी थी महान वह नारी; श्री। महानता का माप-दण्ड क्या है सो मैं नहीं जानती, जानना चाहती भी नहीं, किन्तु अब देव भगवान से यही कहती हूँ कि यदि मैंने इस जन्म या पिछले जन्म में कभी कोई पुण्य किया हो, तो मुझे सत्य के दर्शन अब करा देना।"

भी आश्चर्य चकित हो उठी । कहाँ गई उस दिन की दार्शनिक, तार्किक मँझली भाभी जो कि नारी का पति-प्रेम पाने की प्रवृत्ति पर अत्यन्त कुशलतापूर्वक तर्क कर रही थी, और कहाँ से आ गई उसके स्थान पर यह श्रद्धा, विश्वास और प्रीति से भरी उमा । इनमें से क्या सत्य है और क्या असत्य । वास्तव में इस सुन्दर नारी के अन्तर की ज्वालामयी, विवाद-मस्त, कठोर, तार्किक नारी सत्य है अथवा कोमल, विश्वासी, श्रद्धालु, त्यागमयी, सेवापरायण, सहन-शील रमणी सत्य है ? कैसी होगी वह अद्भुत नारी जिसकी याद भी भाभी जैसी सुयोग्य, विदुषी, तार्किक नारी का सिर अनेकों वर्षों बाद भी श्रद्धा से झुकवा देती है । भी ने कभी भी भगवान पर विश्वास नहीं किया था । मन्दिर के देवता की प्रतिमा उसके लिये कुछेक क्षण को अच्छा-खासा मजाक दे दिया करती थी, पर आज भी मन ही मन कह उठी—"भगवान् कहीं मानवेतर हो या न हो, किन्तु वे मानव, जो कि दूसरे मानवों की श्रद्धा, पूजन और विश्वास सहज ही प्राप्त कर लेते हैं, जिनका स्मरण मात्र ही किसी भी मानव की आँखों में स्नेह की बूँदें ला कर सिर श्रद्धा से झुकवा देता है, वे अवश्य ही सर्वांगरूप से पूजनीय हैं । किसी की पूजा पाकर जो अधिकार उन्होंने प्राप्त कर लिया है, वह उन्हें सहज ही भगवत्व बना देता है ।"

"इतनी उदार होकर भी, भाभी, तुम भइया को प्रसन्न नहीं कर पातीं, त्रुटि कहाँ रह जाती है, मँझली भाभी ?"

"निर्मो बीबी, त्रुटि मुझ में ही है । अन्याय को प्रश्रय देकर जो बरबस मुझे अपनी आत्म-तुष्टि का साधन बनाना चाहता है उसे

किसी प्रकार भी न क्षमा नहीं कर पाती। कर पाती, तो बहुत ही अच्छा होता, किन्तु वैसा मैं कर पाती नहीं। मन से जिसे श्रद्धा नहीं कर पाती, किसी प्रकार भी शरीर उसे देते हुए मुझसे सहन नहीं किया जाता। एक घृणा सी मन में तीव्र हो उठती है जो कि मेरे समस्त व्यक्ति को, समस्त शरीर को असह्य रूप से कुरूप कर डालती है। यही अपराध है, किन्तु इसका प्रतिकार मैं किसी प्रकार भी नहीं कर पाती हूँ, इच्छा करके भी नहीं कर पाती।"

"यही तो तुम्हारी महानता है, भाभी! तुम कहीं कुछ भी छिपा कर चोरी करके नहीं रख पातीं, तब ही तो तुम इतनी महान हो।"

"नहीं निक्को बीबी, महत्त्व इसमें नहीं, वरन महत्त्व होता है जो कुछ खुला हुआ है, दिन की ज्योति की तरह प्रकट है, उसे उज्ज्वल रखने में। कुरूप वस्तु यदि उघड़ी हुई भी हो, तो भी कुरूप, घृणित ही रहेगी, किन्तु यदि कोई सुन्दर वस्तु आवरणहीन हो तो वह अवश्य आकर्षक होगी।"

"भाभी, तर्क में तो कभी तुमसे जीत पाऊँगी नहीं। न जाने किस धुरन्धर तार्किक ने अपना अद्भुत तर्क-गुण तुम्हारे मस्तिष्क में भरा था। इतनी विद्या-बुद्धि लेकर भी जो वेदना तुम मन ही मन पाती हो यही मुझे जीने नहीं देता।

"किन्तु यही तो मेरा प्राण है, निक्को बीबी। वेदना भी यदि न होती तो मन का यह कलुष समस्त समुद्र के फेन और पानी से भी न धुल पाता। वेदना ही तो इसे किसी न किसी दिन स्वच्छ कर देगी, इसी आशा को लेकर मैं जी रही हूँ।"

"भाभी तुम्हारा भगवान ......"

"छिः, छिः, भगवान् क्या केवल मेरा ही है, निक्को, तुम्हारा नहीं ? ऐसा नहीं कहते, रानी, भगवान् को लेकर मजाक करने से दोष होता है ।" बड़े ही अन्धविश्वासपूर्ण स्वर से कण्ठ भर कर उमा ने कहा ।

श्री ने सोचा वह अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि तार्किक रमणी अपने तर्क-बल से सब कुछ तो प्रमाणित या अप्रमाणित कर लेती है, किन्तु किसी प्रकार भी भगवान् के विषय में तर्क को सम्मुख रखती ही नहीं । वह अन्धविश्वासी भी नहीं है और मूर्ख भी नहीं, फिर भी इसके सदा ही कहे गये इस प्रकार के शब्द क्या मेरे साथियों के कहे हुए लक्षण में ठीक उतरते हैं कि भगवान् केवल मात्र धनी और मूर्खों की कल्पना ही है । भाभी धन-लोभी भी नहीं और मूर्ख भी नहीं, फिर भी यह भगवान् को लेकर मजाक नहीं सह पाती । उसके अस्तित्व को लेकर इतनी तर्क-प्रिय होती हुई भी तर्क नहीं करती, किसी भी दिन कुछ कहने पर सहज भाव से कह देती हैं—"आह निक्को बीबी, भगवान् भी कोई तर्क से प्रमाणित करने की वस्तु है ? तर्क को स्वयं ही जिसने बनाया है उसे तर्क क्या प्रमाणित करेगा ? प्रतीक को तो प्रमाणित करने की और भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह तो भगवान् है ही नहीं ।"

"तब तुम उन्हें पूजती क्यों हो, भाभी ?" श्री ने एक दिन पूछा था ।

"पूछती तो दीदी तुम्हें भी हूँ, तुम्हीं तो भगवान् हो, फिर अपनी पूजा ही करने का कारण क्यों नहीं पूछ लेती ?" श्री चुप हो जाती, वह जान गयी थी कि प्रश्न को भाभी मजाक में ही उड़ा देगी ।

"अच्छा भगवान् मेरा-तुम्हारा दोनों का सही, पर······" श्री ने फिर कहा पर इस बार श्री मँझली भाभी ने तर्क चलने नहीं दिया। उठ खड़ी हुई।

"सो न हो फिर कभी कह लेना, इस समय तो ज़रा देखूँ चाय का भी प्रबन्ध हो रहा है कि नहीं। रमा को दवाई भी देती चलूँ, जाग गई हो तो।"

कह कर मँझली भाभी चली गई।

श्री ने सोचना आरम्भ किया इसी अपनी भाभी के विषय में। न जाने कितनी देर तक श्री चुपचाप पड़ी सोचती ही रही। पाँच घंटे जब घड़ी ने बजा दिए और नौकरानी ने मेज़ पर चाय के आ जाने की सूचना दी, तब श्री मन ही मन कह रही थी—"सचमुच यदि किसी दिन मैं किसी को भगवान् मान पाऊँगी तो इन्हीं मानवों को, जो विश्व भर का दुःख, विश्व भर की वेदना, विश्व भर की करुणा अपनी ही छाती पर सत्य को धारण करके सह लेते हैं।" श्री के सम्मुख नाच उठीं दो मूर्तियाँ। एक तो थी उसकी मँझली भाभी और दूसरी थी अक्षय की प्रतिमा।

चटपट उठ कर श्री नीचे डाइनिंग रूम में चली गई चाय पीने। रमा तब भी सो रही थी शान्तिपूर्वक।

मानव की पीड़ा

"मानव की पीड़ा प्रायः सब कहीं दीख तो नहीं पड़ती, किन्तु वह केवल अन्न न मिलने से पेट की ज्वाला में ही नहीं रहती, यद्यपि उसमें भी उसका महत्व कुछ कम तो नहीं होता, श्री।"

"जानती हूँ। प्रायः मुझसे अधिक यह सत्य और कोई भी नहीं जानता, किन्तु जानकर भी तुम्हारे लिये कुछ न कर सकूँगी, सुभाष।"

"मेरे लिये, श्री? मुझे तो कुछ भी आवश्यकता नहीं। तुम्हारे साथ तुम्हारा कामरेड बन कर काम किये जाऊँ, इससे बड़ी और कोई भी अभिलाषा मैंने मन में पाली ही नहीं है।"

"अभिलाषा की बात नहीं कहती, सुभाष" कह कर श्री कुछ झिझक सी गई। चन्द्रमा की चाँदनी खिलखिलाती हुई सी सुभाष के सुन्दर मुख पर पड़ रही थी। पेड़ों के झुरमुटों के बीच दोनों व्यक्ति जा रहे थे। सुभाष के कुछेक बाल जरा छिटक कर माथे पर आ पड़े थे। श्री को जान पड़ा कि उसके मन में कहीं एक कोई कोमल भावना का कोना इस व्यक्ति ने छुपा रखा है, जो इच्छा करके भी श्री छुड़ा पाती नहीं है। चन्द्रमा खिलखिला उठा, अट्टहास कर उठा। श्री स्वयं

अपने से ही लज्जित हो गई।

"तुम कहते क्या हो सुभाष, मैं तो समझ ही नहीं पाती।" श्री ने धीरे से कहा। उत्तर में वह क्या सुनना चाहती थी सो वह स्वयं भी नहीं जानती थी।

"समझना चाहो तो अवश्य समझ पाओगी, श्री। तुम सुन्दरी हो, युवती हो, धनी घर की सुयोग्य लड़की हो। तुम्हारी छाती के भीतर स्नेह भी है और ममता भी, तुम अवश्य समझ पाओगी। खिली हुई चाँदनी की ओर देखो, किलकिलाती जलराशि की ओर देखो, केलि-मग्न पक्षियों की ओर देखो, स्वयं ही समझ जाओगी।" बड़े ही काव्यमय ढंग से सुभाष कहता गया। सुभाष सदा से ही अर्थ-शास्त्र का छात्र था। काव्य से उसे किसी दिन भी प्रेम नहीं रहा था। श्री चिढ़ाती हुई सी कहने लगी—"कामरेड कवि कब से हो गये। बेचारे हमारे पुराने कवि गाँधीजी को तो कच्चा ही चबा जाना चाहते हो और यह तो तब जब कि वह निरन्तर तुम्हें क्रान्तिकारी साहित्य देने का प्रयत्न करते हैं।"

सुभाष कुछ चिढ़े से ही स्वर में बोला—"श्री मज़ाक करती हो, बनाती हो। आख़िर मैं मनुष्य ही तो हूँ।"

"सो नहीं हो ऐसा तो मैं नहीं कहती। बड़ी प्यास लग आई है, कहीं पानी मिल पाता तो ठीक होता।"

"तुम्हें प्यास लगी है तो पानी अवश्य मिलेगा, श्री, किन्तु मुझे तो प्यास लगने पर भी पानी अत्यन्त निकट होते हुए भी नहीं मिलता?" सुभाष ने व्याकुलता से कहा। श्री जान-बूझ कर टाल गई। यह दोनों आवारा लोगों की [illegible]

अब तक भी भेड़ कूट आदि की जातियाँ "क्रिमीनल" (अपराधी) गिनी जाती हैं यथासम्भव उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता मिलती भी नहीं राज्य की ओर से। ऐसी ही एक अपराधी जाति का गिरोह नगर के बाहर सूप, छलनी आदि बेचने, कभी कभी सड़कें कूटने और बन्दर का नाच दिखा कर पैसे एकत्रित करने आ गया था। सुभाष भी उन्हीं लोगों का जीवन दिखाने लाया था। झोंपड़ियाँ जिन्हें कहना भी अपराध है, उन्हीं के निकट दोनों व्यक्ति पहुँच गये थे। फटे चीथड़े, कुछेक बोरी के टुकड़े आदि इकट्ठा करके किसी प्रकार एक झोंपड़ी सी बना ली थी, एक दो या तीन गज ऊँचा बाँस खड़ा करके उसे तम्बू के ढंग पर खड़ा कर दिया गया था। यह तम्बू मानव नाम के प्राणी के लिये न खड़े होने का ही स्थान देता था और न बैठने का ही, किसी प्रकार उसमें लेटा ही रहा जा सकता था। शायद उन लोगों को कभी दिन में छत के नीचे बैठने का स्वप्न आता भी नहीं। गर्मी की तेज चिलचिलाती धूप और शरद की ठंडी रातें, वर्षा की तेज धारें. सब ही कुछ सह कर, नंगे सिर पर सह कर, शायद उनके बच्चे बड़े होते हैं। बड़े होकर भी कभी छत के नीचे सिर छुपाने का स्वप्न उन्हें आता ही नहीं, आ सकता ही नहीं। किसी प्रकार छः सात आदमी तम्बू कहलाने वाले चिथड़ों के नीचे सिर छुपा लेते हैं और बस फिर सूर्य्य भगवान् किसी न किसी प्रकार अपने आसन पर पहुँच कर प्रकाश कर ही डालते हैं, तब वह उठ बैठते हैं अपनी चिथड़ों की गन्दी बदबूदार शैया पर से। निरन्तर इसी प्रकार वर्ष पर वर्ष दिन पर दिन और युग पर युग बीते जा रहे हैं, बिना किसी परिवर्तन के बिना किसी बाधा विश्राम के। पुरुष अर्द्ध नग्न, गन्दे फटे चिथड़े

से किसी प्रकार लज्जा-निवारण किये, घने परिश्रम से कलांत, दिन भर की धूल, दुर्गन्धि शरीर में लिये हुए अपनी युवती स्त्रियों से प्रेम जताते हैं। दुर्बल, स्वस्थ किन्तु अर्द्धनग्नप्राय वस्त्रधारिणी युवावस्था में ही अन्न के अभाव में वृद्धावस्था को प्राप्त सुकड़ी, गन्दी और धूलभरी युवतियाँ प्रेम का मुक्त हृदय से प्रतिदान भी देती हैं और उसी जाति की वृद्धि के लिये सन्तान भी उत्पन्न कर देती हैं पुरुषों के लिये। अकाल में ही अनेकों बच्चों की माँ होकर उसी वर्षा की भीगी रात में, सीलन में पानीभरी पृथ्वी पर अथवा किसी गर्मी की तपती दुपहरी में जलती हुई रेत पर अथवा ठिठुरती हुई किसी सर्दी की रात में, ठंडे से चीथड़ों पर प्राण त्याग देती हैं। विश्व भर में कहीं उनके लिये शोक-प्रकाशन नहीं होता, कहीं कोई स्मारक भी नहीं बनता, उनका पति केवल मात्र एकान्त में शराब का एक ठर्रा चढ़ा कर कहता है, भला तू चली गई मैं भी आऊँगा ही। तेरे बिना मेरा जी कहाँ लगेगा, रानी, किन्तु समस्त संसार फिर पूर्व-वत् चलता है। कौन जानता है कितनी ऐसी अभागी रानियों को कफन भी जुड़ पाता है अथवा नहीं, उनका राजा यदि कफन के लिये तीन गज कपड़े की व्यवस्था करने योग्य ही होता तो भला जीवन-काल में वह उन्हें अर्द्ध नग्न क्यों रहने देता।

स्त्री-पुरुष चारों ओर से इन्हें देखने आने लगे थे। श्री ने धीरे से कहा,—"और समझूँगी सुभाष, चन्द्रमा की ओर देख कर नहीं, इन नग्न-मैले बच्चों की ओर देखकर, भगवान् की अपूर्व सृष्टि इन भूखी-नंगी अपनी बहिनों की ओर देख कर, इन अत्यन्त पीड़ित नर-नारियों की ओर देखकर। देखो एक बार सुभाष यह

हृदय, क्या कुछ कम सुन्दर है? मानव की पीड़ा भले ही भूख के अतिरिक्त और भी कहीं रहती हो, किन्तु भूख भी हँस कर उड़ाई नहीं जाती, सुभाष।"

"उड़ाई नहीं जाती, किन्तु शरीर की भूख केवल पेट की भूख तो होती नहीं, हृदय की भूख भी तो उतनी ही वरन उससे भी कहीं अधिक प्रबल है, श्री, यह भूलने से काम नहीं चलेगा। मनुष्य की मनोवृत्तियों को हम मार नहीं डाल सकते।"

"सचमुच ही मार नहीं सकते, किन्तु मोड़ सकते हैं। संयम बलार्जन—मानसिक शक्ति के अर्जन—का ही मार्ग है। मनुष्य पशु नहीं है, सभी पाशविक वृत्तियों का स्वागत वह खुले मन से नहीं कर पाता, सुभाष।"

सुभाष कुछ कहना ही चाहता था कि सरदार ने आकर सुभाष को प्रणाम किया। श्री स्वयं ही अपने मन में अपने कथन की निस्सारता का अनुभव कर रही थी। श्री ने यह वाक्य समय समय पर शक्ति, अक्षय और सँझली भाभी तीनों से ही सुने थे, किन्तु अनुभव कभी भी नहीं किया था। श्री का मन रो उठता था अक्षय को पाने के लिये, किन्तु पत्थर का देवता अक्षय पिघलता ही नहीं था, मानो वह कुछ समझता ही न हो, मानो जीवन उसके सम्मुख कुछ अस्तित्व ही न रखता हो। एक दिन श्री ने हँसी ही हँसी में कहा था—"अक्षय, विवाह नहीं करोगे क्या?" अक्षय सहज ही बोल उठा—"गरीबों के विवाह नहीं हुआ करते। श्री यह तो उपयोगिता बढ़ाने का एक उपाय मात्र होता है। बड़े घरों की नारियाँ तो ठीक मिल-मैनेजर या अन्य अधिक वेतनभोगी अफसरों की भाँति

अनुपयोगी, व्यर्थ मात्र ही होती हैं। उन्हें बढ़ियाँ खाना मिलता है, उत्तम कपड़ा मिलता है और मिलता है विलास की छाती पर करता नग्न नृत्य; किन्तु ग़रीब के लिये तो पत्नी एक आर्थिक सहायिका होती है। वह घर का स्वयं काम करके पति का केवल धन ही नहीं बचाती, वरन स्वयं उपार्जित करके बाल-बच्चों का जीवित रहना भी सम्भव कर देती हैं। अतः ग़रीबों के लिये विवाह तो बड़े ही लोभ की वस्तु है, किन्तु कभी आवश्यकता ही नहीं पड़ी। एक माँ का तो पेट दोनों समय भर पाता नहीं हूँ, पत्नी का क्या करूँगा ?"

श्री की आँखों में दुःख, पीड़ा और जलन के आँसू भर आये। कितना सरल, किन्तु कितना अभिमानी है यह युवक, उसके एक संकेत पर ही श्री सब कुछ लुटा सकती थी, किन्तु कहाँ, उसे आवश्यकता ही कहाँ है ? वह संकेत करता ही कहाँ है ? उसकी दृष्टि में मानो श्री का मूल्य कम्बल पर रखे होलडर-दवात से अधिक नहीं है। श्री भर उठी, पर उपाय ही और क्या था ? शक्ति शायद श्री का मन समझ पाती थी। नारी से बढ़ कर नारी का मन और कोई भी नहीं समझ पाता। शक्ति ने हँसकर कहा—"रानी बिटिया, तुम्हारा विवाह भी हो ले, अक्षय का भी होगा ही।"

श्री सरल भारतीय बाला तो थी ही नहीं, जो विवाह के नाम से ही मुँह छिपा लेती। श्री ने तत्परता से तुरन्त ही कहा था, "माँ, मैं तो विवाह यावज्जीवन नहीं करूँगी। देश ही मेरा सब है। यहाँ साम्यवाद का प्रचार करना ही मेरा ध्येय है। भले ही इस ध्येय को सफल करने में मेरा जीवन चला जाये।" अभिमान के मारे श्री फिर अक्षय से बोली नहीं, पर अक्षय ने फिर पूछा भी नहीं। वह

उसी प्रकार शान्त था—अपने काम में लगा हुआ। शक्ति ने कथा समझी थी श्री की, किन्तु अभी अक्षय को संयम की शिक्षा जो मिलनी थी। संयम के बिना मानवत्व अधूरा जो रह जाता है। भारत में सत्य की नींव सदा ही संयम पर रही है। शक्ति अपने पुत्र के भविष्य को उज्ज्वल करने के लिये उसे संयम, कठोर संयम की शिक्षा देना चाहती थी। विवाह उसका होगा, किन्तु भोग-विलास के लिये नहीं बल्कि कर्तव्य समझ कर—यही शक्ति की इच्छा थी और उसे इसकी पूर्ति के लिए कुछ भी जल्दी न थी, अभी आवश्यक समय आया ही कहाँ था? स्वयं श्री के मन में संयम का अभाव था। सुनी हुई बातें लम्बी-चौड़ी करके श्री कह तो गई, किन्तु उसमें कभी कुछ भी अपनापन उसे जान पड़ा नहीं। ठीक तोते की तरह वह बकती चली गई। शायद स्वयं ही घबरा भी जाती, पर सरदार पहुँच गया। सुभाष एक टूटी-फूटी सी मचिया-सी पर बैठ कर सरदार से बातें करने लगा। श्री खड़ी ही रही, बैठने को एक मचिया ही तो थी, जिस पर बैठना वह पहले ही अस्वीकार कर चुकी थी।

युवतियाँ मुख पर कपड़ा देकर कुछ कुछ हँस रही थीं, वृद्धाएँ आँखें फाड़-फाड़ कर इस अपने से बिलकुल भिन्न गोरी चिट्टी नारी की ओर देख रही थीं। बालक-बालिकाएँ आश्चर्य से चकित होकर उसकी सुन्दर रेशमी साड़ी की चमकीली रूपहली चाँदनी में चमचमाती किनारी की ओर देख रही थीं। श्री उनके जीवन में दिलचस्पी लेने, उनसे उनके जीवन से परिचय प्राप्त करने आई थी, किन्तु उसे यहाँ पहुँच कर जान पड़ा कि स्वयं अपने जीवन से ही अभी तक वह परिचय नहीं कर पाई है। इस मानवों के झुंड के बीच खड़ी

खड़ी श्री मानो खो सी गई। स्वयं अपने अस्तित्व के चारों ओर खिंची हुई रेखाएँ घूमती हुई सी जान पड़ने लगीं। उसने पूछा अपने आप से—मुझ श्री सहगल और इन आवारा मनुष्य जाति के प्राणियों में क्या भेद है, क्या अन्तर है ? उत्तर में उसे स्वयं अपने ही अन्तर से सुनाई पड़ रहा था बुल्ले शाह का एक पद "की पुँछदा जात सिफात मेरी, वो आदमवाली जात मेरी।" वास्तव में मेरा केवल शरीर इनके कठोर काले शरीरों से भले ही कुछ भिन्न हो किन्तु मेरा मानव मन इनके मानव मन से रत्ती भर भी भिन्न नहीं है, धड़कने वाले हृदयों में कुछ भी अन्तर हुआ करता नहीं है। श्री अपने आप को अधिकाधिक उन्हीं के निकट अनुभव करने लगी। उसके अन्तर के तार न जाने किन अनजान क्षणों में झनझना उठे थे। यत्न करके श्री ने निकट खड़ी हुई एक युवती से पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है ?"

'केहे छे !

युवती ने कुछ विचित्र स्वर में कहा। श्री उस भाषा को तो समझ नहीं पाई, किन्तु उसे जान पड़ा कि कहीं कुछ उस भाषा में अन्तर्हित उस का अपना ही प्राण है, एकान्त अपनी ही वस्तु है। भले ही श्री के कान उसे ग्रहण न कर पाए। भले ही श्री का भौतिक मन उसे न समझ पाये। सुभाष सरदार के साथ गम्भीर भाव से बात चीत करता रहा था, किन्तु श्री के मुख पर आने जाने वाले भाव-परिवर्तन पर भी उस का कुछ कम लक्ष्य न था। वह दूर बैठे ही बैठे श्री के मन को स्पष्ट रूप से पढ़ डालना चाहता था।

"इसका नाम लिच्छमी है।" उत्तर दिया एक चपटी नाक की

काली सी स्त्री ने। वह एक, घुटनों से कुछ ही नीचा, गन्दा, जगह जगह से फटा हुआ सा, लँहगा पहने थी। चंचल प्रकृति की युवती जब भी इधर उधर देखती थी, तो उस की टाँगों का प्रायः ऊपरी भाग फटे हुए लँहगे में से बरबस झाँक उठता था। उस की काली टाँगें उसके गन्दे लँहगे के साथ, जिसका प्रायः रंग जान सकना भी असम्भव हो गया है, मेल खाती हैं।

"अच्छा लक्ष्मी देवी, बड़ा सुन्दर नाम है।" न जाने क्यों श्री उस असुन्दर, लजीली, काली लड़की से अपनापन अनुभव कर रही थी। उसका अस्वस्थ शरीर, चंचल आँखें और गोल गोल पर पिचके से गाल, अस्वस्थ हाथ-पैर छोटा सा मानो भूख से अन्दर घुसा जा रहा सा पेट, सब कुछ श्री को नवीन सा लग रहा था।

"इसका विवाह हो चुका है?" श्री ने पूछा।

"तो अभी तक कुँवारी धींगरी ही बैठी रहती क्या?"

"बाल-बच्चे भी हैं?"

"दो लड़के और यह जो सब से पीछे खड़ी है, जिसका पेट बढ़ा हुआ सा है, यह लड़की है शादी को तो हुए नौ बरस हो गये। दो पहले बालक मरे न होते तो अभी होते कोई सात सात आठ आठ साल के।" युवती ने बड़ी दर्दभरी आवाज से कहा। श्री काँप उठी। दरिद्रता का ताण्डव-नृत्य, तिस पर भोजन की कमी, वेदना-दुःख की प्रतिमा, यह नारी तीन बच्चे होते हुए भी, अभी असन्तुष्ट ही है। मँझली भाभी के जब दूसरा बालक हुआ था तो उन्होंने चिढ़ कर कहा था—"क्या करूँ यह आ ही जाते हैं और इन बेचारों का दोष क्या जब स्वयं हम लोग ही संयम न कर सकें। कितना ही कहती, हूँ

किन्तु वह बच्चों के प्रति अपना उत्तरदायित्व न समझ कर केवल मात्र वासना-पूर्ति ही अपना कर्तव्य समझते हैं।

स्वयं अपने प्रति भाभी के चिढ़े हुए स्वर में कहे हुए इन शब्दों का श्री को उस दिन अर्थ ही नहीं जान पड़ा था, किन्तु आज सर्वांग रूप से बच्चों के प्रति उत्तरदायित्व का भार उठाने में असमर्थ इस रमणी के तीन अनाथप्राय बच्चों की माता होने पर भी और बच्चों की माता होने की इच्छा करने से श्री काँप उठी। उस लड़की की अवस्था भी अधिक न थी। पर माता बनने का असमय में ही जो शौक उसे लदे बैठा था। प्रकृति ने उसका पूरा पूरा मूल्य चुकाया था, कहीं कुछ भी तनिक भी कमी नहीं छोड़ी थी। अचानक ही श्री ने कह दिया कितनी छोटी सी लड़की का विवाह कर डालते हो, तुम लोग। अरे अभी तो कठिनता से बीस-इक्कीस वर्ष की होगी।"

"अरे कोई नन्हीं बच्ची थी जब शादी हुई" उसी युवती ने फिर कहा—"अच्छी-खासी पट्ठी जवान थी। इतनी ऊँची लगती थी बड़ी सी।" उस स्त्री ने हाथ से ऊँचाई का लक्ष्य करते हुए कहा।

"और फिर तुम बड़े लोगों की तो बात ही और है, हम कमीने लोगों में तो लड़कियाँ खसम बिना थोड़े ही रहती हैं।" घृणित ढंग से दूसरी बूढ़ी सी स्त्री ने कहा। श्री इस बार मन प्राण तक काँप उठी।

"यही है कथा ब्रह्मचर्य का, संयम का रूप जो हमें दिखाई पड़ रहा है। यह योगिराज श्रीकृष्ण, मर्यादा पुरुषोत्तम राम, जगद्गुरु शंकराचार्य, बाल ब्रह्मचारी शुकदेव, महर्षि दयानन्द ब्रह्मचारी, महात्मा गांधी का देश है। इस अभागे देश में मानसिक शक्तियाँ

स्वतन्त्रता के—आज़ादी के—नाम पर उच्छृंखल बनाई जा रही हैं।" उसे अपने कितने ही कामरेड्स के कर्म याद आ रहे थे। "एक दिन उसकी सहपाठिनी एक कामरेड ने कहा था कि इस देश का कलंक हैं विधवा नारियाँ।" उत्तर में उसे याद आया कि उसकी एक दूसरी सहपाठिनी ने कहा था, "पर बहिन ब्रह्मचर्य और संयम का महत्व जानबूझ कर 'हूँ' कर उड़ाया नहीं जा सकता। जो देश गार्गी जैसी विदुषी, कर्मठ और सुयोग्य ब्रह्मचारिणियाँ तथा तप और त्याग की मूर्ति अहल्याबाई तथा वीर, धीर और तेज-प्रधान भाव वाली रण-चण्डी महारानी लक्ष्मी बाई जैसी विधवाएँ अपने हृदय में रख सकता है उस देश में, चाहे जो भी कहो, संयम का महत्व मानना पड़ेगा ही।" कामरेड ने कहा,—"हूँ, यह सब तो कहने की बातें हैं। प्रकृति का विरोध नहीं किया जा सकता। प्रकृति ने पुरुष को स्त्री के लिये और स्त्री को पुरुष के लिये जब बनाया ही है तो फिर यह संयमादि का ढोंग क्यों? वर्षों से स्वार्थ के बनाये हुए ये ढोंग सहज ही सिगमंड फ्रायड ने तोड़-मरोड़ दिये हैं। जो सत्य है उसे छुपाया या दबाया नहीं जा सकता और फिर सप्रेसड फीलिंग्स—दबाये हुए भाव, कुचली हुई इच्छाएँ ही तो मनुष्य के सबसे बड़े शत्रु हैं। हम भला जान-बूझ कर प्राकृतिक इच्छा को दबा कर अपने शत्रुओं की संख्या-वृद्धि क्यों करें? और फिर संयम, धर्म इन सब में कुछ तथ्य तो है नहीं।" लम्बे-चौड़े व्याख्यान को सुन चुकने के पश्चात् श्रोता धीरे धीरे मुस्करा कर उपेक्षाभरी दृष्टि से देखकर चल दी—बिना कुछ कहे सुने ही, किन्तु कामरेड उसी प्रकार अपने विश्वास में स्थिर बनी थी। "इन्द्रिय-दमन न होने का नाम स्वतन्त्रता तो है

नहीं, वरन वास्तविक स्वतन्त्रता तो संयम का ही दूसरा नाम है। इन्द्रियजीत के अतिरिक्त और पूर्ण स्वतन्त्र है ही कौन ?" इन शब्दों के शब्दों की ध्वनि के बीच कहीं-कहीं भी के कामरेड सुभाष, कामरेड-प्रताप, और कामरेड हरिप्रिया शोर के प्रायः एक से ही शब्द सुन पड़े—"इन्द्रिय-दमन एक हद से बाहर होने पर अस्वाभाविक है। विवाह होना ही क्या दो मानव मन के मिलने के लिये आवश्यक है। पेट की भूख से कहीं बढ़कर मानव-जीवन में और भी स्वाभाविक प्राकृतिक भूख होती ही है जिसे सन्तुष्ट करना भी मानव-धर्म है।" आदि आदि।

एक ओर नवयुवक और नवयुवतियाँ आचार्य, परिवर्तन और पुराने के स्थान पर नई वस्तुएँ, स्वभाव और रीति-रिवाज ग्रहण करने के नाम पर योरूप की नकल से केवल मात्र उच्छृंखल वृत्ति को ही प्रमाणित करने में लगे हुए हैं। दूसरी ओर संयम के नाम पर समाज के पुराने जीर्ण नियम इन्द्रिय-जीत बनने का ही राग अलाप रहे हैं और तीसरी ओर वही भारत में इस युवती के वे कठोर शब्द एक घृणित असत्य का भयंकर रूप प्रकट कर रहे हैं। कौन सा सत्य है, कौन सा मिथ्या है यह भी स्वयं भी नहीं समझ पा रही रही थी, किन्तु उसे ज्ञान पड़ा कि यह सब मिथ्या ही मिथ्या है, यदि सत्य होता तो स्वयं अपने ही को उच्छेद करने वाले न ढूंढ पाते। उसे उस पाँच वर्षों की दुर्बल, नष्टप्राय युवती माँ से सहानुभूति हो उठी। उसका मन रो उठा उस माँ—पामरवती बनाई हुई माँ—के लिये। उसके मातृत्व में स्नेह था, पर कर्तव्य-पालन-भावना नहीं। कर्तव्य-भावना कभी होती, किन्तु स्नेह से परे स्नेह से ति।

श्री एक ऐसी वस्तु है जोकि महान है, उच्च है, और है महत्वपूर्ण। श्री के मन ने इन भावनाओं का स्वागत आज प्रथम बार ही किया था।

अँधेरा बढ़ने लगा था, यद्यपि हलकी प्रकाश-किरणें चन्द्रमा से आ ही रही थीं।। सुभाष ने कहा—"श्री, चलो अब चलें"।

सुभाष की दृष्टि में न जाने क्या था, जिसे देखकर श्री कुछ भयभीत सी हो उठी।

"यह तुम्हारे मालिक होंगे ?" कुछ ढिठाई से एक युवती ने पूछा। सुभाष मुस्कराया, पर श्री विस्मित हो उठी।

"नहीं, एक मित्र हैं।"

उन स्त्रियों में से श्री का तात्पर्य कोई भी समझ नहीं पाई। झटपट श्री उनसे विदा लेकर चलदी सड़क की ओर। श्री सावधान थी, सुभाष की वह दृष्टि देखकर उसके साथ शहर जाने का साहस इस रात के समय श्री को पैदल किसी प्रकार भी नहीं हो रहा था। सरदार साथ ही सड़क तक पहुँचाने चलने लगा। सुभाष बार बार सरदार को वापिस लौटने का अनुरोध कर रहा था, पर सरदार चलता ही जा रहा था। सुभाष के इस बार अत्यन्त ज़ोर देकर कहने पर श्री बोल पड़ी—"चलो न सरदारजी, सड़क तक चले ही चलते हैं। मील एक ही तो है। हमें रास्ता भी ठीक नहीं मालूम।"

"अभी तो आये हैं, याद, रास्ता मालूम कैसे नहीं। बेचारे सरदार को। दिन भर के काम से थका हुआ है, रात में क्या कष्ट देना। जाओ जी सरदार, हम चले जायेंगे। वह सामने ही तो सड़क दीख पड़ती है।" सुभाष बोला।

श्री मन ही मन डरने लगी कि कहीं सरदार लौट ही न जाये।

पर वह बेचारा भोला सहृदय सरदार इन शरीफ अतिथियों को किसी प्रकार जंगल में छोड़ सकता ही न था। जैसे तैसे क्रोध, लाचारी और झुँझलाहट से भरा सुभाष, उत्साह प्रेम और नम्रता से दबा सरदार और भयभीत हिरणी सी श्री सड़क तक पहुँच गये। पास ही दूकान में साइकिलें रखी थीं। दोनों ने सरदार को सस्नेह विदा देकर साइकिलें सम्हालीं। पहिये मुड़े नगर की ओर। सड़क जन-शून्य न थी। आलोक की भी कमी न थी, दोनों ओर दूकानें सजी हुई थीं।

"मैं तुम्हें खा तो नहीं जाती श्री। इतना घबरा क्यों रही थीं मेरे साथ से?"

"नहीं, नहीं वैसी कोई बात नहीं थी।" श्री ने टालना चाहा, पर सुभाष तो जैसे भरा ही बैठा था। क्रोध जब लाचारी के साथ मिल जाता है तब उसका रूप प्रकट होता है तानों में, व्यंगभरी वाणी में।

"अक्षय के साथ तो मजे से चली जाती हो अकेली।" व्यंग भरा था कड़वा तीव्र सुभाष के स्वर में। कठोर शब्द उत्तेजित करते हैं, किन्तु व्यंग आग लगा देता है सिर से पैर तक। श्री जल उठी यद्यपि भाव अप्रिय नहीं था।

"अक्षय की समता करने की योग्यता तुममें नहीं है सुभाष। अपने कायदे में ही रहो।" कटु व्यंग भरे स्वर में श्री ने भी ईंट का उत्तर पत्थर से दिया। ठंडे होने की अपेक्षा सुभाष और भी अधिक गरम हो उठा।

"अच्छा यह बात है। आज वह मजदूर हमसे अधिक श्रेष्ठ हो

रहा है। छिः मैं तुम्हें ऐसा नहीं समझता था'''''''स्त्रियों की जाति ही ऐसी होती है।''''''''''"सुभाष और भी कुछ कहने जा रहा था पर बातचीत में ही अपने कोमल पर तेज स्वर से काट कर श्री ने कहा,—

"सुभाष, हो सकता है तुम्हें निराशा हुई हो, किन्तु किसी भी अवस्था में मेरा अपमान करने का तुम्हें कोई भी अधिकार नहीं है। मैं अपना मार्ग पकड़ती हूँ। ख़बरदार, फिर कभी मेरा अपमान करने का यत्न न करना।" दृढ़ता से कह कर श्री ने साईकिल अपने घर की सड़क पर मोड़ दी और तेज़ी से इतनी तेज़ी से निकल गई कि सुभाष साईकिल भी नहीं मोड़ पाया। सुभाष जल रहा था क्रोध से, ईर्षा से और अपमान की ज्वाला से, पर अब उपाय ही क्या था? किसी प्रकार भी सुभाष श्री की इच्छा के बिना उसकी कोठी में जा सकता नहीं था, तथा उसकी कोठी भी अब निकट ही आ गई थी।

"अच्छा, अच्छा बदला लूँगा।" उसने अपना स्वर अधिक-अधिक कड़वा करके कहा। तेज़ी से उसकी साईकिल भी सीधी आलोकित सड़क पर दौड़ रही थी। उसका मस्तिष्क भी तीव्रता से दौड़ रहा था, न जाने किन किन विचारों को लिये हुए। उसकी गति में न विश्राम था और न शृंखला। "हाय रे मानव मन! हाय री मानव की पीड़ा!" सुभाष ने सोचा। पेट की भूख से, अन्न न मिलने पर, जो पीड़ा उत्पन्न होती है उसे सब ही जान पाते हैं, किन्तु मनुष्य के मन में ही जिस वेदना का जन्म होता है उसे शायद कोई भी समझ पाता नहीं।

प्रतिकार

"माँ, विश्व भर में अन्याय का प्रतिकार करने के लिये किसी भी शृंखला, किसी भी नियम को मानने की आवश्यकता नहीं है। मैं मानती हूँ कि व्यर्थ ही किसी को दुःख देना उचित नहीं है। मुझे हिंसा से प्रेम भी नहीं है, किन्तु अहिंसा के नाम पर अन्याय को टुकर टुकर देखा करूँ तो शक्ति भी मुझ में नहीं है।"

"अन्याय का कारण केवल मात्र तुम ही तो हटा सकती नहीं हो, क्योंकि वह तुम्हारी सामर्थ्य से कहीं परे है, मेरी बच्ची और जब तुम वैसा कर सकती ही नहीं तो वृथा उत्पात से लाभ ही क्या होगा ?"

"लाभ क्या होगा तो मैं स्पष्ट मात्र में नहीं बता सकूँगी, किन्तु इससे सहज ही हम अपने ध्येय तक पहुँच पायेंगे।"

"मुझे तो संशय ही है।" शक्ति ने धीरे से कहा।

"देखो, माँ, हमारा और तुम्हारा पथ सर्वथा भिन्न है। उसमें कहीं कुछ भी एकता नहीं है। यह भी मैं जानती हूँ कि तुमने, तुम्हारे मौन प्रभाव ने, तुम्हारे जीवन पथ ने ही हमारे सबसे सफल, सबसे

अधिक सुयोग्य कार्यकर्त्ता अक्षय को सर्वथा अहिंसावादी बनाकर हमारे मार्ग की कठिनाइयाँ बहुत कुछ बढ़ा दी हैं, फिर भी मैं तुम पर श्रद्धा करती हूँ, किन्तु इस श्रद्धा के कारण भी तुम्हारे सिद्धान्त को मान नहीं सकूँगी और तुम्हें हमारा कार्य तो करना ही होगा।" श्री व्याकुल कण्ठ से कह गई।

"श्री, मेरा तुम पर सहज स्नेह है, पर यह सब कुछ करने से पूर्व तुमने यह भी कभी सोचा है कि अक्षय यह स्वीकार भी करेगा अथवा नहीं।"

यह देखने-सुनने का अवकाश ही कहाँ है, माँ ? लाठी की चोट से उनका सिर पहले ही रक्त में नहा रहा था, आँखें थकन से मुँदी आ रही थीं। ऐसी दशा में वह कारागार में ले जाये गये थे और फिर······न न पूछो माँ, उस असह्य अत्याचार का वर्णन नारी होकर मैं नहीं कर पाऊँगी। माँ, तुम मानो या न मानो इसे यह करना ही पड़ेगा······"

"अक्षय मेरा पुत्र है और अक्षय ही क्यों सारे ही कारागार की काली कोठरी में सड़ने वाले व्यक्ति मेरे पुत्र ही हैं, श्री। पुत्र की व्यथा माँ से अधिक और किसी को भी कष्ट नहीं पहुँचाती, पहुँचा सकती ही नहीं, किन्तु फिर भी मैं निश्चयपूर्वक कह सकती हूँ कि वह ऐसा नहीं करेगा।"

श्री मुख नीचा किये चुप चुप ही रही, कुछ देर तक सोचने की सी मुद्रा में। उसका मन किसी गम्भीर चिन्ता में डूब रहा था। शक्ति फिर कहने लगी।

"श्री, मैं अपने इस बाईस-चौबीस वर्षीय लड़के को न पहचानूँ

होऊँ सो बात नहीं है। वह मानव-रक्त पर पैर रख कर आने वाली स्वतन्त्रता को ठुकरा देगा, ग्रहण नहीं करेगा। उसने विश्व भर का दुःख अपने बाँट में लेना भर ही सीखा है, पर किसी दिन भी मैं उसे दूसरे को दुःख देने की शिक्षा नहीं दे सकी हूँ।"

"कुछ भी हो माँ, हमें उस जेलर को संसार से उठाना ही होगा, और किसी प्रकार भी उन लोगों को जेल के बाहर करना ही होगा, इसके बिना हमारा कार्य्य चलेगा ही नहीं और तुम्हें किसी न किसी प्रकार यह पैकेट उसे देना पड़ेगा। अक्षय के अतिरिक्त और कोई भी इतना योग्य नहीं है उस रूप में। अपने लिये नहीं तो अपने साथियों के लिये जीवन में यह प्रथम रक्त-पात तो अक्षय को करना पड़ेगा।"

शक्ति सोचती रही।

"पुत्र की ममता बड़ी ही प्रलोभनीय वस्तु है, औ, किन्तु उससे बढ़कर भी सत्य एक वस्तु है न्याय। न्याय बड़ा ही सुन्दर है बड़ा ही सत्य, बड़ा ही लोभनीय, किन्तु उससे भी अधिक सत्य है सिद्धान्त। सिद्धान्त का खून सहन ही नहीं किया जा सकता। भले ही मेरा लाल······"शक्ति आगे कुछ भी न कह सकी।

"माँ, तुम व्यर्थ ही दुःख पा रही हो और सिद्धान्त की दुहाई देकर हमें भी दुःख दे रही हो। अन्याय के समर्थक यदि अकारण ही अक्षय को तथा उन निरीह मजदूरों को झूठ-मूठ ही रेल की लाइन तोड़ने तथा अन्य ऐसे ही कार्य्य करने के दोष में फँसाकर निरपराध ही फाँसी के तख्ते तक ले जाना चाहते हैं तो हमें प्रतिकार करना ही होगा। देश के न जाने कितने युवक इनके राक्षसी मुख की भेंट

हो चुके हैं। कितने ही तेजस्वी खिलते फूल अधखिले ही माँ की गोद से छीन लिये गये हैं। माँ, याद करो जलियाँवाले का दृश्य, याद करो वीर भगतसिंह आदि की लोमहर्षक अमर कहानी। किसने किया था यह अत्याचार! बहुत से हमारे भाई भी तो इस अत्याचार करने में भागी थे न? और वह क्यों? किसने उन्हें भाई का खून पीना सिखा दिया था। किस अभागी घड़ी में उन्हें निहत्थे, निरीह व्यक्तियों पर अत्याचार करना सिखाया गया था। कैसे उस समय उनकी आँखों का समस्त जल, हृदय की समस्त दया, मन का मानव जगत के प्रति—अपने असहाय दुःखी भाइयों के प्रति—समस्त स्नेह चूँस चूँस कर के निचोड़ डाला गया था? मेरी माँ, वे क्या सदा ऐसे ही थे? भारतवासियों ने क्या कभी भी किसी जाति को दुःख दिया था, कभी दुर्दिन में भी उन्होंने क्या मनुष्य की दया पर अत्याचार किया था? यदि नहीं, तो यह सब उनसे करवाया किसने? आज भी तो, अकारण ही, चाहे जिस पुरुष को चाहे जब चाहे जो दण्ड दे देता है। न्याय का ढोंग करके कौन अन्याय को, घृणा को और अत्याचार को प्रश्रय देता है। मेरी माँ कातरदर्शी न बनो। तुम्हारा भगवान चाहे कितना ही न्यायप्रिय क्यों न हो, इस कठोर न्यायालय के राक्षसी न्याय के हाथों इन निरपराध व्यक्तियों को वह मुक्ति न दिला पायेगा। और जिन्होंने यह सब कुछ किया है उनका भाग्य केवल मात्र आश्रय के मन में ही छुपा पड़ा है, किन्तु रक्त की अन्तिम बूँद तक निचुड़ जाने पर भी भारत मुख से एक शब्द भी उनके विरुद्ध में निकालेगा नहीं। 'ईश्वर' कह कर जिस अमानुषिक अत्याचार का सहारा लिया

गया था उसकी व्याख्या तो मैं नहीं कर पाऊँगी, किन्तु यह भी अक्षय के मुख से वह कहलवा पाया नहीं जो कि हमारे महाप्रभुओं को प्रिय था। न्यायोचित सारे ही मार्ग देख चुकी हूँ, सब एक एक करके हमारे लिये बन्द हो चुके हैं, केवल मात्र एक मार्ग, एकाकी हिंसा का मार्ग ही रह गया है माँ, उसे स्वयं अपने हाथों बन्द करके अपने पुत्र की घातिका न बनो, मेरी माँ। और हम तैयारी भी तो अब पूरी कर चुके हैं।" श्री ने बड़े ही करुण ढंग से विनती भरे स्वर में कहा।

शक्ति चौकी पर बृहदारण्यक उपनिषद् रख कर पढ़ रही थी। उस की सौम्य मुख-मुद्रा और भी प्रखर हो उठी थी। श्री ने सदा ही इस नारी को धार्मिक पुस्तकें पढ़ते या रोगियों की सेवा करते हुए ही देखा था, किसी दिन भी इस काले शरीर के भीतर लबालब भरी दृढ़ता का अनुभव वह नहीं कर पाई थी। विकल भरे स्वर में कुछ कहकर श्री ने जब शक्ति के मुख की ओर देखा तो कहीं किञ्चित मात्र भी दुविधा नहीं दीख पड़ी। वही प्रशान्त साँवला मुख था। कठोर जीवन और निरन्तर की भूख ने उसके चेहरे पर असमय में ही झुर्रियों की प्रधानता तो कर ही दी थी, किन्तु उन झुर्रियों के बीच में जो शान्ति, अमर शालीनता छिपी हुई थी, वह श्री की दृष्टि से अगोचर न रह सकी। क्षणमात्र में ही श्री को ज्ञात पड़ा कि उसकी प्रार्थना सम्पूर्ण रूप से ही व्यर्थ गई। जिस धातु पर अग्नि, वर्षा, हथौड़े की चोट, किसी भी बाहरी वस्तु का प्रभाव कुछ भी होता ही नहीं है शायद उसी वस्तु से यह साँवली वृद्धा स्त्री बनी हुई है श्री ने सोचा। माँ का हृदय जिसे विचलित नहीं कर पाता उस कठोर रक्षणी के सम्मुख श्री व्यर्थ में झोली पसार बैठी है।

"श्री तुम ठीक कहती हो। जलियाँवाला का अत्याचार, समय समय पर किये गये अमानुषिक भीषण कृत्य, किसी दिन भी मेरे मन से दूर नहीं हो पाये हैं, किन्तु इन्हें करने वाले भी तो अक्षय की भाँति ही मेरे पुत्र हैं, उन सब पर भी तो मेरा वैसा ही सहज स्नेह है। प्रतिकार शब्द हम नारियों के कोष में नहीं हुआ करता। हम तो माता की जाति से हैं। संसार भर के व्यक्ति हमारी सन्तान हैं और राह से भटके हुए, पाप-पथ के गामी तो हमारी और भी प्यारी सन्तानें हैं। क्यों, तो तुम उस माँ के दिल से पूछो जो अपनी अपाहिज, दुःखी, निर्बल और हीन सन्तान को ही स्वस्थ और सुखी सन्तान से अधिक प्यार करती है। अत्याचार को मन-प्राण से क्षमा कर सको तो ही उचित है। और तुम्हें हिंसा के पथ पर जाने दूँ तो जिस अक्षय को मैं बड़े ही कष्ट से आज तक प्रयत्न करके मनुष्य बना पाई हूँ वही भला कभी मुझ पर विश्वास कर सकेगा। नहीं, नहीं श्री मैं यह न करूँगी। अक्षय की रक्षा स्वयं जगन्नाथ करेंगे।" शायद मन पर—मानव-मन पर—इतना अधिक सिद्धान्त-भार डाल कर शान्ति थक गई थी। उस ने बड़ी ही जबरदस्ती बृहदारण्यक उपनिषद् पर मुँह झुका कर पढ़ना आरम्भ कर दिया। श्री ने कुछेक क्षण और शान्ति का साँवला मुख देखा फिर तुरन्त ही उठ खड़ी हुई। और बिना बोले-चाले ही चल दी। शान्ति की सूखी आँखों से दो बून्द आँसू उसी समय बृहदारण्यक उपनिषद् पर गिर पड़े। उसने गीली पलकों से ही मन ही मन कहा—"मेरी प्यारी बच्ची, मैं माँ होकर भी इतनी कठोर क्यों हो गई हूँ सो तू नहीं जानती, किन्तु मुझे तो कठोर होना ही पड़ेगा, सो भी केवल तेरे और तेरे ही लिये। अक्षय को मनुष्य बना कर ही तो तेरे हाथों में

सौंप सकूँगी इस से पूर्व नहीं। इसी संकल्प से तो जीवन-रण-क्षेत्र में अकेली, निरस्त्र ही कूदी थी। मनुष्य न बना सकने पर उसका मूल्य ही क्या रह जायगा, मेरी बच्ची?"

शक्ति की आँखें बह रही थीं, उसी प्रकार जिस प्रकार ठीक उसी समय घर के सामने का परनाला बह रहा था।

"कितनी प्यारी है यह लड़की, कितना प्रेम करती है अक्षय से और कितना साहस कूट कूट कर भरा है इसकी छाती में।"

शक्ति ने सोचा और सोचती ही रही।

पूर्णाहुति

दो वर्ष पश्चात्:—

नदी किनारे सुहावनी सन्ध्या का आरम्भ था। श्री—पूर्ण युवती सुन्दरी श्री—सन्ध्या से होड़ करके ही लाल लाल सी साड़ी पहने थी। उसके सुन्दर मुख पर कुछ दुश्चिन्ता की छाया सी दीख पड़ती थी। अक्षय में कुछ भी परिवर्तन नहीं दीख पड़ता था। दोनों चले जा रहे थे किनारे किनारे। पानी पर पड़ती हुई उनकी प्रतिच्छाया उज्ज्वल थी, सुन्दर थी, दोनों की छायाएँ जल में मिल कर एक हो रही थीं। सहसा श्री बोल उठी—"देखो, अक्षय, तुम्हारी जोर-जबरदस्ती के बीच में कभी कभी तुम्हारा प्रभाव मानती भी रही हूँ, किन्तु आज तो किसी प्रकार भी अपने मन पर अत्याचार न कर सकूँगी। दूसरों पर अत्याचार करना पाप है, किन्तु स्वयं अपने मन पर अत्याचार करना किसी कारण से भी क्षम्य नहीं है, अक्षय।"

"मानता हूँ श्री, किन्तु किसी कारण से भी हिंसा का समर्थन मैं नहीं कर पाऊँगा। जानता हूँ तुम्हारे हाथ में पिस्तौल है, इच्छा करती ही किसी भी हँसते-खेलते मानव को शव मात्र ही कर दे सकती

तो फिर भी मैं तुम्हारे उस कृत्य का महत्व मिर्च या अचार-मसाला से अधिक नहीं समझता, जो थोड़े से स्वाद के लिये तेजी तो अवश्य दे देता है, किन्तु उसका अन्त शुभ न होकर केवल क्षोभ मात्र ही होता है।"

"हो सकता है तुम ठीक कहते हो, किन्तु कामरेड भी तो अपनी आँखों के सम्मुख निरीह निहत्थों पर केवल मात्र एक व्यक्ति—सो भी विदेशी—के संकेत पर लाठी और गोली बरसते देख सकेगी नहीं। हमारा, हम भारतवासियों के दर्शन, तत्वज्ञान का मूल्य चाहे जो रहा हो अपनी और विश्व भर की दृष्टि में किसी दिन, किन्तु आज तो हमारी छाती का मूल्य एक गधे के मूल्य के भी बराबर नहीं है। एक खच्चर अधिक पैसे देकर क्रय किया जाता है, किन्तु भारतीय, छि: हमें चनों की तरह भूनते किसी दिन भी जिनकी आँखें गीली नहीं होतीं, उनके लिए बरबस अपने ही रक्त से अपना समस्त शरीर गीला करना पड़ेगा! हम अत्याचार नहीं सह सकेंगे।"

युवक तेज चल रहा था। थका हुआ भी था। जान पड़ता था कि रात भर सोया भी नहीं है। उनींदी आँखें जबरदस्ती फाड़ फाड़ कर कठिनाई से चल रहा था, पर मुख पर चिन्ता की छाप लिए हुए भी युवती स्वस्थ थी, तरोताजा थी।

"फिर भी श्री अपनी आज्ञा से एक व्यक्ति जो अनेकों की भीड़ पर गोली चलवा देता है उसकी छाती का रक्त बहा कर ही तो उस तामसिक प्रकृति का अन्त नहीं हो जाता जो कि निरीह निहत्थों पर गोली चलवाती है। उस सत्ता का भी नाश नहीं हो जाता जो कि ऐसे अत्याचारों की जड़ में बैठ कर मानव जाति के पवित्र प्रेम पूर्ण

हृदय में विष घोलती है। जब कुछ लाभ भी नहीं है, हाँ, हानि अवश्य है, तब क्यों अपने पवित्र उद्देश्य को लेकर दान किये हुये शरीर के पवित्र हाथ को अपने ही भाई के रक्त से रंग डालना चाहिए।"

"सो सब कुछ मैं नहीं जानती। स्वयं आगे बढ़कर किसी को मारने जाती भी नहीं, किन्तु किसी की भी आज्ञा से यह आज की मीटिंग रुकेगी नहीं।"

"हाँ रुकेगी तो नहीं।" दृढ़तापूर्वक अक्षय ने कहा।

"और यह भी कहे रखती हूँ कि यदि जनता पर गोली या लाठी चलवाने का घृणित आयोजन किया गया तो रक्तपात इस ओर से भी हुए बिना न रहेगा।" श्री ने भी दृढ़ता से उत्तर दिया।

"श्री, व्यर्थ रक्तपात न करो। परिणाम भला नहीं होगा।"

"सो मैं सोचने की योग्यता रखती हूँ।"

"फिर सोच लो, श्री, हिंसा से कल्याण नहीं हुआ करता। कल्याण होता है प्रेम से। मानव-प्रेम ही शिव की सृष्टि कर सकता है यह मानव अवश्य जानते हैं। रक्त देकर भी यदि वे रक्त की रक्षा कर पायें तो पीछे पैर नहीं देंगे। यही महात्मा गाँधी के सिपाहियों की नीति है, चाहे तो भले ही इसे कायरता कह लो।"

मार्ग भर फिर अक्षय एक शब्द भी नहीं बोला। श्री भी नहीं। अब वे गन्तव्य स्थान पर प्रायः पहुँच ही गये थे। आस-पास के धुँए और गन्दगी से भरे हुए मकानों के बीच, एक बड़े से ज़मीन के टुकड़े को साफ करके, उसी पर कुछ सूखी बिछा कर बैठने योग्य स्थान बनाया गया था। एक मामूली सी मेज थी, उसके पीछे कोई कुर्सी भी थी, प्रायः तीन ही टाँगों की, चौथी टाँग के स्थान पर कुछ ईंटें एकत्रित

करके रख दी गई थीं। मेज गन्दी और नंगी ही थी। पर उपस्थित जनता की कमी न थी। लाउड स्पीकर भी न थे और चमचमाती झाड़ें भी नहीं, फिर भी बरसात के बादलों की भाँति जनता उमड़ती ही आ रही थी। आश्रय व्याख्यान नहीं दिया करता था, किसी के बहुत अधिक अनुरोध करने पर भी हँसकर कह देता था, "क्या कहूँ मुझे तो अभी तक कुछ स्वयं भी आता नहीं।"

"जान पड़ता है तुम्हें रक्त देख कर डर लगता है। अहिंसा के भीतर छिपी हुई कायरता मात्र होना नहीं जानती, केवल रक्त से भय मात्र ही खाती है। रूस के विजयी वीर रक्त देना भी जानते थे और बहाना भी, तभी तो देश का कल्याण कर पाये। भारत में रक्त दे सकने वाले वीरों की कमी है। महात्मा जी की अहिंसात्मक नीति बुद्ध की अहिंसात्मक नीति की भाँति ही कायर चाहे जितने पैदा करदे देश को स्वतन्त्र नहीं करवा सकती।" कुछ चिढ़ कर व्यंग और क्रोध मिश्रित स्वर में श्री कह गई। कई बार कई बातें हम कह तो जाते हैं किन्तु उनका परिणाम जान नहीं पाते। श्री के साथ भी ठीक ऐसा ही हुआ।

बड़ी देर तक आश्रय चुपचाप चलता रहा। फिर अचानक आँखें पूरी पूरी खोल कर अस्त होते हुए सूर्य्य की लालिमा की ओर देखते हुए उसने कहा—"ठीक कहती हो श्री अहिंसात्मक नीति के समर्थक रक्त लेना नहीं जानते, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर, समय आने पर, देख लेना वह रक्त देने में पीछे नहीं रहते। समझ नहीं पड़ता कि देश का उद्धार कैसे होगा?" श्री इसे न समझ सकी अथवा व्याख्यान देने की अयोग्यता आश्रय को इसकी चिन्ता ही कब थी। और

चलती चल रही थी। मंच कहने योग्य जो कुछ भी कुर्सी मेज एकत्रित की थी उसके पीछे कुछ थोड़ा सा स्थान नारियों के लिये भी सुरक्षित था। शान्ति सिर झुकाये निश्चिन्त मन से वहीं बैठी थी। आज उसका मुख बिलकुल सूखा हुआ था। रात में सो भी नहीं सकी थी, जलसे की तैयारी सम्मानित लेख पत्रादि जो लिखने थे। इस समय भी उसका मन दुश्चिन्ता से भरा हुआ था। ठीक आठ बजे कार्य्य आरम्भ हो गया। सभापति की आज्ञा से श्री व्याख्यान देने उठ खड़ी हुई।

एक क्षण बाद ही श्री कह रही थी—

"भाइयो, अत्याचार को आश्रय देना पाप है। हमने सैकड़ों वर्षों से अत्याचार मात्र ही पिया है...... हमें मनुष्य भी नहीं समझा जाता। हमारे साथ जंगली पशुओं से भी बदतर व्यवहार करने वाले हमारे ये गौरांग महा प्रभु............"

व्याख्यान अभी दस मिनिट भी नहीं हो पाया था कि सदा की भाँति ही मृत्यु-दूत की तरह हमारी सद्वृत्तियों के दमन करने वाले आ धमके। स्थान छोटा ही था। पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट ने आकर कहा मंच के निकट ही—"देवी जी, आपको कष्ट देना नहीं चाहता, पर आप तुरन्त ही मंच छोड़ दें। सभा नहीं होगी।"

"सभा होगी ही। आप शक्ति से हमारी न्यायोचित पुकार रोक नहीं सकते।" श्री ने कहा।

अक्षय दूर खड़ा हुआ था। भीड़ में घबराहट मच रही थी। अक्षय ने ऊँचे स्वर में कहा—"भाइयो हमें भागना नहीं पड़ेगा। यह जो हमें आज न्याय की आवाज बन्द करने को कहने आये हैं यह भी हमारे भाई ही हैं, इन्हें भी सत्य की आवाज सुननी ही होगी

और हम इन्हें सुनायेंगे ही। अतः यह भी हमारे साथ ही बैठेंगे और सुनेंगे। आप घबरायें नहीं।" अक्षय की दृढ़तापूर्ण आवाज़ ने भागने वालों के पैर रोक दिये। जनता शान्त थी, किन्तु श्री और एस० पी० के वाद-विवाद का परिणाम हुआ लाठी-चार्ज। दिन भर की थकी हुई श्री चित्र-लिखित सी खड़ी हुई थी। उसकी आँखें मानो किसी शव की फटी हुई आँखें थीं। रक्त-पात की आशंका तो प्रायः सब को ही थी, किन्तु इतनी जल्दी और अकारण ही यह दृश्य उपस्थित हो उठेगा, इसकी कल्पना किसी को भी न थी। जनता भागने लगी थी। अक्षय एक ओर कुछ कह रहा था और जनता लाठियाँ खा-खाकर भी सुने जा रही थी। किसी का हाथ टूटा था तो किसी का पैर। रक्त की कीच हो रही थी। बच्चों और बूढ़ों की चिल्लाहट के स्वर भी गूँज चले थे अक्षय के। शक्ति का दुर्बल शरीर पैर पर एक गहरी चोट खाकर वहीं लोट गया था। श्री यह भी देख रही थी चेतनाहीन होकर। शक्ति का गिरना मानो उसे दीख पड़ा ही नहीं। शक्ति की दृष्टि सामने की ओर पड़ी। अक्षय के ठीक सिर के ऊपर लाठी तनी हुई थी। निश्चय ही था कि अक्षय के सिर पर गिर कर यह लाठी न जाने किस युग का अपना बदला चुका लेती। दृश्य ने चेतनाहीन, संज्ञाहीन सी श्री में चेतना फूँक दी। छाती के ऊपर वस्त्रों के भीतर छिपी हुई पिस्तौल क्षण भर में श्री के हाथ में थी। लाठी चूक गई थी। अक्षय का सिर तो क्षणेक के लिये बच गया था, पर कुशल न थी। श्री ने थोड़ी ही दूर खड़े सार्जेन्ट की ओर पिस्तौल तान दी। पल भर में बिजली की सी स्फुर्ति से अक्षय अत्या-चारी के सम्मुख खड़ा था। गोली का निशाना अचूक था। अक्षय

गिर गया धरती पर खून से लथपथ, किन्तु श्री परिणाम बिना जाने ही फल की कोई और ही काल्पनिक मूर्ति लिये उस स्थान से कब की गायब हो चुकी थी। एल० पी० मि० स्मिथ ने झुककर सुना, धीरे से अक्षय कह रहा था "हम कायर नहीं हैं श्री। हम रक्त देते हैं, रक्त लेते नहीं।"

समुद्र पार के गोरी चमड़ी वाले, इस देश के जंगली असभ्य मूर्ख लोगों पर शासन करने के लिये ही आये हुए, व्यक्ति की कठोर अमानुषिक ज्वालाभरी आँखों से न जाने कितनी बूँदें निकल कर उस लूड़ी बिछाई हुई गन्दी भूमि पर पड़े हुए व्यक्ति के शरीर पर गिर पड़ीं। रक्तपात बन्द हो चुका था कभी का, पर वह गौरांग प्रभु वेश-धारी व्यक्ति चुपचाप बैठा हुआ था अशान्त अपनी कार की प्रतीक्षा करता हुआ उस व्यक्ति के पास जिसने शत्रु होते हुए भी उसके रक्त की रक्षा में अपना रक्त बहाया था।

उपसंहार

"हम रक्त देते हैं लेते नहीं, श्री।" अचेतनावस्था में पिछले अड़तालीस घण्टों से रह रह कर अक्षय यही कहता आ रहा था। इन अड़तालीस घण्टों में शक्ति, श्री और अन्य अनेक व्यक्तियों में से कोई भी हस्पताल के कमरे में पड़े अक्षय के पास से हटा न था।

रात को लगभग तीन बजे डाक्टर ने मि० स्मिथ से यह कह दिया था कि प्राण देकर भी यदि वह इस त्यागी युवक को बचा पाता तो धन्य हो जाता, किन्तु यह बच सकेगा नहीं। स्मिथ की गीली पलकों पर कई बून्द पानी फिर भी ढलक गया था। शक्ति शान्त थी, उदासीन, चुपचाप। श्री पागल हो रही थी शोक और वेदना से। शक्ति श्री को तो वहाँ रहने भी नहीं देना चाहती थी किन्तु उसने स्वयं ही शक्ति से कहा—"माँ, अब इन चरणों से और अलग न करो।" शक्ति चुपचाप दो-चार आँसू मात्र ही डाल पाई। श्री ने उसे सब कुछ कह दिया था। अक्षय के अचेतनावस्था में कहे हुए शब्द श्री की छाती में वज्र की तरह गड़ जाते थे। आँसू बहाने के के अतिरिक्त और उसके पास था ही क्या?

प्रातः पाँच बजे के लगभग अक्षय पूर्ण चेतनावस्था में था।

"माँ" स्वर बड़ा ही दुर्बल था।

"माँ, श्री······"

श्री अपराधिनी की तरह सम्मुख ही तो खड़ी थी।

"श्री, मैं तुम से कहता था कि हम रक्त देते हैं, लेते नहीं।" श्री रो उठी घने आँसुओं से, पर उसने मुँह छिपा लिया।

"माँ, बचपन में उपनिषदों की कथाएँ सुनाया करती थीं। एक बार फिर तो सुनाओ, माँ।"

शक्ति काँप रही थी। उसने पिछले अड़तालीस घण्टों से जल भी नहीं पिया था। फिर भी दुर्बल स्वर में आँसू आँखों ही आँखों में पीकर माँ गीता के कुछ एक श्लोक पढ़ने लगी।

फिर······हाहाकार के बीच अभागिनी श्री उस शव पर, उस वीर के—अहिंसक वीर के—रक्त देने वाले महान वीर के शव पर लोट गई। रुदन का स्वर तीव्र था, पर शक्ति ने बाँयें हाथ से धीरे से आँसू पोंछकर कहा—"श्री उठो बेटा, मुझे देखो, मैं इस वीर बालक की माँ हूँ। यह अकाल में ही मर गया। नहीं, नहीं अकाल कैसा वह तो मनुष्य था न। ब्रह्म की ज्योति ब्रह्म में ही समा गई। मुझे प्रणाम करो बहू, मैं तुम्हारी वीर माता हूँ, वीर-प्रसूता जननि हूँ, मेरा शवमात्र पड़ा यह पुत्र, मेरी यह सन्तान मनुष्य थी, मानव थी। तुम रोती हो, छिः, आज ही तो आनन्द-दिवस है, तुम वीर-पत्नी हो, इसके हाथों सिन्दूर-ग्रहण करो न बच्ची मेरी। आज रोने का दिन है क्या, मेरा विजयी पुत्र बहू लाया है विवाह करके। उसका विवाह मानव मात्र के लिये आनन्द का अवसर है, मेरी रानी।"

मिस्टर स्मिथ इस विचित्र रमणी, इस काली वृद्धा नारी के मुख की ओर आश्चर्य से अपनी गीली आँखों से देख रहा था।

वायु में भी ध्वनि गूँज रही थी।

"मैं इस वीर बालक की माँ हूँ......मैं वीर माता हूँ......आज रोने का दिन है क्या? यह मानव था—सच्चा मानव था।"

—:—०—:—